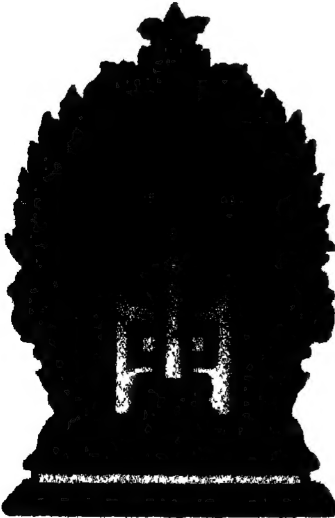
सर्वोदयी

नैतिक धर्म

सर्वोदयी नैतिक धर्म

लेखक

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर



प्रस्तुति

निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

I.S.B.N. No.: 81-87-8280-68

SARVODAYEE

NAITIK DHARM

Written By

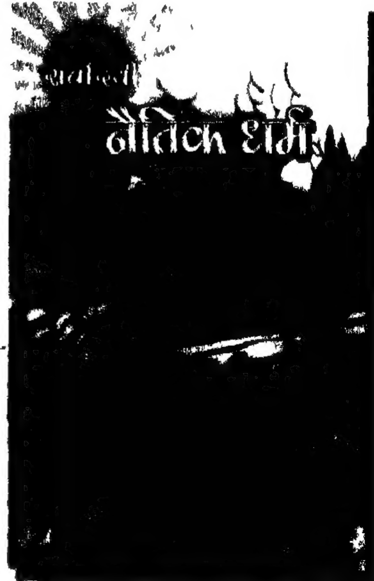
UPADHYAYA MUNI NIRNAYA SAGAR

Presented By

Nirgranth Granthmala

First Edition - 2002
I S B N No. 81-87-8280-68

Price Rs 60.00

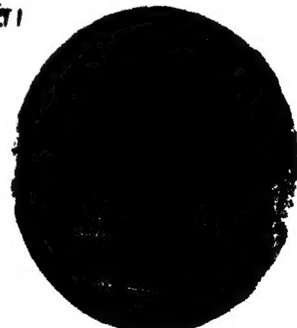




समर्पण

यह कृति
उन्हें समर्पित है
जिन्होंने अपने ज्ञान के प्रकाश
से जैन धर्म को विश्व के प्राणिमात्र के
कल्याण हेतु वर्तमान में दिग-दिगन्त तक
फैलाया है। संयम साधना से निजात्मानंद की
अनुभूति की है सत् श्रद्धा के बल से जिन्होंने
आत्मा-अनात्मा के भेद को जाना व माना है,
जो विश्व के प्राणी मात्र की श्रद्धा के केन्द्र हैं।
उनकी वात्सल्य व परोपकारमय वृत्ति
भ य जीवों को निजात्मा के कल्याण की प्रेरक है।
जिन्होंने मुझ छद्मस्थ में विशिष्ट ज्ञान के संस्कार
देकर श्रद्धा को दृढीभूत एवं चरित्र को निर्मल
बनाने की प्रेरणा दी है। जो मेरे लिए मोक्ष मार्ग
में बैसाखी के समान सम्बल/सहायक हुए हैं, जो
संकीर्णताओं की दीवारों को ढहा कर विश्व कल्याण का तुमुल
बजा रहे हैं, जो प्राणी मात्र के कल्याण हेतु विश्व धर्म, जैन धर्म या
मानव धर्म क संवाहक हैं, जिनकी वृत्ति आध्यात्मिकता की ओर
विशेष झुकी हुई है, जो निरन्तर ज्ञान-ध्यान-तप में
संलग्न रहते हैं, जो रत्नत्रय के प्रभोक्ता हैं,

उन महामना, युग पुरुष, विश्व प्रवर्तक, सिद्धान्त चक्रवर्ती
राष्ट्र संत दि० जैनाचार्य श्री 108 श्री विद्यानन्द जी महाराज के
पावन कर कमलों में - उन्हीं के 40 वें दीक्षा दिवस के अवसर
पर श्रद्धा व भक्ति सहित समर्पित।





राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानंद जी महाराज ने मुनि श्री 108 निर्णय सागर जी महाराज
को 17 फरवरी सन् 2002 को विश्वास नगर, दिल्ली में
श्री मज्जिनेन्द्र पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
के अवसर पर उपाध्याय पद के पावन संस्कारों से संस्कारित किया।



राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानंद जी महाराज के विराजमान उपाध्याय मुनि श्री 108 निर्णय सागर जी महारा



ऐलक श्री 105 चिन्मुक्त सागर जी महाराज



क्षुल्लक श्री 105 विशांक सागर जी महाराज





राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-110004,

President's Secretariat,
Rashtrapati Bhavan,
New Delhi-110004.

विशेष कार्य अधिकारी
OFFICER ON SPECIAL DUTY

सं.: 8 एम. एच/ 2001 **दिनांक: 08 जनवरी, 2002**

प्रिय श्री जैन जी,

भारत के राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन् जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि भगवान श्री महावीर स्वामी की 2600वीं जन्म जयन्ती के अवसर पर पूर्व दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत व उपाध्याय मुनि श्री निर्णय सागर जी द्वारा रचित एवं सम्पादित ग्रंथों का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है।

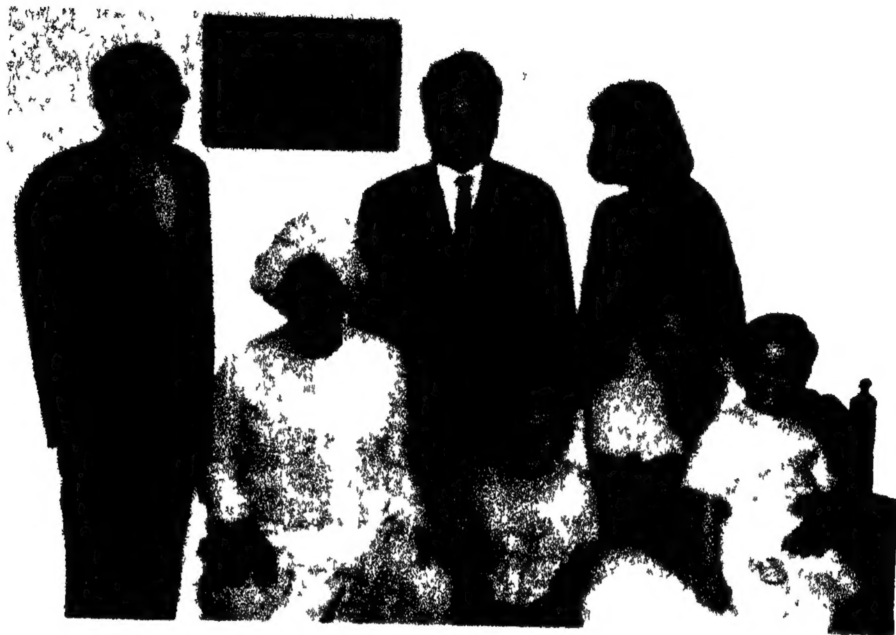
राष्ट्रपति जी इन प्रकाशनों की सफलता के लिये अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करते हैं।

सादर,

आपका,

प्रेम प्रकाश कौशिक

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन,
मंत्री,
श्री पार्श्वनाथ दिग. जैन मंदिर,
एन-10 ग्रीन पार्क एक्स.,
नई दिल्ली-110016



पुण्यार्जक श्रावक

स्व. श्री नरेशचंद्र जैन

श्रीमती पवन कुमारी जैन

श्री राजीव जैन

श्रीमती अंशु जैन

शुभम् जैन

शौर्या जैन

ई-2/7, कृष्णा नगर, दिल्ली-51

दूरभाष : 2093216, 4041293

—



विनयांजलि



भगवान महावीर स्वामी के 2600वें जन्म कल्याणक महोत्सव पर भारत सरकार द्वारा घोषित अहिंसा वर्ष में परम यशस्वी उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज द्वारा रचित "सर्वोदयी नैतिक धर्म" नामक यह ग्रन्थ महाराज श्री के सरल स्वभाव का आईना है। इतनी सरल भाषा में जीवन के प्रत्येक भाग को छू लेने वाला यह ग्रन्थ अवश्य ही मानव मात्र को कल्याण-कारक सिद्ध होगा।

"गुरु महिमा" का कथन कितनी सरल भाषा में कहा है कि यह जानकर हृदय समुद्र की भाँति कोलाहल कर उठा। वास्तव में यदि शिष्य में शिष्यत्व गुणविद्यमान हैं तो आज भी सच्चे गुरुओं का अभाव नही है। सच ही कहा है कि विषय, कषाय, आरम्भ, परिग्रह, मोह, माया एव सर्व सावद्य से रहित निर्ग्रन्थ संत ही सच्चे गुरु होते हैं जोकि सदैव सद्ज्ञान, शुभ ध्यान, सयम, साधना, गहन तप, धर्म प्रभावना एव जिनेन्द्र आराधना में लीन रहते हैं।

यह विश्वास है कि यह ग्रन्थ निश्चित ही एक दिन मुझमें गुरु के गुणों का समायोजन करने में कारक सिद्ध होगा यदि मेरे गुरु के आशीर्वाद से मुझमें सच्चे शिष्यत्व के गुणों की वृद्धि हो जाए।

राजीव जैन

ई-2/7 कृष्णा नगर

दिल्ली-51

राज नारायण पासी
संसद सदस्य (लोक सभा)

RAJ NARAIN PASSI
MEMBER OF PARLIAMENT (LOK SABHA)



1, ताल कटोरा लेन
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3792616

1 TAL KATORA LANE
NEW DELHI 110001
TEL 3792616

Ref No 417/11/6/1/2002

प्रिय राजीव जी,

सादर नमस्कार !

मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि भगवान महावीर स्वामी की 2600वीं जन्म जयन्ती के अवसर पर परम पूज्य युवा मनीषी, ज्ञान दिवाकर, आदर्शोत्तम संत उपाध्याय मुनि श्री 108 निर्णय सागर जी महाराज की प्रेरणा से 26 महान धर्म ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। जो शास्त्र हमारे देश के प्राणी मात्र को परोपकार, परहित, समाज कल्याण, मानव सेवा, अहिंसा, दया, सरलता, सहजता, सत्यता, ईमानदारी, कर्त्तव्यशीलता आदि सत्कार्यों की प्रेरणा देने में प्रबल निमित्त रहेंगे। शास्त्र प्रकाशन की इसी श्रृंखला में परम पूज्य उपाध्याय श्री द्वारा रचित "सर्वोदयी नैतिक धर्म" नामक कृति का भी प्रकाशन किया जा रहा है, यह एक उत्तम कार्य है।

इस कृति का अवलोकन करने पर अत्यत आनन्द की अनुभूति हुई, इस कृति में कृतिकार ने उत्तम क्षमादि दस धर्म, सोलह कारण भावना, बारह भावना, पाँच महाव्रत, परोपकार, ईमानदारी, श्रृद्धा, भक्ति, कृतज्ञता, संघर्ष, न्याय, नीति, प्रेम, वात्सल्य, भाईचारा, मित्रता एव कर्तव्यशीलता आदि 126 विषयों पर विराट् एव प्रकृष्ट चिन्तन को लिखा है। इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना वर्तमान काल में न के बराबर हो रही है। यह एक अनुपम कृति है। यह कृति भारत देश के ही नहीं अपितु विश्व के भी अगणित व्यक्तियों को अहिंसादि धर्म व कर्त्तव्यशीलता के प्रति प्रेरित करेगी, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है। मैं उन परम पूज्य आदर्शोत्तम संत, महामनीषी, परम हितैशी उपाध्याय मुनि श्री 108 निर्णय सागर जी महाराज के चरणों में सष्टाग प्रणाम करता हुआ उनके सुदीर्घ जीवन की भगवान से प्रार्थना करता हूँ।

"सर्वोदयी नैतिक धर्म" नामक यह कृति जन-जन का कल्याण करें, तथा महाराज जी इसी प्रकार के शास्त्र रचते रहें ऐसी भावना भाता हूँ। भगवान महावीर स्वामी के 2600वें जन्म कल्याणक के पावन अवसर पर मैं अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।



राजनारायण पासी

रमाकान्त गोस्वामी
मुख्यमंत्री के संसदीय सचिव
कमरा नं 89, पुराना सचिवालय
दिल्ली–110054



Ramakant Goswami
Parliamentary Secretary to
Chief Minister
Room No 89, Old Secretariat,
Delhi-110054

Ref No R K G R /87/1/2002 Date : 28/1/2002

शुभ संदेश

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन (मंत्री)
श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर
नई दिल्ली–110016

माननीय श्री जैन जी,

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई है कि परम पूज्य महामनीषी युगपुरुष आचार्य तुल्य उपाध्याय मुनिराज श्री निर्णय सागर जी महाराज द्वारा "सर्वोदयी नैतिक धर्म" नामक एक लोकोपयोगी ग्रन्थ की रचना की गई है।

मेरा मानना है कि यह ग्रन्थ मानव मात्र के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य, शिष्टाचार, सदाचार, परोपकार, अहिंसा, अचौर्य, संतोष, सयम, तप, त्याग, सरलता, सहजता, मित्रता, वात्सल्य, सहनशीलता, कृतज्ञता, समता, ज्ञान, ध्यान, विनयाचार एव मानव सेवादि धर्म की प्रेरणा देने वाला अनुपम उपयोगी एव लाभकारी ग्रन्थ सिद्ध होगा।

भगवान महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक महोत्सव पर भारत सरकार द्वारा अहिंसा वर्ष की घोषणा के समय प्रकाशित होने वाला यह ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से सृजनात्मक सिद्ध होगा।

मैं इस शुभ कार्य के लिये उपाध्यायश्री एव समस्त जैन समाज को अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

आदर सहित।

आपका

(रमाकान्त गोस्वामी)



अखिल भारतीय सनातन धर्म प्रतिनिधि सम्मेलन (पंजी०)

संस्थापक : डॉ० गोस्वामी गिरिधारी लाल

25/30, पूर्वी पटेल नगर, नई दिल्ली–110008 (भारत)

महासचिव
रमाकान्त गोस्वामी

5720202
5740101

अ/भ/सनातन/धर्म/स/72/1/2002 दिनाक 28/1/2002

माननीय श्री जैन जी,

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई है कि परम पूज्य महामनीषी युगपुरुष आचार्य तुल्य उपाध्याय मुनिराज श्री निर्णय सागर जी महाराज द्वारा "सर्वोदयी नैतिक धर्म" नामक एक लोकोपयोगी ग्रन्थ की रचना की गई है। यह ग्रन्थ मानवमात्र के लिये उपयोगी एव लाभकारी सिद्ध होगा।

मेरा मानना है कि यह ग्रन्थ मानव मात्र के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य, शिष्टाचार, सदाचार, परोपकार, अहिंसा, अचौर्य, सतोष, सयम, तप, त्याग, सरलता, सहजता, मित्रता, वात्सल्य, सहनशीलता, कृतज्ञता, समता, ज्ञान, ध्यान, विनयाचार एवं मानव सेवादि धर्म की प्रेरणा देने वाला अनुपम ग्रन्थराज है।

भगवान महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक महोत्सव पर भारत सरकार द्वारा अहिंसा वर्ष की घोषणा के समय प्रकाशित होने वाला यह ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से सृजनात्मक सिद्ध होगा।

मैं अपनी तथा अखिल भारतीय सनातन धर्म प्रतिनिधि सम्मेलन की ओर से इस शुभ कार्य हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

आदर सहित।

आपका

(रमाकान्त गोस्वामी)

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन (मंत्री)
श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर
नई दिल्ली–110016

Dr. Sanjay Madriya
1809, Ashwood Drive
Polla-Mo 65401
United States of Amenca (U S.A)

विश्व के समस्त देशों में भारत ही एक ऐसा पवित्रतम देश है, जहाँ विभिन्न धर्मों को मानने वाले धर्मात्मा, त्यागी, व्रती, सयमी, संत, महात्मा, श्रमण, सन्यासी एव फकीर निवास करते हैं। ये सत पुरुष भारतीय जनों को ही नहीं अपितु विश्व के प्रत्येक प्राणी मात्र को धर्म का दिव्य संदेश देकर सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं। विश्व का सबसे प्राचीन धर्म जैन धर्म है, इसे अनादि-निधन भी कहा जाता है। इस धर्म में तीर्थंकरादि महापुरुष जिनधर्म का प्रवर्तन करते हैं। भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हुए तथा भविष्य काल में भी अनंत तीर्थंकरादि महापुरुष होंगे। वर्तमान काल (चतुर्थकाल) में भी भगवान ऋषभदेव आदि वर्धमान महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर हुए। उन्होंने ससार के प्राणियों को आध्यात्मिक विद्या व आत्म कल्याण का संदेश दिया।

वीतरागी, सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर देवताओं द्वारा उपदिष्ट धर्मोपदेश जिन्हें ऋषि-मुनियों ने लिपिबद्ध किया, वह न्याय, प्रमाण, युक्ति, तर्क व आगम से अविरोधी हैं। उन ऋषियों, मुनियों, संत महात्माओं व दिगम्बर अनगारों, अर्हंत मतानुयायी श्रमणों, भदन्तों व अर्हंतों को मैं प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने आत्म कल्याण व विश्व शांति का दिव्य सदेश हमें सुनाया।

वर्तमान काल में भगवान महावीर स्वामी का2600वाँ जन्म जयन्ती समारोह अहिंसा वर्ष के रूप में सम्पूर्ण विश्व में मनाया जा रहा है। श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन (महामत्री) ग्रीन पार्क, दिल्ली द्वारा ज्ञात हुआ कि भगवान महावीर स्वामी की निर्मल श्रमण परम्परा में उदीयमान नक्षत्र, राष्ट्रसत दिगम्बर जैनाचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज साहब के प्रिय शिष्य, ज्ञान भास्कर, युवामनीषी, आदर्श दिगम्बर संत उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज ने भगवान महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से परिपूरित 26 ग्रन्थों के प्रकाशन का सकल्प लिया है, उनकी लेखनी से प्रसूत/सम्पादित साहित्य जन-जन का कल्याण करे ऐसी मेरी भावना है एवं मैं उनके इस सकल्प की, संयम-साधना की, व लेखन-प्रवचन रूपी परोपकार की स्तुति करता हूँ। उनके द्वारा रचित "सर्वोदयी नैतिक धर्म" नामक कृति जन-जन के कल्याण, आत्म हित व विश्व शांति में सहायक बने।

ऐसे में मैं भगवान से प्रार्थना करता हुआ उपाध्याय श्री के पावन चरणों में अपने अन्तस् की समग्र श्रृद्धा, भक्ति के साथ अनन्तश. प्रणाम निवेदित करता हूँ।

आप श्री के चरणों में समर्पित
डॉ0 संजय मादरिया
अमेरिका

दो शब्द ....

ग्रन्थ की शैली दक्षिण भारत में बहुप्रचलित संत श्री एलाचार्य तिरुवल्लुवर द्वारा रचित तिरुक्कुरल (कुरल काव्य) के समान प्रतीत होती है। सद्गृहस्थ के लक्षण, उनके कर्त्तव्यों का बोध, आदर्श पुत्र के लक्षण/आदर्श स्त्री के आचरण सम्बन्धी निर्देश इस ग्रन्थ को पंथ, सम्प्रदाय आम्नाय, वर्ण, वर्ग, संस्था एवं परम्पराओं की संकीर्णताओं से दूर ले जाता है। हरेक मनुष्य इसे पढ़कर आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने के लिये निर्देशित होता है। धार्मिक दृष्टि से साधक के लक्षण, दश लाक्षणिक धर्मों का विवरण, सोलह कारण भावनाओं की सुन्दर प्रस्तुति, उनके पालन करने के फल साधक को धर्म मार्ग पर बढ़ने के लिये प्रेरणा देता है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ की निर्दोषता, आगमानुकूलता इस बात का संकेत देती है कि मुनि श्री स्वयं निर्दोषपूर्ण आचरण कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ के लेखक उपाध्याय श्री ने जो श्रम किया है। वह विद्वानों के लिये प्रवचनों के लिये दिशा बोध देगा। उत्तम क्षमादि धर्मों का विवरण, सोलह कारण भावनाओं का विवरण, सम्यक्दर्शन के अगों का वर्णन, उनके दोष, बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन, अणुव्रत, महाव्रतों की सुन्दर प्रस्तुति, आत्मोत्थान के सुन्दर सोपान के रूप में प्रकट होती है। अत्याचार, अनीति जैसे विषयों पर पूज्य श्री की लेखनी चली है। आशा है जन मानस इनसे प्रेरणा लेकर अपने जीवन में अन्याय, अत्याचार, वर्गभेद को तिलांजलि देकर अपने जीवन में सदाचार के मार्ग पर चलकर आदर्श प्रस्तुत करेगा।

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर पर्यंत वाले निर्दोष धर्म की परम्परा को मानने वाले मुनिराज, विद्वान इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे।

–डॉ. डी सी जैन
अध्यक्ष
न्यूरोलॉजी विभाग
सफदरगंज अस्पताल
उप प्रधानाचार्य
वर्द्धमान महावीर मेडिकल कॉलेज
नई दिल्ली–110054

हमारी भावना

वर्तमान मानव जीवन में नैतिकता का अभाव एवं भौतिकता का प्रभाव होता जा रहा है, साथ ही धर्म का अर्थ स्वार्थ में बदल गया है जीवन में नैतिक धर्म के पुर्नजागरण के लिये जिनवाणी के जीवन्त सूत्रों की आवश्यकता है।

चूँकि किसी बात को यदि सीधा न कहकर सूत्र रूप में सक्षेप में कहें तो वह अधिक प्रभावकारी होती है। अत जन-जन के कल्याण और प्राणि मात्र के सर्वोदयी उत्थान के लिये रचित यह सूत्र शैली का ग्रंथ पूज्यश्री के अनुभव रूपी सरोवर एवं जिनविद्या रूपी महासागर की गहराइयों को प्रकाशित करता है।

परम पूज्य उपाध्याय मुनि श्री निर्णय सागर जी महाराज की लेखनी से निसृत् "**सर्वोदयी नैतिक धर्म**" नामक ग्रंथ हमारे एवं आपके जीवन का सर्वोदयी विकास करे यही हमारी भावना है।

-अनिल कुमार जैन
चन्द्रा कॉपी हाउस
आगरा

पुरोवाक्

'ज्ञान तृतीय पुरुषस्य नेत्र' अर्थात् ज्ञान पुरुष का तीसरा नेत्र है। उसकी सहायता से कोई भी प्रज्ञावान तत्वार्थों को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। पूज्य श्री 108 उपाध्याय मुनि निर्णय सागर जी महाराज भी एक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी सन्त हैं। उनका अधिकांश समय अध्ययन-मनन और स्वाध्याय में व्यतीत होता है। पठन-पाठन उनकी एक अपरिहार्य हॉबी है। श्रुताभ्यास से संस्कारित मन रागादि दोषों से मुक्त रहकर व्यक्ति को मोक्षमार्गी बनाता है। कहा भी गया है—

'भव्या नरा ज्ञान-रथाधिरुढ़ा, व्रजन्ति शीघ्र शिवपत्तनं च'।

पूज्य मुनि श्री द्वारा प्रस्तुत यह पुस्तक सूत्र-शैली में लिखी गई है। इसमें धर्म के दस लक्षणों, सम्यग्दर्शन के आठ अगों, तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव में कारणभूत षोड्शकारण भावनाओं, वैराग्य और संवेग की उत्पत्ति में बीजरूप बारह भावनाओं आदि के महत्व पर तो प्रकाश डाला ही गया है, साथ ही साथ आत्मतेज को जागृत करने वाले मानवीय गुणों, जैसे-प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, भाव-विशुद्धि, विनय, सदाचार, सहनशीलता, धैर्य, सद्विचार, प्रेम वैराग्य, समता आदि के विकास का मार्ग भी प्रशस्त किया गया है। पच पाप, इच्छा, अत्याचार, अनीति, निन्दा आदि के भाव जीव को पतन की ओर ले जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर इनसे बचने की प्रेरणा भी मिलती हैं। बादलों के विलीन होने पर जिस प्रकार सूर्य का प्रताप प्रकट होता है, उसी प्रकार बुराईयों और बाधक कारणों के दूर होते ही आत्मतेज भी प्रकट होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जिस प्रकार थोड़ा पढ़ा-लिखा भी कोई व्यक्ति चिट्ठी तो लिख सकता है, किन्तु तार (टेलीग्राम) की भाषा वह नहीं लिख पाता। उसी प्रकार विज्ञ पुरुषों के लिये आलेख लिखना तो आसान है, किन्तु सूत्र लिखना कठिन है। नपे-तुले शब्दों के माध्यम से सक्षेप में अपनी बात कह पाना किसी सुधी साधक के लिये ही सम्भव हो पाता है। इसके लिये अध्ययन से अधिक अनुभव की आवश्यकता होती है। मस्तिष्क से निकली बात उतनी असरदार नहीं होती, जितना असर हृदय से निकली बात में होता है। प्रस्तुत कृति अनुभूतियों का एक पिटारा ही है। छोटे-छोटे वाक्यों में बड़े पते की बातें कह दी गई हैं। यदि एक-एक वाक्य की व्याख्या की जाए तो एक आलेख तैयार हो सकता है, इतना गूढ़ रहस्य उनमें भरा हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

- ❖ लिखना बहुत सरल है, किन्तु लखना बहुत कठिन। यदि लखकर लिखें तो लिखना सार्थक है।
- ❖ हे आत्मन्! लिखना भी बहुत लाभदायक है, यदि वह दूसरे के लखने में कारण बन सके तो।
- ❖ सत्ता को नहीं, समता को पाने के लिये तथा वित्त को पाने नहीं, चित्त को शुद्ध बनाने के लिये तपना ही धर्म है।

- बिना पुजारी बने आज तक कोई पूजक नहीं बना।
- मृत्यु का बोध हो जाना ही आत्मबोध है।
- निन्दा एक घातक और मीठा जहर है। इसको पीते समय बड़ा आनन्द आता है, किन्तु बाद में बड़ा दुःखदायी है।
- दिगम्बर सन्त की मुद्रा ही प्रवचन है।
- गिरना शब्द स्वतः ही भव्य जीवों को कह रहा है गिर-ना अर्थात् गिरो मत। जो गिर जाता है, फिर उसका उठना कठिन हो जाता है।

किसी नीतिकार ने लिखा है—

'प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति मानवा
तस्मात् तदेव वक्तव्य वचने का दरिद्रता'

अर्थात् प्रिय वचन बोलने से सभी मनुष्य प्रसन्न होते हैं, इसलिए हमेशा प्रिय वचन ही बोलना चाहिए। प्रिय बोलने में कृपणता करना ठीक नहीं है। यह कृति भी प्रिय वचनों का एक श्रेष्ठ सकलन है। ये वचन एक साधक सन्त के दिल की गहराइयों से निकले हैं तथा मनमोहक सूक्ति या सुभाषित की भाँति हैं। पढते समय मन झूम उठता है। आशा है समाज में इस कृति का व्यापक स्वागत होगा।

उपाध्याय श्री के पुनीत चरणों में त्रिबार नमोस्तु तथा आयोजक और प्रकाशक को भूरिश बधाईयाँ।

नरेन्द्र प्रकाश जैन

(नरेन्द्र प्रकाश जैन)

(अध्यक्ष श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद)

104 नई बस्ती,
फिरोजाबाद
अगस्त 5, 2002

आद्य-वक्तव्य

बुद्धेः फलं तत्व विचारणं च, देहस्य सार व्रतधारणं च।
अर्थस्य सार किल पात्रदान, वाचः फल प्रीतिकरं नृणा च ॥आ कुलभद्र ॥

बुद्धि का फल तत्व की विचारणा है, मानव शरीर को प्राप्त करने का सार व्रतों को धारण करना है, धन प्राप्त करने का सार/सार्थकता सत्पात्रों को दान देना है तथा वाणी की सार्थकता मनुष्य में प्रीतिकारक व हितकारी वचन बोलने में है।

सम्यक्ज्ञान आत्मा का एक ऐसा गुण है, जिस के माध्यम से चेतना के समग्र गुणों को प्राप्त किया जा सकता है, ज्ञान के माध्यम से ही निज-पर का भेद विज्ञान होता है, तथा अपने स्वभाव, स्वरूप व वैभव की प्राप्ति होती है। ज्ञान को प्रकाश की उपमा दी गई है, ज्ञान चेतना का दीपक है, ज्ञान से समग्र चेतना प्रकाशित हो जाती है। जिस प्रकार बिना प्रकाश/दीपकादि के ससार के मार्ग पर गमनशील प्राणी भी पथ भ्रष्ट हो जाता है, वह गर्त में पतित भी हो सकता है, काँटे, काँच, कंकड़, झाड़-झखड़ रूपी विपत्ति में भी फँस जाता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी दीपक के अभाव में भी प्राणी अनन्त भवों से/दु खों से सत्रस्त होकर संसार रूपी सागर में पतित हो जाता है। जिस प्रकार लौकिक प्रकाश के बिना प्राणी अपने हितैशी स्वजनों/परिजनों का मुखावलोकन भी नहीं कर सकता और न हीं प्राकृतिक सौंदर्य का दृष्टा बन सकता है। उसी प्रकार पारमार्थिक प्रकाश/सम्यग्ज्ञान रूपी अतर्चक्षुओं के बिना प्राणी कभी आत्मावलोकन नहीं कर सकता। अत सम्यग्ज्ञान ही चेतना की अनुपम निधि है, सर्वस्व प्राप्ति का साधन है, मोक्षमार्ग या आत्म कल्याण का समर्थ कारण है, वैराग्य व सयम का जनक है, कर्म रूपी जजीरों को तोड़ने के लिये धन/हथौड़े के समान है।

सम्यग्ज्ञान से सम्यक्त्व में दृढता एव चारित्र में निर्मलता आती है, सम्यग्ज्ञान ही सुख का अन्वेषक है। ज्ञानमत ही आत्मा का सर्वश्रेष्ठ भोजन है। सम्यग्ज्ञान ही हित प्राप्ति व अहित के परिहार में समर्थ है। **"सर्वोदयी नैतिक धर्म"** नामक कृति में अपने जीवन को जीवन्त बनाने वाले कुछ सूत्र दिये हैं। ये सूत्र किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय, पंथ, आम्नाय या धर्म विशेष के लिये नहीं है, अपितु ये प्राणी मात्र का कल्याण करने वाले हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राणी मात्र का कल्याणक/उद्धारक होता है। जिनागम/जिन शास्त्रों का स्वाध्याय करके एवं अनुभव की कसौटी पर कसकर/परख कर निजात्म कल्याण/स्व-पर कल्याण की भावना से ज्ञानामृत के कुछ बिन्दुओं का सृजन/सकलन किया है, जो आपके हाथों में प्रस्तुत है।

श्रुतविद्या/शास्त्रज्ञान महासागर के समान अगाध व निस्सीम है, मेरी अल्पबुद्धि रूपी पनडुब्बी के द्वारा उसका पार पाना असभव है, उसे तैरकर पार होने का दुस्साहस करना तो विवेकी पुरुषों की सभा में हँसी का पात्र बनना है। इस हास्य की परवाह न करते

हुए स्व–पर कल्याण की प्रबल भावना के वशीभूत हो आगम/शास्त्र रूपी समुद्र में से दो बूँद श्रुतामृत को अपने भावों में अभिसिक्त करके शब्दों की पोषाक पहनाई है। इस कार्य से मुझे तो असीमानद अनुभूति हुई ही है यदि कदाचित् इन श्रुतामृत की दो बूदों से आपकी चिर पिपासा दो क्षण के लिये भी शांत हो या आपको पल भर भी आनंदानुभूति हो तो मुझे और अधिक आनन्द की अनुभूति होगी। अथवा इस श्रुत ज्ञान/अक्षर पुंज के टिम–टिमाते दीपक से आपका मोह/अज्ञान का तिमिर क्षण भर के लिये भी विलय को प्राप्त हो जाये तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक समझूँगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी ऐलक श्री विमुक्त सागर जी, क्षुल्लक श्री विशंक सागर जी महाराज को समाधिरस्तु आशीर्वाद, प्रकाशक–निर्ग्रन्थ ग्रथमाला, मुद्रक–अनिल कुमार जैन चन्द्रा कॉपी हाउस, आगरा अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करने वाले श्री राजीव जैन कृष्णा नगर, दिल्ली एव प्रत्यक्ष व परोक्ष में सहयोगी समस्त साधर्मी महानुभावों को धर्म वृद्धि आशीर्वाद।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में मुझ अल्पज्ञ श्रमण द्वारा जो त्रुटि रह गईं हों तो निश्चय रत्नत्रयधारी, सकल संयमी विज्ञ श्रमण व तपस्वी जिन, माँ जिनवाणी एव अर्हंतादि परमात्मा मुझ छद्मस्थ को क्षमा करें, तथा स्वाध्याय करने वाले सुधी पाठक गण प्रस्तुत ग्रथ को (जिसमें मेरा अपना कुछ नहीं है परम्परावर्ती आचार्यो का दिव्य उपदेश है।) विनय पूर्वक हसवत् गुण ग्राही दृष्टि बनाकर आद्योपांत स्वाध्याय करें। इस ग्रथ में जितनी भी अच्छाईयाँ हैं वे सभी पूर्ववर्ती निर्दोष, निर्मल सयमी, आचार्य भगवतों एव साधु महापुरुषों का ही परम प्रसाद है। तथा इसमें जितनी भी त्रुटियाँ/गल्तियाँ हैं वे सभी मेरी अल्पज्ञता व छद्मस्थता की प्रतीक हैं, अत प्रबुद्ध वर्ग/ साधर्मी बन्धु क्षमा करें।

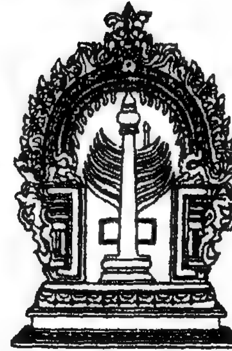
"अलमति विस्तरेण"

श्री शुभमिती फाल्गुन सुदी–15
वीर निर्वाण संवत्–2528,
(2600वीं महावीर जन्म जयन्ती अवसर)
अतिशय क्षेत्र तिजारा (अलवर)
राजस्थान

जिनचरणानुचर सयमानुरक्त,
कश्चिदल्पज्ञ श्रमण
अतिशय क्षेत्र तिजारा(अलवर)
राजस्थान–28/3/2002

उपाध्याय मुनि श्री निर्णय सागर द्वारा रचित एवं सम्पादित ग्रंथावली

- सुकुमाल चरित्र
- चारुदत्त चरित्र
- गौतम स्वामी चरित्र
- महीपाल चरित्र
- जैन व्रत कथा संग्रह
- धन्य कुमार चरित्र
- सुलोचना चरित्र
- सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
- जिनदत्त चरित्र
- कुरल-काव्य
- पुराण सार सग्रह -1,2
- चेलना चरित्र
- रयणसार
- आहार दान
- जिन श्रमण भारती
- धर्म संस्कार -1
- सदार्चन सुमन
- तनाव से मुक्ति
- धम्म रसायण
- आराधना कथाकोश-1,2,3
- तत्वार्थ सार
- योगामृत-1,2
- सार समुच्चय
- महापुराण-1,2
- चित्रसेन पद्मावती चरित्र
- श्री राम चरित्र-1,2
- अमरसेण चरिउ
- नागकुमार चरित्र
- सर्वोदयी नैतिक धर्म
- पुण्यास्रव कथाकोष भाग-1,2
- करकडु चरित्र
- धर्मामृत-1,2
- वीर वर्धमान चरित्र-1,2
- योगसार प्राभृत-1,2
- शातिनाथ पुराण-1,2
- जम्बूस्वामी चरित्र
- भव्य प्रमोद
- यशोधर चरित्र


निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

यदि यह शास्त्र आपको अच्छा लगे तो आप सभी को पढायें। उत्सव, व्रत, त्यौहार, जन्म दिवस, पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य मे बॉंटने एव छापने योग्य समझे तो लागत मूल्य पर छपवाइये। ट्रस्ट -न्यास- फाउडेशन आदि द्वारा छपवाना चाहते हो तो उनके नाम, चित्र, परिचय सहित छपवा सकते हैं।

प्रकाशक

सर्वोदयी

नैतिक धर्म

लेखक

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

कहाँ-क्या

(कृति दर्शन एक नजर में..........)



(1) परमेष्ठी नमस्कार

★ द्रव्य कर्म, भाव कर्म व नो कर्मों से रहित, लोकाग्र में स्थित, नित्य, निरंजन, अनन्त गुणों के पिण्ड स्वरूप समस्त सिद्ध परमेष्ठियों को मैं सिर झुका कर प्रणाम करता हूँ।

★ जिन्होंने संसार रूपी वृक्ष के कारण भूत बीज रूपी कर्मों को जला दिया है, एवं अपनी अनंत शक्तियों को प्रकट कर लिया है, उन सिद्ध परमेष्ठियों के चरणों में मेरा अनन्तशः नमस्कार हो।

★ जिन्होंने अपने स्वकीय, स्वभावमय, समस्त निजी वैभव को पूर्ण रूपेण प्राप्त कर लिया है, जो समस्त विभाव भावों से रहित हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी मेरे हृदय कमल में निवास करें।

★ जो मोहनीय कर्म रूपी महा सुभट को जीतकर, संसार सागर के पार निवास करने वाली मुक्ति रूपी अनंग/सुन्दरी से विवाह रचाने हेतु संकल्पित हैं, वे जिनेन्द्र भगवान सदा जयवंत रहें।

★ जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय कर्म से रहित एवं अनंत चतुष्टय से युक्त हैं, वे अर्हंत भगवान सदैव हमारे मन मंदिर में निवास करें।

★ जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी हैं, जिन्होंने चार घातिया कर्मो को नष्ट कर दिया है, अंतरंग व बहिरंग लक्ष्मी से सहित हैं, उन समस्त तीर्थंकर अर्हंत परमेष्ठियों को मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक, समग्र श्रद्धा, भक्ति व समर्पण के साथ मैं सदैव नमस्कार करता हूँ।

★ जिनके निर्मल ज्ञान में लोकालोक में व्याप्त समस्त चराचर पदार्थ युगपत् दर्पण के समान प्रतिबिम्बित होते (झलकते) हैं, संसार के सर्वमंगलों में जो आदि मंगल हैं, उन वीतरागी, सर्वज्ञ, परमात्मा को मैं त्रियोग से प्रणाम करता हूँ।

★ जो पंचाचार का पालन करने में एवं अपने शिष्य श्रमण समुदाय से पालन कराने में संलग्न हैं, योग्य शिष्यों के संग्रह एवं अयोग्य शिष्यों के निग्रह करने में कुशल हैं, उन आचार्य परमेष्ठियों को मैं त्रियोग से प्रणाम करता हूँ।

★ जो बारह प्रकार के तपों से युक्त हैं, धर्म, ध्यान व शुक्ल ध्यान में संलग्न, उत्तम ब्रह्मचर्य आदि सभी व्रतों का निरतिचार पालन करते हैं, उन आचार्य परमेष्ठियों के पवित्र युगल चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ।

★ जो मुनि उत्तम क्षमादि दस धर्मों से मण्डित हैं, संघ के नायक हैं, शिष्यों को दीक्षा एवं प्रायश्चित देकर स्वपर के चित्त की शुद्धि करते हैं, जो करण एवं चरण में सब मुनियों में श्रेष्ठ हैं, जो अलौकिकी वृत्ति के धारक आचार्य परमेष्ठी हमारे आचरण को निर्मल बनाने में कारण हैं, उन्हें मैं सदैव नमस्कार करता हूँ।

★ जो भव्य जीवो को सन्मार्ग के दर्शायक हैं, यतियों के शिरोमणि हैं, ख्याति, पूजा, लाभ, पद-प्रतिष्ठा व नाम की चाह से कोसों दूर हैं, वे श्रमण शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी हमारी रक्षा करें।

★ जो स्वयं अनुशासन का पालन करते हुए अन्य मुनियों को भी अनुशासित करते हैं, सर्वोत्कृष्ट चर्या के धारक, शिथिलाचार के विरोधी अनियत विहारी, दीर्घकाल तक एक स्थान पर निवास न करने वाले यतिवर आचार्य देव हमारे आचरण की शुद्धि में कारण बनें।

★ ज्ञान के अथाह समुद्र में अवगाहन करने वाले, भेदाभेद रत्नत्रय से युक्त, निस्पृहता की मूर्ति, ज्ञानामृत की वर्षा से भव्य जीवों के भवाताप को शांत करने वाले पूण्य उपाध्याय परमेष्ठी को मैं सदैव विनम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूँ।

★ जो मुनि स्वयं पढ़ते है एवं मुनि समुदाय को सद्ज्ञान की शिक्षा देने में तत्पर हैं, वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी उपाध्याय परमेष्ठी संसार में व्याप्त अज्ञान तिमिर को नष्ट करते हुए मेरे हृदय में भी ज्ञान का प्रसार करें।

★ जो विषय-कषाय, आरम्भ, परिग्रह से रहित हैं, ज्ञान, ध्यान, तप में सदैव लीन रहते हैं, जो प्रायः शुभोपयोग व शुद्धोपयोग में लीन रहते हैं, उन साधु परमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ।

★ जिनकी सांसारिक इच्छायें मर चुकी हैं, जो शिव प्राप्ति की मंगल भावना व साधना में सदैव युक्त रहते हैं, वे निर्ग्रंथ तपोवन मेरे नयन पथगामी बनें।

★ जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तियों से युक्त धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में सदैव निमग्न रहते हैं, वे साधु परमेष्ठी मुझे भवोदधि पार करने में हेतु बनें।

★ जो आत्मा के समीचीन गुणों के पोषण करने में संलग्न हैं, जिन्होंने पाँचों इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में कर लिया है, आँखों को बन्द करके हाथ पर हाथ एवं पैर पर पैर रखकर मोक्ष मार्ग में दौड़ते हैं, वे साधु परमेष्ठी मुझे भी मोक्ष मार्ग में गतिशील करते रहें।

★ जो निर्ग्रंथ होकर भी भव्य जीवों को सद्ग्रंथ देने वाले हैं, भव्यों के चित्त (मनों की) की चोरी करने वाले चित्त चोर हैं, मुक्ति वधू के अनुरागी हैं, वे साधु परमेष्ठी मेरी सर्वग्रंथियों के विनाश में सहायक बनें।

★ जिनका जीवन श्वासोच्छवास के समान स्वपर के हित में व्यतीत हो रहा है, जो प्राणी मात्र के अकारण बन्धु हैं, जिनकी साधना निःस्वार्थ है, वे साधु परमेष्ठी मेरी साधना वृद्धि में हेतु बनते हुए भव वर्द्धक कारणों से मेरी रक्षा करें।

★ जो प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है, अहिंसा से परिपूरित है, समस्त कर्मों का विनाशक है, सच्चे देव द्वारा प्रतिपादित है, वीतरागता का पोषक एवं निज स्वभाव की प्राप्ति में संप्रेरक है, वह जिन धर्म सदैव मेरी रक्षा करे। मैं सदैव उसकी शरण में जाता हूँ।

★ सच्चे देव द्वारा उपदिष्ट, गणधर परमेष्ठियों द्वारा संग्रहीत एवं मुनियों द्वारा रचित जिनागम को मैं अपने हृदय कमल में विराजमान करता हूँ।

★ तीन लोक में जितने पंचपरमेष्ठी सम्बन्धी कृत्रिम व अकृत्रिम चैत्य व चैत्यालय हैं, मैं उन सभी को त्रियोग की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।



(2) लेखनोद्देश्य

★ हे आत्मन् ! लिखना बहुत सरल है किन्तु लखना बहुत कठिन। यदि लख करके लिखे तो लिखना सार्थक है, बिना लखे लिखना मात्र शारीरिक श्रम ही है।

★ संसार में लखने वालों की संख्या बहुत कम है किन्तु लिखने वाले लखने वालों से कई गुने अधिक हैं।

★ संसार में लिखने वाले सभी अपनी आत्मा को लख नहीं पाते, कुछ ही लख पाते हैं, तथा स्व की आत्मा को लखने वाले भी कुछेक ही लिखते हैं, सभी नहीं।

★ लखने वाले भले कलम से न लिखें, किन्तु उनके कदम अमिट अंकित हो जाते हैं, जिन्हे लख कर अनेकों भव्य अपनी आत्मा को लख लेते हैं।

★ हे आत्मन् ! आत्मा को लिखना और लखना इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, हालांकि लखने और लिखने में मात्र ह्रस्व इ की मात्रा का अन्तर दिखता है किन्तु अर्थ में जमीन आसमान का अन्तर है।

★ हे आत्मन् ! यदि तू लखना और लिखना इन शब्दों को अच्छी तरह देखेगा तो स्वतः ही ज्ञात हो जायेगा कि पहले क्या करना चाहिए ?

★ हे आत्मन् ! वर्णमाला के अनुसार पहले 'लखना' इस शब्द का जन्म हुआ है बाद में लिखना। किन्तु अज्ञानी प्राणी पहले लिखना चाहता है बाद में लखना।

★ हे आत्मन् ! तू अपने नर भव की सफलता चाहता है तो पहले अपने वैभव को लख। अन्यथा तू भी अनन्त संसारी प्राणियों की तरह मूर्ख कहलायेगा, यदि आत्म तत्त्व को न लख कर मात्र कलम से लिखेगा तो।

★ हे आत्मन् ! लिखना भी बहुत लाभदायक है, यदि वह दूसरे के लखने में कारण बन सके तो।

★ लिखते समय स्वयं के परिणाम भी शुभ रहते हैं तथा वे शुभ वाक्य दूसरों के परिणाम को भी प्रशस्त बनाने में निमित्त बन जाते हैं।

★ हे आत्मन् ! ख्याति, पूजा, लाभ, पद, प्रतिष्ठा अथवा अपने नाम की प्रसिद्धि के लिए लिखा गया लेख पतन का ही कारण होता है, उससे उत्थान नहीं होता।

★ जब-जब परिणाम विशुद्ध होते हैं, तब-तब अन्तरंग में विशेष आनन्द की अनुभूति होती है किन्तु उन परिणामों को स्थिर कैसे किया जाये ? वह आनन्द की अनुभूति अकथ्य है तथा अनुभव गम्य है, स्व से स्व के लिए स्वयं में है। सविकल्प अवस्था में जो परिणाम थे उन परिणामों के निमित्तभूत वाक्यों का, पदों का, शब्दों का चिन्तन करने से परिणाम विशुद्ध बनते हैं, उन विशुद्ध परिणामों को लिखने के पश्चात् वे वाक्य आत्मा को लखने में, अपने परिणामों को समतामय बनाये रखने मे कारण होते हैं।

★ हे आत्मन् ! स्वयं का लेखन, जन समुदाय में प्रदर्शन के लिए नहीं, आत्म दर्शन के लिए हो। भले ही उस लेख का कोई प्रदर्शन कर दे किन्तु तुम आत्म दर्शन का ही भाव रखो।

★ प्रत्येक आत्म-हितेच्छु को अपने विशुद्ध विचारों को लिखना चाहिए जिससे वे कालान्तर में विशुद्धि में सहायक बन सकें।

★ हे आत्मन् ! अपने मन को अशुभ विचारों से रोकने के लिए, असद् विकल्पों का शमन करने के लिए, आत्म तत्त्व को लखते हुए लिखो।

★ आत्मा के बारे में लिखना और आत्मा को लखना इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना कि मानचित्र में बने नदी, पर्वत, समुद्र, पुष्प, वाटिका, वृक्ष, तिर्यंचों में तथा वास्तविक नदी, पर्वत, समुद्र, पुष्प, वाटिका, वृक्ष, तिर्यंचों में होता है।

★ लिखना पूर्णतः स्वावलम्बी क्रिया है, यह स्वयं में स्वयं के द्वारा, स्वयं के लिए, स्व को पाने हेतु आत्मा स्वयं करती है। किन्तु लिखने की क्रिया पूर्ण स्वावलम्बी नहीं होती, इसका परावलम्बन होता ही है।

(3) उत्तम क्षमा धर्म

★ ''क्षमा'' शब्द 2 अक्षर (वर्णों) से मिलकर बना है जिसमें 'क्ष' वर्ण का अर्थ है क्षय एवं 'मा' वर्ण का अर्थ है नहीं। दोनों का अर्थ हुआ जो आत्मा को (क्षय) नष्ट होने से बचाये।

★ ''क्षमा'' शब्द का प्रयोग करके भी क्रोध, मान, माया व लोभ का पोषण किया जा सकता है, अतः वह क्षमा सार्थक नहीं है, जिससे कषायों का पोषण होता है।

★ ''उत्तम'' शब्द श्रेष्ठता का वाची है ''क्षमा'' शब्द का अर्थ है माफ करना व ''धर्म'' शब्द स्वभाव का द्योतक है।

★ उत्तम क्षमा ही धर्म है, स्वार्थ वश की गयी क्षमा या परिस्थिति वश की गयी क्षमा नहीं।

★ प्रतिकूल परिस्थिति एवं क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध जन्य परिणाम नहीं होने देना तथा अपकारी के प्रति भी उपकार का भाव रखना ही क्षमा है।

★ मन, वचन, काय की सरलता व सहजता से युक्त हो, विनम्र भावों से मांगी गई या की गई क्षमा ही सार्थक है, अन्यथा वह ढोंग है।

★ बदला लेने की भावना एवं अवसर आने पर घात करने के संकल्प को मन में छुपाकर मात्र शब्दों से मांगी गई क्षमा या की गई क्षमा—क्षमा नहीं अपितु धर्म के प्रति किया गया महापाप का हेतु विश्वासघात है।

★ परिणामों में विशुद्धि, हृदय में सरलता, वाणी में मधुरता, शरीर में विनम्रता, क्रिया में सहजता के बिना मांगी गई या की गई क्षमा कभी क्रोध से भी ज्यादा घातक हो सकती है।

★ उनसे क्षमा मांगना अनिवार्य नहीं जिनसे हमारी गहन मित्रता है, अपितु उनसे क्षमा मांगना अनिवार्य है, जिनके प्रति हमारी शत्रुता है या जो हमसे शत्रुता रखते हैं।

★ पत्रों से, टेलीफोन से या समाचार पत्रों व पत्रिकाओं के माध्यम से या स्वयं पास जाकर हाथ से हाथ मिलाकर ही नहीं अपितु हृदय से हृदय मिला कर क्षमा मांगो व क्षमा दान दो।

★ जिनके क्षमावाणी कार्ड आपके पास आये, आपने उनके पास कार्ड आदि भेजकर क्षमावाणी पर्व मनाने की यदि पूर्णता समझ ली है तो अभी आप अज्ञानता में जी रहे हैं।

★ जिस पुण्य पुरुष के पास क्षमा रूपी चिन्तामणि विद्यमान है, ऐसा पुरुष देवेन्द्रों के समूह द्वारा भी अर्चनीय होता है। तीन लोक की विभूति उसके चरणों में वास करने हेतु लालायित रहती है।

★ क्रोध के आवेश में या मान की पुष्टि के लिए या मायाचारी युक्त परिणामों के साथ या किसी प्रकार के लोभ, लालच में आकर किया गया क्षमा शब्द का प्रयोग क्षमा धर्म नहीं अपितु उसके विपरीत ही है।

★ क्रोधोत्पत्ति के कारणों का त्याग किये बिना क्षमा का बीज अंकुरित करने का भाव उसी तरह है ज्यों खेत में बीज बोकर पत्थर की शिला से ढाँक देना।

★ क्षमा प्रदान करना कोई अहसास नहीं, अपितु आत्म विशुद्धि का एक साधन है।

★ क्षमा वही पुण्य पुरुष माँग सकता है, जो गुणों में अपने सामने वाले से श्रेष्ठ है, क्योंकि क्षुद्र प्रकृति वाले क्षमा नहीं माँग सकते।

★ क्षमा माँगना तो अपने आप में श्रेष्ठ है ही, किन्तु इससे भी अधिक श्रेष्ठ है, निश्छल भाव से क्षमा प्रदान करना।

★ तराजू का जो पलड़ा भारी होता है, वही झुकता है, इसी प्रकार जो जितना अधिक विशाल व्यक्तित्व का धनी होगा वह उतना ही अधिक क्षमाशील होगा।

★ यदि तुम नग्न दिगम्बर दीक्षा लेकर साधना नहीं कर सकते, तथा नित्य ही तपस्वी जनों को आहार (भोजन) नहीं दे सकते, तब भी तुम्हारा कल्याण एक निश्छल क्षमा से हो सकता है।

(4) उत्तम मार्दव धर्म

★ उत्कृष्ट मार्दव भाव भी आत्मा का स्वभाव है, अत: धर्म है, गुण है, आत्मा की अदृश्य अचल निधि है।

★ आत्मा के परिणामों का अत्यन्त मृदु/कोमल हो जाना ही मार्दव है, जैसे कि वीतरागी निर्विकल्प ध्यानी के परिणाम होते हैं।

★ कोमल मिट्टी ही सुन्दर खिलौनों का आकार ग्रहण करने में समर्थ है, उसी प्रकार कोमल हृदय वाले ही आत्मा की मिट्टी से परमात्मा का खिलौना बना सकते हैं।

★ कभी-कभी बाहर से झुककर भी अंदर के मान का पोषण कर लिया जाता है किन्तु वह उसी प्रकार घातक है जैसे चेहरे पर शक्कर की चाशनी चुपड़कर जहर पी लेना।

★ उत्तम मार्दव धर्म को प्राप्त करना उनके लिए असम्भव है जिन्होंने मान रूपी विष को ही अमृत मान लिया है।

★ हे भव्य जीवों ! यदि तुम अपनी आत्मा को गुणों का सागर बनना चाहते हो तो सागर के समान झुकना सीखो, पर्वत के समान अकड़ मत दिखाओ।

★ कठोरता सदैव तोड़ने का एवं मृदुता सदैव जोड़ने का काम करती है, तोड़ना पाप है तो जोड़ना धर्म। अब जो चाहो सो करो।

★ सज्जन, धर्मात्मा, प्राज्ञ पुरुष, गुण ग्राहक दृष्टि वाले पुरुष हीन गुण वालों से भी गुण ग्रहण कर लेते हैं और कभी भी अपने गुणों का घमण्ड नहीं करते किन्तु गुण हीन बिना घमण्ड के कभी नहीं रह सकते।

★ यदि आपको 2 व्यक्तियों की परीक्षा करना/करनी है कि कौन अधिक गुणवान है ? तो इसका सीधा उपाय है, आप यह देखो कि दोनों में अधिक विनम्र कौन है ?

★ क्या तुमने कभी ठूंठ को झुकते या फलदार वृक्षों को अकड़ते देखा है ? यदि नहीं तो फिर तुम गुणों के सागर होकर क्यों पर्वत से अकड़ते हो ?

★ उत्तम मार्दव धर्म शुद्ध चेतना का अविनाभावी गुण है, यह चेतना में ही मिलेगा, जिसकी आत्मा जड़ के संयोग से जड़ हो गई है, उसमें कहाँ ?

★ हमारा झुकना किसी पर अहसान लादने के लिए नहीं, अपितु गुणों को प्राप्त करने के लिए ही होना चाहिए, तभी हमारा गुणों का सागर बनना संभव है।

★ यदि तुम झुककर भी गुणों को प्राप्त नहीं कर पाये हो तो अकड़ कर/घमण्ड से प्राप्त कैसे करोगे ? अहं भाव की अग्नि गुणोत्पादक नहीं, गुणों की दाहक एवं दोषोत्पादक ही होती है।

★ अग्नि से शीतलता की प्राप्ति असंभव है, उसी प्रकार बिना मृदु बने तुम मृदु/गुण सागर नहीं बन सकते। लघुता से ही प्रभुता मिलती है।

★ अविनय करने वाले अपने जीवन को अभिनय रूप बना लेते हैं एवं विनम्रशील अपनी आत्मा को विशिष्ट स्वभाव की ओर ले जाते हैं।

★ जो अपनी मान कषाय को मार (नष्ट कर) देते हैं, या दबा (उपशमन कर) देते हैं, वे मार्दव गुण को प्राप्त कर सकते हैं।

★ मान को मार्दव गुण में बदलने के लिए मात्र दृष्टि को ही नहीं, आचरण को भी बदलना होगा।

★ मान रूपी शत्रु का मर्दन करके भी जिनके अन्दर न तो मान है और न ही सम्मान की आकांक्षा, वे ही वास्तव में मार्दव गुण से युक्त हैं।

★ स्थूल मान कषाय को जीतना जितना आसान है, उतना सूक्ष्म मान को नहीं।

★ मार्दव गुणधारी श्रमण की सौम्य मुद्रा मिथ्यादृष्टि को भी विनयशील बना देती है। None such traceable

(5) उत्तम आर्जव धर्म

★ मन, वचन, काय की क्रिया के साथ आत्मा के परिणामों का अत्यन्त सरल हो जाना ही आर्जव भाव है। यह भाव आत्मलीनता के अभ्यासी व इच्छुक के लिए ही संभव है।

★ दीर्घ संसारी जीवों के परिणामों का सरल होना उसी प्रकार असंभव है जैसे अग्नि में शीतलता खोजना, जल मंथन में नवनीत व बालू पेलने से तेल की प्राप्ति।

★ जब तक परिणामों में सरलता व सहजता नहीं आई, तब तक संसार के अनंतानंत मार्गों में गमन करना तो संभव है किन्तु आत्मकल्याण के मार्ग में असम्भव है, निज गृह में प्रवेश बिना सरलता के नहीं हो सकता।

★ यदि आप किसी मूर्तिक वस्तु को तीन लैंसों (छिद्रपाइपों) से देख रहे हैं तो तीनों के छेद एक ही सीध में हों तभी वस्तु दृष्टिगोचर हो सकेगी अन्यथा नहीं, फिर स्वभाव से अमूर्तिक आत्मा की मन, वचन, काय की वक्रता रहते हुए अनुभूति कैसे हो सकती है ?

★ उत्तम पुरुष ही उत्तम आर्जव धर्म को प्राप्त कर सकते हैं, जिन्हें तिर्यंच गति के दुःख या स्त्री पर्याय की विषम वेदनाओं को दीर्घकाल तक सहन करना है, वे आर्जव धर्म को स्वप्न में भी नहीं पा सकते।

★ आर्जव धर्म को प्राप्त करने के पूर्व में हम छल-कपट एवं मिथ्या भाषण का त्याग करें। मिथ्याभाषी एवं मायाचार में प्रवृत्त मनुष्य को आर्जव धर्म रूपी परमात्मा के दर्शन दुर्लभ ही होते हैं।

★ जो पुरुष विश्वासघात, मायाचारी, छल-कपट, मिलावट आदि करके सुख-शांति को प्राप्त करने की कल्पना करते हैं, वे अग्नि में शीतलता, बालू में तेल, नरक में शुद्धोपयोग, गृहस्थी में निर्विकल्प ध्यान, गधे के सींग की तरह हास्यास्पद ही हैं। Gambr

★ आत्मा के परिणामों की गतिशीलता में बड़ी विचित्रता है। कभी परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं, कभी अत्यन्त मलिन हो जाते हैं, न चाहते हुए भी परिणाम अत्यन्त संक्लेशित हो जाते हैं, हम इसे कभी-कभी जान भी नहीं पाते।

★ यदि तुम परमात्मा को सर्वज्ञ व सर्वदर्शी मानते हो तो तुम चोरी क्यों करते हो ? प्रत्येक बुरे कार्य व परिणाम को छुपाने का यत्न क्यों ? इसका आशय यह है कि आपका परमात्मा सर्वदर्शी या सर्वज्ञ नहीं है या है तो आपने उसे उस रूप में स्वीकार नहीं किया—अन्यथा पाप को छुपाते क्यों ?

★ सरलता एक ऐसा मंगल द्वार है जिसके माध्यम से आत्मा में असीम गुणों का प्रवेश हो जाता है। सरल चित्त प्राणी ही अपूर्व सुख शांति का अनुभव करते हैं जो कि कुटिल हृदय वालों के लिये असंभव है।

★ जो प्राणी अपने मन को साफ नहीं रखते, उनके धुले हुए वस्त्र एवं चमकता हुआ चेहरा और मधुर वाणी संसार वर्धक ही होती है। तन, वचन, वस्त्रों के साथ-साथ धन व मन की शुद्धि भी अनिवार्य है तभी चेतन शुद्धि की संभावना हो सकती है, अन्यथा ..... नहीं।

★ अपनी दृष्टि में तुम निश्छल बनने का पुरुषार्थ करो, दूसरों की दृष्टि में निश्छल बनने से जीवन सार्थक नहीं होगा।

★ जितना पुरुषार्थ तुम दूसरों की दृष्टि में सरल बनने के लिए करते हो, उतना पुरुषार्थ स्वयं की व परमात्मा की दृष्टि में सरल बनने के लिए करो तो संसार सागर से बेड़ा पार हो जाये।

★ उत्तम आर्जव धर्म की उत्पत्ति उसी हृदय में सम्भव है, जो जल के समान सरल, आकाश के समान निर्मल एवं प्रकृति के समान सहज है।

अज्जउ परमप्पउ गय संकप्पउ, चिम्मितु जि सासउ अभउ।
तं णिरू झाउज्जइ संसउ, हिज्जइ पाविज्जइ जिहिं अचल पउ॥ रइधु कवि

अर्थ—आर्जव धर्म परमात्म स्वरूप है, संकल्प रहित है, चैतन्य स्वरूप है, आत्मा का मित्र है, शाश्वत है, और अभय रूप है। जो मानव इस आर्जव धर्म का ध्यान करता है वह अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

(6) उत्तम शौच धर्म

★ आत्मा शुचिता के परिणाम ही शौच धर्म है, उसकी प्राप्ति आत्म संतुष्टि के बिना असंभव ही है।

★ उत्तम शौच धर्म के बिना आत्मा की शुद्धि असंभव है, कपड़े में लगे मल को दूर करने के लिए जल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार आत्मा की पवित्रता के लिए शुचि परिणाम/पर वस्तुओं के प्रति अनासक्त भाव रूपी जल अनिवार्य है।

★ पर वस्तु को प्राप्त करने का भाव ही लोभ है, स्वद्रव्य में सदैव लीनता का सम्यक् पुरुषार्थ ही शौच धर्म है।

★ जो स्वात्म गुण निधि में ही संतुष्ट है उसी को निर्लोभिता रूपी विद्या सिद्ध हो सकती है जब तक लोभ रूपी पिशाच जीवित है, स्वैराचारी है, तब तक वह नाना रूप धारण कर आपका मन स्थिर नहीं होने देगा।

★ तन की पवित्रता से चेतना की पवित्रता नहीं होती किन्तु चेतन की पवित्रता से तन भी पवित्र हो जाता है। जो जल तन को ही पवित्र नहीं कर सकता वह मन व चेतन को कैसे पवित्र करेगा ?

★ ग्रीष्म ऋतु की तेज धूप से तपे हुए प्राणियों को शीतल जल में स्नान करने, डुबकी लगाने से तन को सुख मिलता है, उसी प्रकार लोभ रूपी आताप से तपे प्राणियों को समता रूपी जल में नहाने व निर्विकल्प ध्यान के सागर में डुबकी लगाने से चेतना को आनन्द मिलता है।

★ जहाँ लोभ रूपी सर्प लप-लपा रहे हैं, वहाँ निराकुलता कहाँ ? पर के त्यागे बिना निज की प्राप्ति असंभव ही है। पर वस्तु ग्रहण का भाव उत्तम शौच की हत्या करना है।

★ लोभ एक ऐसी अग्नि है जिसमें आत्मा के समस्त गुणों को भस्म करने की सामर्थ्य है, जिनके पास संयम, तप, समता, ध्यान रूपी जल नहीं वे लोभ रूपी अग्नि में झुलस जायेंगे।

★ कोई धन के लोभ में, कोई यश के लोभ में, कोई पद-प्रतिष्ठा के लोभ में, कोई विषयभोगों के लोभ में, कोई आरोग्यता के लोभ में, कोई इह लोक सुख और कोई परलोक सुख के लोभ में दौड़ रहे हैं किन्तु ऐसा प्राणी खोजना आज कठिन है, जिन्हें कुछ भी लोभ नहीं है। वे ही उत्तम शौच धर्म को प्राप्त कर सकते हैं।

★ लोभ के माध्यम से संसार की समस्त वस्तुओं को कदाचित् तुम प्राप्त कर भी लो, किन्तु आत्मनिधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ ही है।

★ निर्लोभता से जब मुझे अक्षय सुख शांति आदि अनंत गुणों की प्राप्ति हो रही है फिर मैं लोभ के माध्यम से पापकूप में क्यों पडूं ?

★ उत्तम शौच धर्म सर्व धर्मों का दादा है तो लोभ सम्पूर्ण अनर्थों का बाप एवं पाप पितामह।

★ यदि मलिन वस्त्र, तन एवं गन्दी बातें तुम्हें पसंद नहीं हैं, तो मन समल क्यों बनाये रखे हो ?

★ चेतना को निर्मल बनाने के लिए सर्वप्रथम साधन रूपी सोपान लोभ कषाय को जीतना ही है।

★ संसार में जितने भी प्राणी धर्म से च्युत होते हैं, वे लोभ कषाय के कारण ही च्युत होते हैं।

★ जीवन में धर्म का प्रारम्भ भी प्रशस्त लोभ के बिना नहीं हो सकता।

★ उत्तम शौच धर्म को क्रोध, मान, माया एवं लोभ को जीते बिना नहीं पा सकते, और कषायों को जीत लेने के बाद स्वतः ही उत्तम शौच धर्म प्राप्त हो जाता है।

★ जब तक पर पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा जीवन में शेष है, तब तक उत्तम शौच धर्म असंभव है, आत्मा में पूर्ण संतुष्ट ही इस धर्म को प्राप्त करने का अधिकारी है।

(7) उत्तम सत्य धर्म

★ सत्य के समान कोई धर्म नहीं किन्तु वह सत्य जो अहिंसा से रहित हो जाता है वह उस निःशस्त्र वीर पुरुष की तरह है, जो युद्ध भूमि में कायर बनकर खड़ा हो।

★ उत्तम सत्य धर्म कथ्य नहीं, जीवन का तथ्य है, इसे किसी को दिया व किसी से लिया नहीं जा सकता अपितु जिया जा सकता है।

★ जो उत्तम सत्य धर्म को कहने का दम भरते हैं उन्होंने भी उसे प्राप्त नहीं कर पाया, यह अनुभव गम्य बात है।

★ उत्तम सत्य धर्म रूपी मंजिल की प्राप्ति के पूर्व सत्याणु व्रत, पुनः सत्य महाव्रत, भाषा समिति एवं वचन गुप्ति के सेतु को पार करना अनिवार्य है।

★ सत्य का खोजी, सत्यवादी एवं सत्यता में जीने वाला, पक्षपाती नहीं होता, जो पक्षपात के खूँटे से बंधे हैं वे कभी सत्य रूपी गगन के मुक्त खग नहीं बन सकते हैं।

★ सत्य ही श्रेष्ठ धर्म है, जहाँ सत्य नहीं वहाँ आत्मा से साक्षात्कार असम्भव है। कल्याण मार्ग की प्राप्ति, बालू से तेल निकालने के समान है, बिना सत्य के जीवन अंक रहित शून्यों के समान हैं।

★ सत्यता से रहित पुरुषों द्वारा धर्म व आत्म कल्याण का ढोंग किया जा सकता है किन्तु धर्म के साथ जिया नहीं जा सकता और न ही उसे पिया जा सकता है।

★ सत्य धर्म चर्चा का नहीं चर्या का विषय है। इसके लिए संसार के समस्त पदार्थों को छोड़ा जा सकता है किन्तु इसे किसी के लिए भी छोड़ा नहीं जा सकता।

★ जहाँ सत्य है, वहाँ कुछ भी नहीं है तो भी सब कुछ है क्योंकि सत्य समस्त सद्गुणों का आधार है, गुणों की चुम्बकीय शक्ति है एवं जहाँ सत्य नहीं, वहाँ पर कदाचित आपने सब कुछ प्राप्त कर लिया तब भी कुछ नहीं है।

★ सत्य एक ऐसा प्रकाश है जिससे आत्मा के समस्त गुण प्रकाशित हो जाते हैं, असत्य के अंधकार में कोई भी गुण रूपी निधि प्राप्त होना असंभव है।

★ जिसके पास सत्य ही नहीं तो उसके पास है ही क्या ? सत्य प्रथम सोपान है, इसे प्राप्त किये बिना सत् का अनुभव व प्राप्ति असंभव ही है।

★ असत्य की सब उपलब्धियाँ भी असत्य होती हैं अर्थात् जो होती ही नहीं, जैसे—गधे के सींग, वन्ध्या का पुत्र, कछुये की पीठ पर बाल, भक्त बिना भगवान, बिना बीज के वृक्ष, बिना किनारों के नदी ....

★ सत्य को अल्पकाल तक छुपाया जा सकता है, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता, न दीर्घ काल तक गोपन। वह सूर्य की तरह प्रकट हो ही जायेगा। समय की हवा का निमित्त पाकर असत्य के बादल स्वतः ही हट जायेंगे, सत्य का सूर्य स्वतः प्रकाशित हो जायेगा।

★ सत्य को प्राप्त करने का साहस सर्व कषायोपशमी ही कर सकता है, तथा उसे पचाने की सामर्थ्य भी साहसी, धीर, वीर, गम्भीर एवं उच्चादर्शवान में ही हो सकती है।

★ उत्तम सत्य धर्म को क्षमाशील, विनयशील, सरल, सहज, एवं आत्म संतुष्ट व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है।

★ उत्तम सत्य धर्म, कसौटी पर कसौटी को कस कर परखने की कसौटी है, जब यही सत्य नहीं तब सब व्यर्थ ही है।

★ जिस कसौटी पर समस्त धर्मों को परखा जाता है, उस कसौटी को भी सत्य की कसौटी पर ही परखा जाता है।



(8) उत्तम संयम धर्म

★ समीचीनता से युक्त होकर जीवन पर्यंत के लिए धारण किये प्राणी रक्षा सम्बन्धी संकल्प एवं इन्द्रिय व मन (इन्द्रियानिन्द्रिय) को नियंत्रण करने का व्रत ही संयम है।

★ संयम का अर्थ है स्वेच्छाचारिणी प्रवृत्ति पर नियंत्रण, आत्मानुशासन। जब तक आत्मानुशासन नहीं कर पाये तब तक अपने आप को पूर्ण संयमी मानना भूल है।

★ बिना ब्रेक की गाड़ी, बिना लगाम का घोड़ा, अनुशासनहीन शासक, मूर्खता से युक्त नायक कभी भी नष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार आत्म नियंत्रण के बिना प्राणी का पतन अवश्यंभावी है।

★ संयम का अर्थ है कषायों रूपी सेनापतियों से युक्त मोह रूपी शत्रु राजा की इन्द्रिय विषयों में रमण/आसक्ति एवं अव्रतानुप्रवृत्ति रूपी सेना को रोकने के लिए मजबूत दुर्ग का निर्माण करना।

★ पूर्ण संयम की प्राप्ति, कर्म भूमिज मनुष्य की पर्याय में ही संभव है, भोग भूमिज मनुष्य को नही। जो कर्म भूमि के मनुष्य बनकर भी संयम को अंगीकार नहीं करते, उनसे तो देश संयमी तिर्यंच श्रेष्ठ हैं।

★ उत्तम संयम ही आत्मा का स्वभाव है, गुण है, धर्म है जो इसे प्राप्त करने में प्रयास रत हैं वे पुरुष भी उत्तम कहलाते हैं।

★ धन्य हैं वे महापुरुष जिन्होंने सम्पूर्ण कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए ज्ञान कृपाण व संयम ढाल को अंगीकर कर लिया है, वे ही इस युग के भगवान हैं।

★ संसार में ऐसा कौन विद्वान होगा जो संयमी महापुरुषों की श्रद्धा, विनय, भक्ति, सेवा, अर्चना न करे अर्थात् कोई नहीं। जो पुरुष ऐसा नहीं करता

है, वह मूर्ख, मिथ्यादृष्टि, दीर्घ संसारी, अनंत दुःखों का भोक्ता ही होगा, विद्वान नहीं।

★ आत्मानुशासन करने वाला ही पर का अनुशासक हो सकता है जो स्वयं स्वेच्छाचारी है वह अनुशासक बनने के योग्य नहीं, यदि बनता है तो उससे उत्थान का नहीं, पतन मार्ग ही वृद्धिगत होगा।

★ जिसने अपनी आत्मा को वश में कर लिया, वह दूसरे प्राणियों को वश में करने की इच्छा नहीं रखता। दूसरे जीवों को अपने अधीन वही करना चाहता है जो स्वयं को नियंत्रित नहीं करता है।

★ संयम सकल सुखों की जननी है, समस्त दुःखों को जलाने के लिए अग्नि के समान है, संसार रूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है।

★ संयम के लिए संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को छोड़ा जा सकता है किन्तु संयम को किसी के लिए भी नहीं छोड़ सकते।

★ दूसरों के कान पकड़ने की बजाय स्वयं की जीभ पकड़ना अति श्रेष्ठ है, यदि अपनी इन्द्रियाँ नियंत्रण नहीं रख सकते तो तुम जीवन में संयम का रसास्वादन नहीं ले सकते।

★ कोई कितना भी बड़ा विद्वान क्यों न हो, जब तक उसके जीवन में संयम नहीं तब तक उसका समग्र ज्ञान स्टेशन मास्टर की तरह व्यर्थ है, वह जानता तो है, कौन गाड़ी कब-कहाँ जायेगी ? किन्तु स्वयं कहीं नहीं जाता।

★ असंयमी को ज्ञानी कहना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जैसे किसी रोगी को वैद्य कहना, बालक को वृद्ध कहना, मुर्दे को जीवित कहना।

★ उत्तम संयम धर्म शब्द ज्ञानी के नहीं ब्रह्म ज्ञानी या आत्म ज्ञानी के लिए ही संभव है।



(9) उत्तम तप धर्म

★ बिना तपे स्वर्ण शुद्ध नहीं होता, मिट्टी कलश नहीं बनती, चावल दाल आदि भी नहीं पकते, उसी प्रकार बिना तप किये आत्मा शुद्ध दशा या परमात्मा अवस्था को प्राप्त नहीं होती।

★ तप का अर्थ है इच्छाओं को रोकना। जो इच्छाओं का निरोध कर लेता है, वही महा तपस्वी है।

★ यदि तापसी बनकर भी इच्छाओं में कुछ कमी नहीं हुई तो तापसी का भेष धारण करना व्यर्थ है, संसार परिवर्धक भी हो सकता है।

★ "सत्ता नहीं समता को पाने के लिए, वित्त को पाने नहीं, चित्त को शुद्ध बनाने के लिए" किया गया तप ही उत्तम तप है, और यही आत्मा का स्वभाव है, धर्म है।

★ तुम्हारे तापसी रूप को देखकर जनता जनार्दन भले ही तुम को तापसी कहकर पूज ले, स्तुति प्रार्थना व प्रशंसा करे किन्तु इच्छाओं पर निरोध किये बिना तुम्हारा कल्याण असंभव ही है।

★ सच्चा तपस्वी ख्याति, पूजा, लाभ, पद प्रतिष्ठा आदि की समस्त लिप्साओं से बहुत दूर रहता है, जो यदि इस सबको चाहता है तो वह सच्चा तापसी नहीं और उसे बाहर का सब कुछ मिल सकता है किन्तु आत्मा का कल्याण नहीं।

★ हे तपस्वी .... साधकों ! "यदि तुम ही तपस्या करने से जी चुराओगे तो क्या साधना व तपस्या असंयमी लोग करेंगे" और तुम्हीं आत्मा साधना के सागर में डुबकी लगाने से प्राप्त होने वाले गुण रत्न, मणियों को पाने का प्रयास नहीं करोगे तो क्या असंयमी श्रावक संयम, साधना, तप का अपलाप नहीं करेंगे।

★ हे संयमी साधक महापुरुषों, "तुम अपनी तपस्या की चर्चा अपने मुख से मत करो, तुम्हारी संयम साधना व तपस्या को देखकर सज्जन पुरुष स्वतः ही गुण ग्रहण करके झुक जायेंगे।"

★ उन तपस्वी महापुरुषों के चरणों में अन्ततशः प्रणाम करता हूँ जिन्होंने पाप पंक से बचकर इच्छा निरोध करते हुए द्वादश तपों को आत्म कल्याण हेतु अंगीकार किया है।

★ यदि संसार में तपस्वी साधक नहीं रहे तो संसार इन्द्रिय विषयों की इच्छा रूपी भयंकर आग की लपटों से जलकर भस्म हो जायेगा।

★ तपस्वी बाहर से तप्तायमान दिखता हुआ भी सूर्य[1] के समान अंदर में अत्यन्त शीतल होता है, वह तपस्वी परम आनन्द का भोक्ता होता है।

★ संसार की किसी भी वस्तु को प्राप्त करना असंभव नहीं है यदि तुम्हारे अन्दर तप करने की सामर्थ्य विद्यमान है।

★ तप कल्याणक को मै तीर्थकरों के अन्य सभी कल्याणकों से श्रेष्ठ मानता हूँ क्योंकि उसके बिना ज्ञान व मोक्ष कल्याणक नहीं हो सकते।

★ तीर्थंकरादि महापुरुषों के तप कल्याणक में लौकान्तिक देव (ब्रह्मर्षि) आते हैं, अन्य कल्याणकों में नहीं, क्यों ?

तं तउ जहिं परिगहु छंडिज्जइ, तं तउ जहिं मयणु जि खंडिज्जइ।
तं तउ जहिं णग्ग-तणु दीसइ, तं तउ जहिं गिर कंदरि णिवसई॥

अर्थ— जो परिग्रह त्यागी है, मनोविकार को जीतने वाला है, नग्न स्वरूपधारी है, गिरि कन्दराओं में निवास करने वाला है, वही उत्तम तप का धारी होता है।

1. जैन दर्शन के अनुसार—

सूर्य बिम्ब मूल में शीतल होता है, उसकी किरणें उष्ण होती हैं। सूर्य जितना अधिक दूर होगा उतनी ही अधिक उष्णता होगी तथा जितना निकट आता जायेगा उसकी उष्णता कम होती चली जायेगी।



(10) उत्तम त्याग धर्म

★ त्याग के बिना जीना असंभव है। ये त्याग धर्म मरण का प्रतीक नहीं, नवीनता का द्योतक हैं, इस त्याग धर्म को वे ही प्राप्त कर सकते हैं जिन्होंने संयम धारण कर गहन तप किया है।

★ त्यागमय जिन्दगी आनन्द का स्रोत है तो बिना त्याग की जिन्दगी है मुर्दा शरीर। नित्य नवीनता की प्राप्ति त्याग का ही फल है, ग्रहण करने का नहीं।

★ नवग्रह-गृहवासी या परिग्रही को ही दुःख पहुँचाते हैं, जो अगृही या अपरिग्रही है, उसे ग्रह दुःख नहीं पहुँचा सकते।

★ वृक्ष पुराने पत्ते, फूल, फल न त्यागें, मादा पशु पय न तजें, अन्य प्राणी मलोत्सर्ग न करें या श्वांस का उच्छ्वास न करें तो उनका जीवन कठिन ही नहीं असंभव हो जायेगा।

★ त्याग प्राणी का सामान्य गुण नहीं अपितु स्वाभाविक गुण है, इसीलिए इसे धर्म कहा गया है, जब त्याग उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाता है तो वही परम धर्म कहा जाता है।

★ पुरातन पर्याय का त्याग किये बिना नई पर्याय की प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव है जैसे नरक से निकले बिना स्वर्ग की प्राप्ति करना।

★ त्याग करने वाला सदैव उच्चता को प्राप्त करता है, ग्रहण करने वाला निम्नता को, फिर भले ही वह त्यागी ही क्यों न हो, ग्रहण करते समय वह लघु एवं देने वाला उच्च होता है।

★ क्या तुम इस रहस्य को नहीं जानते कि मेघ ऊपर, समुद्र नीचे होता है एवं आहार दान लेने वाले के हाथ नीचे व देने वाले के ऊपर होते हैं, भले ही आहार लेने वाले तीर्थंकर ही क्यों न हों, देने वाली भले ही एक अबला नारी चंदना ही क्यों न हो।

८

★ दान एवं त्याग में यही अंतर है कि दान देते समय दाता भक्ति भावना से सहित हो स्व व परोपकार की अपेक्षा रखते हुए वस्तु को देता है किन्तु त्याग करते समय कोई अपेक्षा नहीं होती, मात्र स्वयं उसके बंधन से मुक्त हो उसे छोड़ देता है।

★ त्याग करने वाला दम्भी नहीं सहज होना चाहिए क्योंकि त्याग करके आपने किसी पर अहसान नहीं अपितु स्वकल्याण व निज स्वभाव को प्राप्त करने का कदम बढ़ाया है।

★ दान देने से धनार्जित कृत पापों का नाश होता है किन्तु त्याग करने से पाप एवं पाप के सभी कारणों से बचा जा सकता है।

★ त्यागी के चरण सानिध्य में रहकर भी यदि आपके मन में त्याग का परिणाम नहीं आये तो आप उसी व्यक्ति के समान मूर्ख हैं जो ग्राहक बन दुकान पर आया, दिन भर बैठा रहा, पुनः खाली हाथ चला गया।

★ त्याग का महत्त्व त्यागी ही समझ सकता है, रागी नहीं। जिसने कभी मिश्री नहीं खाई तो वह उसका स्वाद क्या जाने ?

★ प्राणीमात्र का स्वभाव त्याग है, त्याग ही अंतिम नियति है, बिना त्याग के आज तक किसी ने अपना स्वभाव प्राप्त नहीं किया।

★ यदि तुम निज स्वभाव में जीओ, तब तो तुम्हें त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं, यदि स्वभाव स्थिर नहीं रह सकते तो परभावों का त्याग करो, जिससे स्वभाव को पा सको।

★ जिसने पर वस्तुओं को ग्रहण किया है उसके लिए ही त्याग धर्म का उपदेश दिया जाता है, जो स्वभाव में लीन है वह तो त्यागी है ही।

★ त्यागी ही व्रती, महाव्रती, उपशामक, क्षपक, सकल एवं निकल परमात्मा होता है, बिना त्याग के ही संसार में परिभ्रमण हो रहा है।

चाए अवगुण गणु जि उहट्टइ, चाए णिम्मल कित्ति पवट्टइ।
चाए वयरिं च पणमइ पाए, चाए भोग भूमि सुह जाए॥

अर्थ— त्याग से अवगुणों का समुदाय दूर हो जाता है, त्याग से निर्मल कीर्ति फैलती है, त्याग से बैरी पैरों में नमस्कार करता है, और त्याग से भोग भूमि के सुख मिलते हैं।



(11) उत्तम आकिंचन धर्म

★ किंचित भी पर पदार्थ को स्वीकार नहीं करना ही आकिंचन है और आकिंचनता के भावों से युक्त धर्म ही आकिंचन धर्म है, जिसकी प्राप्ति दिगम्बर श्रमणों को ही सम्भव है।

None today

★ जिन्होंने आकिंचन भाव की उत्कृष्टता को पा लिया है वे आकिंचन धर्मी हैं, वे उत्तम महात्मा ही विश्व वंदनीय इस वसुंधरा के जीवंत देवता हैं।

★ पर वस्तु को अपना मान लेना बहुत बड़ा भ्रम है, क्योंकि पर वस्तु न तो मेरी कभी थी, न है और न कभी हो सकेगी।

★ जिन्होंने बाहर की समस्त वस्तुओं का त्याग कर दिया है वे ही निजी वैभव को प्राप्त कर सकते हैं, पर वस्तुओं में आसक्त जनों को निजी स्वाभाविक विभूति से साक्षात्कार असंभव ही है।

★ संसार में न कुछ मेरा है, न कुछ तेरा है, यह दुनिया एक झमेला है, मोही इसमें फंस जाता है, निर्मोही छूट जाता है। ऐसे महात्मा ही विश्व कल्याणक एवं अक्षय सुख शांति के प्रेरक हो सकते हैं।

★ जिसने अपनी आत्मा को नहीं जाना, नहीं पहचाना, नहीं पाया उसके लिए अन्य सब पर वस्तुओं की प्राप्ति उसी प्रकार है, जैसे चौकीदार के द्वारा खजाने की चौकीदारी करना।

★ आपके पास जो कुछ है वह तुम्हारा नहीं है, अतः उसे छोड़ दो, क्योंकि "कुछ" को छोड़े बिना "सब कुछ" की प्राप्ति करना असम्भव है।

★ जो "कुछ" को पाकर "सब कुछ" पाने की आशा ही छोड़ बैठे हैं, 2 कदम चलकर मार्ग में ही बैठ गये हैं और उसी को मंजिल मान लिया है, उन्हें मंजिल तक पहुँचाना अत्यन्त कठिन है।

★ आकिंचन धर्म की प्राप्ति ग्रहण करके नहीं, छोड़ने से ही होती है और तुम्हें अनादि काल से ग्रहण करने की ही लत है, ग्रहण करने से कैसे

पाओगे ? मुक्त आकाश का आनन्द बंधन बांधने से नहीं तोड़ने सेमिलेगा, केवल आत्मा का आनन्द पर द्रव्य जोड़ने से नहीं छोड़ने से मिलेगा।

★ उत्तम आकिंचन धर्म जो आत्मा का निजी स्वभाव है, वह बाहर कहीं मिल जाता तो उसे हम बाहर खोजकर प्राप्त कर लेते, किन्तु वह तो हमारी आत्मा में ही पर द्रव्यों के बीच में छुपा बैठा है, वह नीचे दब गया है, पर वस्तुयें ऊपर ढांक कर बैठ गई हैं, वह बिना पर वस्तुओं के बाहर फेंके कैसे मिले ?

★ जब तेरे पास किंचित् भी तेरा नहीं है तो तू क्यों कहता है ? यह भी मेरा है, वह भी मेरा है।

★ पर पदार्थों के संयोग से जो अपने अहंकार को पुष्ट कर रहे हैं, वे आकिंचन धर्म से अभी बहुत दूर खड़े हैं।

★ मेरी आत्मा के अलावा मेरा कुछ नहीं है, इस बात को कहना जितना आसान है, जीवन में धारण कर पाना उतना ही कठिन है।

★ जो आत्म स्वभाव में संतुष्ट हैं, आत्म में ही रमण कर रहे हैं, उन्होंने ही पर पदार्थों को छोड़कर आत्मा की शुद्धता को पाया है।

★ किंचित् परिग्रह को भी अपना मानना संसार परिभ्रमण का कारण है तथा उत्तम आकिंचन धर्म को प्राप्त कर लेना आत्म रमण का कारण व भव भ्रमण का निवारण है।

★ तेरा तो तुझमें बसे, क्यों पर में माने चैन। आँख हिये की खोल ले, सुन सद्गुरु के बैन। अन्तर्दृष्टा व अन्तर्ज्ञाता ही उत्तम आकिंचन धर्म को पाने का अधिकारी होता है।



(12) उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

★ ब्रह्म स्वरूप आत्मा में आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। वह ब्रह्मचर्य व्रत सभी व्रतों में श्रेष्ठ है और आत्मा का शुद्ध स्वभाव है।

★ अब्रह्म का सेवन सदैव नहीं किया जा सकता क्योंकि वह विभाव है, विभाव सुख का नहीं दुःखों का ही जनक होता है। विश्राम विभाव में नहीं स्वभाव में ही संभव है।

★ वे महान पुरुष धन्य हैं जिन्होने अब्रह्म के पिशाच को बचपन में ही जीत लिया—जिसे पचपन वाले अभी भी नहीं जीत सके।

★ काम वासना रूपी सुभट संसार के प्रायः सभी प्राणियों को अपने वश में कर लेता है किन्तु जो अपने ब्रह्म स्वरूपी आत्मा के दृढ़ दुर्ग में बैठे हैं, बाहर नहीं झांकते, उनसे काम रूपी सुभट बड़ा भयभीत रहता है।

★ धर्म की प्राप्ति अधर्म के त्याग से ही होती है, जो ब्रह्मचर्य रूपी धर्म को पाना चाहते है, उन्हे अब्रह्म रूपी अधर्म को नष्ट करना होगा क्योंकि शत्रु को नष्ट किये बिना निश्चिंतता की प्राप्ति असंभव है।

★ ब्रह्मचर्य आत्मा का भोजन है और अब्रह्म है आत्मीय शक्ति को क्षीण करना एवं इन्द्रिय व शरीर का दुरुपयोग करना, ऊर्जा शक्ति को अधोगामी बनाना।

★ ब्रह्मचर्य व्रत तीनों लोकों में पूज्य निधि है, इस व्रत को जो भी अंगीकार कर लेता है वह भी तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है। पूज्यता को आत्मसात करना ही स्वयं पूज्य बनना है।

★ जिस प्रकार विष्ठा के कीड़े को विष्ठा में ही आनन्द आता है उसी प्रकार दीर्घ संसारी दीन-हीन प्राणी को ही अब्रह्म प्रिय लगता है।

★ अब्रह्म के द्वारा ऊर्जा शक्ति का दुरुपयोग होता है। ऊर्जा अधोगामी बनती है, अधोगामिनी ऊर्जा अधोगति का ही कारण बनती है।

★ ब्रह्मचर्य का अर्थ अपनी ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण करना या आत्मा (ब्रह्म) में लीनता है। जब ऊर्जा उर्ध्वगति की ओर जाती है, वीर्य की उर्ध्व गति होती है तो चेतना की भी उर्ध्व गति होती है। आत्मा के उर्ध्व कक्ष में शक्ति का संचय, ऊर्जा का केन्द्रीयकरण ही मोक्ष का हेतु है जहाँ उर्ध्व लोक में आत्मा स्थिर हो जाती है।

★ उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म को पाने के पूर्व ब्रह्मचर्याणुव्रत/स्वदार संतोष व्रत, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, ब्रह्मचर्य महाव्रत की मंजिलों को चढ़कर ही उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की प्राप्ति हो सकती है।

★ व्यवहार ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना निश्चय ब्रह्मचर्य की प्राप्ति असंभव है, जिन्हें अब्रह्म से विरक्ति नहीं वे महापापी ही हैं, चाहे कितना बड़ा ही भेष धारण क्यों न कर लें।

★ हे मीत ! यदि तू उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा है तो तुझे अन्य व्रतो की क्या आवश्यकता ? और यदि तू ब्रह्मचर्य व्रत की साधना नहीं कर सकता तब भी अन्य व्रतों से क्या ?

★ ब्रह्म स्वरूपी आत्मा में रमण करने वाला योगी ही भगवान है, जो ब्रह्म स्वभाव से च्युत हैं, उन्हें अब क्या कहें ?

★ मोक्ष मार्गी वही बनता है जो अब्रह्म (विषय-कषाय, संसार, शरीर व भोगों से विरक्त हो, रत्नत्रय में आसक्त हो) से विरक्त हो और धर्म ध्यान/आत्मा में आसक्त हो।

★ मोक्ष मार्ग के प्रारंभिक सोपान का नाम भी ब्रह्मचर्य है तथा अंतिम पड़ाव का नाम भी ब्रह्मचर्य है।

★ ब्रह्मचर्य व्रत की साधना का प्रारम्भ सप्त व्यसन त्याग के प्रारम्भ से ही हो जाता है तथा पूर्णता अयोग केवली अवस्था में होती है।

(13) देव दर्शन

★ देव दर्शन का अर्थ है देव प्रतिमा में दिव्यता के दर्शन। वीतरागी सर्वज्ञ व हितोपदेशी परमात्मा की प्रतिमा में उस परमात्मा को देखना।

★ जैसे दर्पण में कोई दर्पण को नहीं, उसकी निर्मलता में अपना प्रतिबिम्ब देखता है उसी प्रकार परमात्मा की मूर्ति में मूर्ति का नहीं, उन मूर्तिमान परमात्मा को देखो जिनकी वह मूर्ति है।

★ जो मंदिर में देव दर्शन के लिए जाते है, वहाँ जाकर धातु पाषाण की मूर्तियों में ही संतुष्ट हो जाते हैं, तो उनका देव दर्शन करना सार्थक नहीं है।

★ नित्य परमात्मा के दर्शन से हमारे परिणामों में भी परमात्म पद को प्राप्त करने की अभिलाषा जाग्रत होती है क्योंकि वस्तु को देखने से उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है।

★ किसी पहलवान की फोटो देखने से पहलवान बनने के, एक्टर को देखकर एक्टर बनने के, राजा को देखकर राजा बनने के, संत को देखकर संत बनने के भाव होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा को देखकर परमात्मा बनने के संस्कार हमारे अंदर स्थापित एवं जाग्रत होते हैं।

★ जिनेन्द्र देव के दर्शन करने से यदि निज दर्शन या निज दर्शन की प्रेरणा मिल रही है तो वह जिनदर्शन सार्थक है यदि जिनदर्शन से निजदर्शन की या जिनत्व प्राप्ति की भावना जाग्रत नहीं होती तो वह मात्र प्रदर्शन है।

★ मंदिर में जाकर मूर्तियों का आकार (छोटी है या बड़ी है) पद्मासन है या खड्गासन (यह) मत देखो अपितु उनकी वीतरागता ही देखो जो सर्वथा ग्राह्य है एवं परमात्मा की मूर्ति में यह मत देखो कि यह मात्र पाषाण की है या स्वर्ण, चांदी, पीतल आदि धातु की अपितु उसमें साक्षात् परमात्मा के रूप को निहारो।

★ दीपक में जैसे ज्योति ही ग्राह्य है यह नहीं कि यह मिट्टी का है व धातु का है, उसी प्रकार परमात्मा की मूर्ति में सर्वज्ञता, वीतरागता, परमात्मपना, कर्म रहितता देखो। बुझा हुआ स्वर्ण दीपक भी व्यर्थ है, जलता हुआ मिट्टी का भी सार्थक है।

★ देव दर्शन के समय देवाधिदेव अरिहंत देव, सिद्ध देवों के ही दर्शन करें, कुदेव, अदेव, इंसान, शैतान व हैवानों के नहीं।

★ दर्शन के समय बाह्य चर्म चक्षु ही नहीं अपितु अंदर के (धर्म) चक्षु खोलना भी अनिवार्य है।

★ देव दर्शन के लिए संसार के सभी काम छोड़े जा सकते हैं किन्तु देव दर्शन नहीं, यदि आप वास्तव में सुखाभिलाषी जिनेन्द्र भगवान के सच्चे भक्त हों तो।

★ देवदर्शन कभी भी कितनी बार किया जा सकता है किन्तु प्रातःकाल बिना कुछ खाये-पिये शुद्ध होकर करना विशेष महत्त्व की बात है।

★ देव दर्शन कभी भी खाली हाथों से नहीं करना चाहिए। जल, चन्दन, चावल, फूल, फल, दीप, धूप, नैवेद्य आदि कुछ न कुछ अवश्य चढ़ायें अन्यथा खाली हाथ दर्शन करने से यथार्थ फल की प्राप्ति न हो सकेगी।

★ जब किसी राजा, ज्योतिषी, गुरु के दर्शन भी खाली हाथ नहीं किये जाते तो परमात्मा के दर्शन खाली हाथ क्यों ? परमात्मा से जो प्राप्त हुआ है उसे उसी के चरणों में समर्पित करने में संकोच/भय/शर्म क्यों ?

★ देव दर्शन निज आत्मा के दर्शन हेतु अन्तःकरण से करें, प्रदर्शन के लिए नहीं।

★ वे हतभागी हैं, जो जिनेन्द्र देव के दर्शन करके भी अपना अन्तशः न देख सकें। उनके लिए अब अंतः दर्शन का कौन-सा निमित्त हो सकता है।

★ देवाधिदेव, वीतरागी, सर्वज्ञ, परम हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने के उपरांत भी आपकी कुदेवों के प्रति आस्था शेष है तो यही कहना पड़ेगा कि अभी आपका मिथ्यात्व कर्म का तीव्रोदय चल रहा है।

(14) जिनेन्द्र पूजन

★ जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान की पूजन नित्यश: श्रद्धा, समर्पण व अंतरंग भक्ति भाव में विभोर होकर करता है वह निकट भविष्य में मोक्ष जाने का अधिकारी है।

★ जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है उस प्राणी की सभी मनोकामनायें शीघ्र ही सफल हो जाती हैं, कोई भी निश्शेष नहीं रहती।

★ ''जिनेन्द्र भगवान की पूजन'' कषायों का शमन, इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, पापों का क्षय, काम वासना का विनाश, दु:खों का अंत एवं संसार सागर पार करने वाली अनुपम नौका के समान है।

★ ''जिनेन्द्र भगवान की पूजन के भाव करने मात्र से''—अनेक तिर्यंच जीवों ने सद्‌गति प्राप्त की, देवत्व अवस्था पाकर पुन: निर्वाण सुख को प्राप्त किया, तब क्या तुम्हें जिनेन्द्र पूजन मोक्ष सुख नहीं दे सकती ?

★ जिनेन्द्र पूजन रूपी मार्ग पर चलने वाली यदि एक आत्मा परमात्मा बन सकती है तो सभी पूजन करने वाली आत्मायें भी नियम से परमात्मा बनेंगी, जैसे—यदि एक कंकड़ शंकर बन सकता है तो सभी कंकड़ शंकर बन सकते हैं तथा एक बीज वृक्ष बन सकता है तो सभी बीज वृक्ष बन सकते हैं।

★ जिनेन्द्र भगवान की पूजन, श्रद्धा व समर्पण के साथ वही जीव कर सकता, जिसे निकट भविष्य में मोक्ष जाना है, दीर्घकाल तक भव भ्रमण करने वाले जिन पूजन जैसे पुनीत काम को नहीं कर सकते।

★ जिनेन्द्र भगवान की पूजन के पूर्व यदि वस्त्रों की, तन की, अष्ट द्रव्य की, वचनों की शुद्धि रखते हो तो आपको उसी प्रकार मन की शुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिए अन्यथा चेतना की शुद्धि असंभव है।

★ गंदे वस्त्रों व शरीर से बदबू आती है उसी प्रकार गंदा मन भी बदबू पैदा करता है। बदबूदार स्थान में जब तुम ही बैठना पसंद नहीं करते हो तो तुम्हारा परमात्मा उसमें कैसे वास करेगा।

★ परमात्मा की उपासना के लिए अष्ट द्रव्यों की शुद्धि की उतनी अनिवार्यता (आवश्यकता) नहीं जितनी तुम्हारे परिणामों की विशुद्धि की अनिवार्यता है।

★ परमात्मा तुम्हारे टूटे-फूटे चावलों से नहीं—टूटे मन से, खाली हाथों से नहीं—खाली हृदय से, अशुद्ध उच्चारण से नहीं—अशुद्ध आचरण से उपेक्षणीय हो जाता है जहाँ हृदय अखण्ड शुद्ध सद् भावों से भरा है तो बाहर में खालीपन कभी दिखता ही नहीं।

★ यदि कोई मनुष्य अपने सेवक/नौकर को मजदूरी, वेतन देता है तो तीन लोक के नाथ अरहंत भगवान/जिनेन्द्र देव तुम्हें वांछित/अभीष्ट फल क्यों न देंगे ?

★ परमात्मा की पूजन/उपासना करने के उपरांत उनसे लौकिक वस्तु की/पौद्गलिक वस्तुओं की याचना करना उनका अपमान है। बड़ों से छोटी नहीं बड़ी वस्तुओं को माँगो, जो जिस वस्तु को दे सकता है उससे वही माँगो अन्यथा नहीं मिलेगी।

★ जिनेन्द्र भगवान की पूजा किये बिना आज तक कोई जिनेन्द्र भगवान नहीं बना।

★ पूजन एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से पुजारी पूज्य बन जाता है, बिना पुजारी बने आज तक कोई पूज्य नहीं बना।

★ उन मनुष्यों को देखकर मुझे बहुत खेद होता है जिन्होंने उत्तम मनुष्य पर्याय, कुल, जाति, संगति व सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, धर्म का सानिध्य पाकर भी जिन पूजन नहीं की। हे प्रभो ! उन्हें सद्बुद्धि देना जिससे वे जिन/जिनेन्द्र पूजन करके अपना तन, मन, धन, वचनादि सब कुछ सार्थक कर सकें।

★ एक बार जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने से आपके लाखों काम सफल सिद्ध हो सकते हैं किन्तु लाख काम करने से जिन पूजन नहीं हो सकती है।

★ जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान का पूजन करता है उसका सम्पूर्ण फल भी वही प्राप्त करता है, किसी के द्वारा की गई पूजन आपको फल नहीं दे सकती।

★ जिस प्रार्थना में प्रकृष्ट वस्तु की अर्थना न हो तो वह प्रार्थना ही नहीं हो सकती, वह मात्र .... दिखावा ही कहलायेगा।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वंदनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकं॥ दे.द.स्तु.

अर्थ— जिस प्रकार छिद्र युक्त हाथ में जल नहीं ठहरता उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन व साधुओं की वन्दना करने से पाप नहीं ठहरते हैं।

* * *

संवेग जणिद करणा णिस्सला मंदरोव्व णिक्कंपा।
जस्स दढ़ा जिण भत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे॥ ७४४॥ भ.आ.

अर्थ— संसार के भय से उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व, माया, निदान शल्यों से रहित तथा सुमेरू की तरह निश्चल/दृढ़ जिनेन्द्र भगवान में जिसकी भक्ति है, उसे संसार का भय नहीं है।

* * *

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पाप संघात कुंजरम्।
शतधा भेदमायाति, गिरि वज्रो हतो यथा॥ आ.वीरसेन स्वामी

अर्थ— जिस प्रकार वज्र के माध्यम से पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से हाथी के समान पाप रूपी समूह के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं।

(15) स्वाध्याय

★ स्वाध्याय शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—स्व + अध्याय अर्थात् अपनी आत्मा को अध्याय बनाना, अपनी आत्मा का अध्ययन, समीक्षा/चिन्तन/ध्यान करना।

★ आप्तकथित, गणधर द्वारा संग्रहीत, दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा (वीतरागता/आर्ष मार्ग के पोषक) रचित शास्त्रों का स्वात्म कल्याण की भावना से पढ़ना, सुनना, चिन्तवन करना, याद करना, पूछना या दूसरों को बताना स्वाध्याय कहलाता है।

★ दूसरों का तिरस्कार/उपहास/अपमान करने के लिए, स्वयं के मान की पुष्टि के लिए, धर्मात्माओं से विवाद के उद्देश्य से किया गया स्वाध्याय, स्वाध्याय न करने से भी बदतर है।

★ मनोरंजन के लिए शास्त्रों का पढ़ना या दूसरों को सुनाना वास्तव में स्वाध्याय नहीं है, अपितु आत्मरंजन, मंजन, निरंजन (कर्म क्षय हेतु)हेतु किया गया अध्ययन ही सार्थक है।

★ स्वाध्याय अंतरंग तप की श्रेणी में तभी आता है जब आत्म कल्याण के उद्देश्य से उसका गहन चिन्तन किया जाये, मस्तिष्क को शब्द कोश बनाना स्वाध्याय नहीं पराध्याय है।

★ स्वाध्याय सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र का हेतु है तथा यह स्वाध्याय ही मोक्ष का प्रधान कारण है, बिना स्वाध्याय के मोक्ष मार्ग असंभव है।

★ स्वाध्याय के लिए शास्त्रों का सामने होना आवश्यक नहीं, स्वाध्याय तो प्रकृति के किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किया जा सकता है यदि दृष्टि समीचीन है तो।

★ जितने आज तक सिद्ध हुये हैं, हो रहे हैं एवं आगे होंगे यह सब स्वाध्याय का ही प्रतिफल है, स्वकल्याण का इच्छुक स्वाध्याय किये बिना नहीं रह सकता।

★ नित्य स्वाध्याय करने से सम्यक् ज्ञान के दीपक पर कभी मोह की कालिमा नहीं जम पाती, वह सदैव धवल प्रकाश युक्त ही रहता है।

★ स्वाध्याय से रहित प्राणी कालांतर में सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र से भी च्युत हो सकते हैं, स्वाध्याय के अभाव में मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार को दूर करना असंभव ही है।

★ स्वाध्याय आत्मा का भोजन है, जो प्राणी स्वाध्याय से रहित हैं उनकी आत्मा को सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, भक्ति, समर्पण, क्षमा, संतोष आदि पकवान नहीं मिल सकते, वह आत्मा भूखी ही तड़पती रहती है।

★ वे प्राणी कितने गरीब दीन-हीन हैं जिनके पास सत्यार्थ शास्त्रों को पढ़ने व सुनने के लिए चार क्षण भी समय नहीं है, ऐसे व्यक्ति धन, तन से भले ही सम्पन्न दिखें किन्तु मन व चेतन से तो भिखारी ही हैं।

★ धन्य हैं वे महापुरुष जिन्होंने अपना सारा जीवन सद्शास्त्रो को सुनने में, पढ़ने में, सुनाने में, चिन्तन, मनन करने में एवं उस ज्ञान को धारण करने में व्यतीत किया है।

★ सम्यक् ज्ञान का फूल वैराग्य है एवं फल संयम है। जिस स्वाध्याय रूपी वृक्ष पर संवेग-वैराग्य के फूल एवं तप-त्याग-संयम के फल न लगें तो ऐसा स्वाध्याय रूपी वृक्ष व्यर्थ है, मात्र नाम के लिए है।

★ उन संयमी महापुरुषों के चरणों में सदैव विनम्र प्रणाम करता हूँ जो सदैव स्व-अध्याय में संलग्न रहते हुए निजानंद के सरोवर में डूबे रहते हैं, उन शुद्धापयोगी मुनियों की महिमा कहने में यहाँ कौन समर्थ है ?

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की भावना तीर्थकर पदवी जैसी सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त कराने में प्रमुख कारण है, अतः सदैव सद्ज्ञान में ही संलग्न रहो।

(16) दान-दाता

★ नाम, ख्याति एवं मान प्रतिष्ठा के लिए दिया गया दान धर्म के अंतर्गत नहीं आता और न ही वह संसार विच्छेदक होता है।

★ दान का आशय है जिससे स्व-पर का उपकार हो, ऐसी वस्तु का भक्तिपूर्वक त्याग करना अथवा द् + आन = देना, भक्ति साथ, अर्थात् नम्रीभूत होकर ही दान दिया जाता है।

★ दान देते समय दिखावा करने का भाव न हो, दान से तो स्वतः ही कीर्ति फैलती है किन्तु तुम ऐसे दो, कि दाहिने हाथ से दो तो बांया हाथ भी न जान पाये क्या दिया है ?

★ सत्पात्रों के लिए अपने न्यायोपार्जित धन से, देयभूत आहार, औषधि उपकरण व आवास की व्यवस्था देना ही दान कहलाता है।

★ जिस दान से दाता यदि स्वयं को नहीं देता अर्थात् विशुद्ध भावनाओं से नहीं देता वह दान मुर्दा दान है।

★ दान के मुख्यतया चार भेद होते हैं—(1) आहार दान (2) औषधि दान (3) ज्ञान दान या उपकरण दान (4) आवास दान।

★ दान और त्याग दोनों अलग-अलग धर्म है, त्याग करने के बाद त्यक्त वस्तु या धन के बारे में कोई विकल्प नहीं करना चाहिए कि उसका क्या हुआ या हो रहा है ? किन्तु दान दाता को उसका ध्यान रखना अनिवार्य है कि उसका कहीं दुरुपयोग तो नहीं हो रहा।

★ श्रावकों के लिए दान धर्म ही प्रधानता है और श्रमणों के लिए त्याग धर्म की।

★ दान देने वाला दाता यद्यपि सत्पात्रों से लघु है, उनके सामने किंकर या सेवक के समान है तथापि दान देते समय दाता का हाथ ऊँचा, पात्र का हाथ नीचे होता है।

★ दाता के लिए इससे बड़ा सौभाग्य का दिन (समय) और कोई नहीं होता जब वह तीर्थंकरादि महापुरुषों को आहार दान दे रहा हो, तभी उसके हाथ पात्रों के हाथों के ऊपर हो जाते हैं।

★ जो सत्पात्रों को आहारादि दान दिये बिना भोजन नहीं करता उस दाता के पुण्य को कहने में यहाँ कौन समर्थ हो सकता है ?

★ दाता मेघ के समान उर्ध्वशील ही होते हैं, लेने वाले यदि महातपस्वी, साधक नहीं हैं तो दाता के दान के भार से अधोगामी हो जायेंगे।

★ मेघ थोड़ी जलवृष्टि करने पर भी ऊपर एवं सागर अपार जल राशि रखने पर भी नीचे ही होता है। क्या आपने कभी दोनों की दशा व दिशाओं के बारे में सोचा है ?

★ सौ हाथों से कमाने वाले को सदैव हजारों हाथों से बाँटने के लिए तैयार रहना चाहिए।

★ जो अल्पधन होने पर दान नहीं देते और सोचते हैं विपुल धन होने पर ही दान दूँगा वे बहुत मूढ़ हैं क्योंकि इच्छानुसार विपुल धन कभी किसी के पास नहीं होता।

★ दान देने का भाव जब मन में आये उसी समय उसे पूर्ण करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि इस संसार में क्षणभर का विश्वास भी नहीं किया जा सकता।

★ आज तुम्हारी दान देने की जो सामर्थ्य है उसके अनुसार दान यदि नहीं किया तो कल तुम्हारी यह सामर्थ्य नहीं रहेगी, तुम और दरिद्र हो सकते हो।

★ जिन्हें दान देने का व्यसन है उनके पास कभी देय वस्तु की कमी नहीं होती, वे सदैव देते ही रहते हैं। लगता है भगवान भी उन पर खुश हो रहा है जिससे कभी वे निर्धन नहीं होते अथवा यूँ कहें कि दान देने से उनके धन में स्वतः वृद्धि हो जाती है।

★ दान देने से धन की हानि नहीं होती, तुम्हारे भाग्य में जितना है तुम्हें उतना ही मिलेगा, दान न करोगे तो शेष धन चोरी हो सकता है। बीमारी आदि में चला जायेगा, अग्नि में जल जायेगा या अन्य किसी प्रकार नष्ट हो जायेगा अतः सदैव दान देते रहना चाहिए।

★ कुएँ से पानी निकालने से उस पानी में कमी नहीं होती, नये स्रोतों से उतना ही पानी और आ जाता है।

★ धन राम के पास भी था रावण के पास भी, भरत चक्रवर्ती के पास था, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पास भी था किन्तु राम और भरत चक्रवर्ती उस धन का सदुपयोग करने से मोक्ष को प्राप्त हुए, रावण और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती धन के दुरुपयोग से नरक में गये।

★ पापी प्राणियों का धन कभी पुण्य के काम में नहीं लगता, पुण्य कर्म में जिसका धन लग जाये समझो वही पुण्यात्मा है, पापी का धन पाप कार्यों में ही व्यय होगा।

★ न्यायपूर्वक सत्य व ईमानदारी से कमाया हुआ धन ही स्थिरता को प्राप्त होता है। अनीति, धोखाधड़ी, झूठ, बेईमानी से कमाया धन आता तो दिखता है किन्तु वह बिजली की चमक की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है।

★ उत्तम दाता दान देने के लिए समय की इंतजारी/प्रतीक्षा करता है, किन्तु समय कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करता।

★ अकाल/दुष्काल की चिन्ता वे करें, जिस देश में नवधा भक्ति व दाता के मूल गुण और उत्तर गुणों से युक्त श्रावक न हों।

★ जब तक विश्व में उत्तम दाता या त्याग धर्मा श्रावक हैं तथा वीतरागी संत विद्यमान हैं तब तक किसी भी प्रकार के प्रलय की आशंका नहीं करनी चाहिए।

★ यदि एक उत्तम साधक लाखों व्यक्तियों को धर्म मार्ग पर लगा सकता है तो एक उत्तम दाता सैकड़ों साधनों की साधना में सहयोगी साधक बन सकता है।

पूय फलेण तिलोए, सुर पुज्जो हवइ सुद्ध मणो।
दाण फलेण तिलोए, सार सुहं भुंज णियदं॥ आ. कुन्द-कुन्द

अर्थ— शुद्ध मन से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के फल से प्राणी देवताओं के द्वारा पूज्यता को प्राप्त होते हैं, तथा दान के फल से प्राणी नियम से तीन लोक में सार भूत सुख के भोक्ता होते हैं।

(17) निशंकित अंग

★ सच्चे देवशास्त्र गुरु व जिन धर्म के प्रति शंका नहीं करना ही निशंकित अंग कहलाता है।

★ जीवादि सात प्रयोजनभूत तत्वों में, छः प्रकार के द्रव्य व उनके प्रतिपाद्य स्वरूपों में, द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूपों में शंका का नहीं होना ही निशंकित अंग है।

★ तत्व यही है, ऐसा ही है, जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, अन्य नहीं है और अन्यथा भी नहीं है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान निशंकित अंग है।

★ जिस पर पानी चढ़ा हुआ है, ऐसी तलवार टूट सकती है पर झुकती नहीं, इसी प्रकार सत्य और असत्य का यथार्थ निर्णय कर, जिसने सत्य धर्म को, यथार्थ स्वभाव को जान लिया है उसका दृढ़ श्रद्धान होता है।

★ धर्म, धर्मात्मा, इष्ट देवता, आत्मा-अनात्मा के स्वभाव में शंका रहित है, वही निशंकित सम्यक् दृष्टि है।

★ अपने सम्यक्त्व को निर्मल व निशंकित करने के लिए अधिक ज्ञान की नहीं, निशंकित श्रद्धान की आवश्यकता है।

★ शंका रूपी एक छोटा चूहा भी सम्यक्त्व रूपी विशाल वृक्ष को क्षण भर में धराशायी कर सकता है; अतः अपने सम्यक्त्व को निशंकित बनाओ।

★ शंका रूपी सूक्ष्म छिद्र भी श्रद्धा रूपी अमल-निर्मल नीर से भरे हुए हृदय रूपी घट को अन्तर्मुहूर्त में खाली कर सकता है, अतः शंका रूपी छिद्र को बन्द करके अपनी श्रद्धा की नीर-निधि की सुरक्षा करनी चाहिए।

★ शंका रूपी बीट स्वादिष्ट क्षीरान्न को भी अभोज्य बना देती है, अतः शंका रूपी बीट से अपने क्षीरान्न रूपी हृदय पात्र की सुरक्षा करो।

★ जिस प्रकार पैर में चुभा कांटा, हृदय में चुभी कड़वी बात रूपी शल्य व्यक्ति के आनंद-शांति को नष्ट करने में समर्थ है, उसी प्रकार शंका रूपी शल्य सम्यक्त्व को मलिन करने में हेतु होती है।

★ जिस प्रकार संयमी जन अपने संयम रूपी अतुल निधि की रक्षा—विषय-कषाय, आरंभ, परिग्रह रूपी चोरों से करते हैं; उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि को अपने सम्यक्त्व की रक्षा कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, विधर्मी जनों या शंकालु व्यक्तियों से करनी चाहिए।

★ शंका एक ऐसा मधुर विष है, जिसका स्वाद तो मीठा लगता है किन्तु उसका विपाक श्रद्धा की मृत्यु ही है।

★ शंका के श्याम मेघ सम्यक्त्व के सूर्य को आच्छादित कर देते हैं अतः शंका के श्याम मेघों को उड़ाने के लिए शास्त्र स्वाध्याय रूपी पवन का चलना आवश्यक है।

★ शंका रूपी मंद पवन सम्यक्त्व रूपी ज्योति को झकझोर देती है। यदि सम्यक्त्व रूपी ज्योति की सुरक्षा नहीं की जाती है तो अंततोगत्वा वह सम्यक्त्व रूपी दीपक बुझ जाता है।

★ जब तुम किसी को शंका की दृष्टि से देखते हो, तो सामने वाला भी तुम को शंका की दृष्टि से देखेगा।

★ तत्वों में शंका करने वाला व्यक्ति स्वयं ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी पटकता है, अर्थात् स्वयं ही अपने सम्यक्त्व का कत्ल कर देता है।

★ शंका और सत्य दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। शंका होने पर सत्यता व सम्यक्त्व दोनों पलायन के लिए तत्पर हो जाते हैं।

★ शंका रूपी नींबू की बूंद भी सम्यक्त्व रूपी पूरे दूध को अल्प काल में ही खराब कर देती है।

★ जिस प्रकार कपट एवं स्वार्थ से मित्रता टूट जाती है उसी प्रकार शंका एवं कांक्षा सम्यक्त्व को नष्ट कर देती है।

★ सच्छिद्र अमृत कुंभ में भरा हुआ अमृत शनैः शनैः नष्ट हो जाता है उसी प्रकार शंका रूपी छिद्र से सम्यक्त्व रूपी अमृत निकल जाता है।



(18) निकांक्षित अंग

★ शंका कांक्षा की जननी है। कांक्षा/याचना तब ही की जाती है जब अपनी श्रद्धा और भक्ति पर विश्वास नहीं होता है।

★ शंका से उत्पन्न कांक्षा करने पर सम्यक्त्व मलिन हो जाता है, यदि मल को दूर न किया जाए, तो वह वस्तु (सम्यक्त्व) नष्ट हो जाती है।

★ कांक्षा करने वाला व्यक्ति भक्ति-पूजादि कार्य करके जिन भोग-विलासो की कामना करता है, वे ही भोग-विलास दुर्गति के हेतु होते हैं।

★ पाप-बीज के समान विषय-सुखों की याचना नहीं करना व निज स्वभाव की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहना ही निकांक्षित अंग है।

★ जिन इष्ट पदार्थो की तुम कांक्षा करते हो, वे इष्ट पदार्थ बिना पुण्योदय के तुम्हें प्राप्त नहीं होगे और न ही बिना पुण्य के कभी शाश्वत रह सकते हैं।

★ विषय भोगो की आकांक्षा करने वाला व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता खोकर पराधीनता स्वीकार कर लेता है। पराधीनता में कभी सुख नहीं होता।

★ जिन विषय-वासनाओं को भोगने के बाद दुःखों की प्राप्ति होती है, ऐसे विषय भोगों की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

★ पुण्य कर्म व पाप कर्म जीवन में धूप-छाया की तरह खेलते हैं, वे क्षण भगुर हैं, शाश्वत नहीं। अतः सम्यकदृष्टि का कर्त्तव्य है कि वह अविनश्वर शाश्वतावस्था को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थशील रहे।

★ कांक्षा से सहित सम्यक्त्व दोनों पैरों से रहित/विकलांग व्यक्ति के समान है, क्योंकि कांक्षा के साथ शंका रहती है। इसका अर्थ है—आधार रहित सम्यक्त्व।

★ जो पदार्थ बाह्य में मनोहर, सुखद प्रतीत होते हैं वे पदार्थ व विषय-सुख हलाहल विष के समान भयंकर दुखदायी होते हैं; अतः कभी भी उनकी आकांक्षा मत करो।

★ सर्प द्वारा डंसा हुआ मनुष्य तो एक ही भव में दुख पाता है, लेकिन विषय-भोगों द्वारा दंशित व्यक्ति अनेकों भवों में दुख पाता है।

★ विषय भोगों की आकांक्षा करने का आशय है, काली नागिन व विषधरों के साथ खेलने की चेष्टा करना। विषधर के साथ रहने से विष कीलित होना स्वभाविक संभव है; अतः कभी विषयों की आशा मत करो।

★ जो वस्तु बिना याचना व कांक्षा के मिलती है उसके लिए याचना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

★ भिखारियों जैसी प्रवृत्ति वाले पुजारी कभी अनंत की याचना नहीं करते क्योंकि अनंत को चाहने वाला कभी दूसरों से याचना नहीं करता।

★ दूसरों से सीमित वस्तुओं या पदार्थों को पा सकते हो शाश्वत पदार्थों या अविनाशी गुणादि की प्राप्ति मांगने से नहीं बिना मांगे, पर से नहीं निज से होती है।

★ कांक्षा सम्यग्दर्शन का अतिचार है। किन्तु कालान्तर में अतिचार भी अनाचार की ओर ले जाने में हेतु बन सकता है।

★ जिन्हें अपने सम्यक्त्वादि गुणों की सुरक्षा करना है तो उन्हें कभी दूसरों के सामने दीनों की तरह हाथ नहीं फैलाने चाहिए, याचना की भावना भी अत्यन्त दुःखदायी होती है।

★ जिस वस्तु को तुम माँग रहे हो क्या वह नष्ट नहीं होगी? क्या वह सदैव तुम्हारी रहेगी? क्या उसका भोग उपभोग नियम से तुम्ही करोगे? क्या माँगने से वह वस्तु मिल ही जायेगी? यदि उत्तर नहीं देते हो तो बताइए उसे मांगने से क्या लाभ ?



(19) निर्विचिकित्सा अंग

★ धर्म, धर्मात्मा व धर्म के फलों में ग्लानि या अरुचि का भाव न होना निर्विचिकित्सा अंग है।

★ यह शरीर स्वभाव से अपवित्र है किन्तु रत्नत्रय धर्म का पालन करने से पवित्र हो जाता है, ऐसे रत्नत्रय युक्त धर्म सहित शरीर से ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अंग है।

★ धर्म व चेतना के गुणों को पाने का इच्छुक शरीर को नहीं; गुणों को देखता है, उन्हीं में परम प्रीति को प्राप्त होता है।

★ पर्याय के बिना द्रव्य एवं द्रव्य के बिना गुणों का होना असंभव है। यह द्रव्य पर्याय विभाव रूप है तो भी हमें स्वभाव रूप गुणो को ग्रहण करने हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।

★ जो धर्मात्मा से ग्लानि करता है, वह मूर्ख अपने ही धर्म से ग्लानि करता है। क्योंकि धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं रह सकता।

★ धर्म का, गुणों का, स्वभाव का इच्छुक-पर-पदार्थों के माध्यम से धर्म, गुण व स्वभाव को देखता है व उन्हीं को प्राप्त करता है।

★ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चर्म के गुण-दोष देखकर राग-द्वेष नहीं करता। चर्म को देखने-चाहने वाला तो चर्मकार होता है।

★ निजात्मा की विशेष रूप से चिकित्सा करना ही निर्विचिकित्सा है। निज-कल्याण की भावना से रहित व्यक्ति निर्विचिकित्सा अंग का पालक नहीं हो सकता।

★ निर्विचिकित्सा अंग का धारक कभी किसी से द्वेष भाव नहीं रखता।

★ घृणा किसी व्यक्ति से नहीं करनी चाहिए, भले ही वह पापी हो उसे भी प्यार करो; किन्तु पापों के प्रति अनुराग मत रखो।

★ घृणा करने से पापी व्यक्ति की बुराई नहीं छूटेगी। अतः वात्सल्य युक्त होकर घृणा को जीतते हुए उसे सद्मार्ग में प्रेरित करना चाहिए।

★ कीचड़ में भी कमल खिल जाता है, दीपक में भी कालिमा आ जाती है, उसी प्रकार अपवित्र, मलिन व क्षणध्वंसी शरीर में भी गुणों का, तत्वों का व आत्मा का वास होता है।

★ सम्यक् दृष्टि चैतन्य के गुणों का ही ग्राहक होता है इसलिए उसकी दृष्टि चेतना की ओर होती है, नश्वर शरीर की ओर नहीं।

★ जहाँ धर्मात्माओं से ग्लानि व धनवानों की पूजा होती है, वहाँ धर्मात्माओं का लोप हो जाता है और धन की पूजा होने लगती है।

★ जो व्यक्ति मल-मूत्र, कफ-श्लेष्मा आदि पदार्थों से तो ग्लानि नहीं करता किन्तु धर्मात्मा से ग्लानि करता है, ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में धर्म व धर्मात्मा मल मूत्रादि गंदगी से भी निकृष्ट हैं।

★ संसार में अनन्तानन्त पदार्थ हैं, उनका स्वभाव भी भिन्न-भिन्न हैं, उन स्वभावों का समीचीन स्मरण रखते हुए गुणों में अनुराग करो।

★ संसार के पदार्थ न हेय हैं, न उपादेय, अपितु जैसे हैं वैसे ही रहेंगे। उनके प्रति 'ग्लानि-मोह' करना मूर्खता है अपनी दृष्टि समीचीन बनाते हुए निजात्मा को शुद्धात्मा बनाने का प्रयत्न करो।

★ हम अपने परिणामों के द्वारा पदार्थों को अच्छा बुरा निमित्त बना लेते हैं, यह हमारी कपोल कल्पना या भूल है। पदार्थ हमें पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग या संसार-मोक्ष नहीं देता।

★ ''जिसने अन्य प्राणी की आत्मा में विद्यमान धर्म को नहीं जाना उसका जीवन दुखों से परिपूर्ण है'' ऐसा मानना चाहिए। धर्म को जाने बिना धर्मात्मा को नहीं पाया जा सकता।

★ धर्म का दर्शन धर्म की आँखों से ही संभव है। वे आँखें यथार्थ धर्मात्मा के ही पास होती हैं। उनसे रहित यथार्थ धर्मात्मा नहीं होते, जो यथार्थ धर्मात्मा होते हैं। वे कभी किसी से ग्लनि नहीं करते।



(20) अमूढ़ दृष्टि अंग

★ मूढ़ का अर्थ है—मूर्खता। मूर्खता का न होना अर्थात् विवेकपूर्वक देखना ही अमूढ़ दृष्टि है।

★ सम्यक् दर्शन का अमूढ़ता (विवेकपूर्वक देखना, जानना) एक अंग है तथा विवेकपूर्वक बिना दृष्टिपात किये सम्यक्त्व प्राप्त करना व उसकी सुरक्षा कर पाना असंभव है।

★ जिस के पास हिताहित, कार्याकार्य, हेयोपादेय, लाभ-हानि, अच्छा-बुरा, श्रेयोमार्ग-अश्रेयो पथ की परख नहीं है, ऐसा व्यक्ति समीचीन मंजिल प्राप्त नहीं कर सकता है; अपितु मार्ग में ही भटकता रहता है।

★ अमूढ़ दृष्टि महापुरुष अपनी विवेकपूर्ण दृष्टि से देव-कुदेव, शास्त्र-कुशास्त्र, गुरु-कुगुरु, धर्म-कुधर्म, तत्व-कुतत्व का भली-भांति निश्चय व निर्णय करके ही सत्य को स्वीकार करता है।

★ अमूढ़ दृष्टि महापुरुष बिना परीक्षा किये धर्म, तत्व, देव, शास्त्र, गुरु व मोक्ष-मार्ग को नहीं अपनाता।

★ अमूढ़ दृष्टि पुरुष भय, आशा, स्नेह, लोभ व हास्य में भी सत्य मार्ग की उपेक्षा नहीं करता; अपितु सदैव सर्व प्रकारेणसत्य के लिए ही समर्पित रहता है।

★ आज संसार में अधिकांश जीव मूढ़ता के जाल में फंसे हुए हैं। उन्हें जाल से निकालने वाला भी अमूढ़ दृष्टि ही होना चाहिए, हजारों मूर्ख मिलकर भी बुद्धता जन्य कार्य नहीं कर सकते।

★ हजारों मूढ़ प्राणियों को अपना बनाने के लिए उनकी हाँ में हाँ मिलाना, असत्य को सत्य रूप में स्वीकार कर लेना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

★ अंधकार के समूह में प्रकाश, अज्ञानता के कारण से सद्ज्ञान, मूर्खों की गोष्ठी में विद्वता उसी प्रकार असंभव है जैसे—अग्नि में शीतलता, संसार में सुख, पुद्गल में चेतन रूप परिणाम।

★ लाखों मूर्खों को जो अपनी हठ ग्राहिता नहीं छोड़ सकते, समझाने में समय खराब करने से एक अमूढ़ दृष्टि को समझाना लाख गुणा बेहतर है।

★ यदि कोई मूर्ख प्राणी अपनी मूर्खता / मूढ़ता न छोड़े तो उसे समझाते समय हमें भी अपनी अमूढ़ता को नहीं छोड़ना चाहिए।

★ अमूढ़ता सम्यक्त्व की तथा मूढ़ता मिथ्यात्व की द्योतक है। स्व-पर को मूढ़ता छोड़कर अमूढ़ता ग्रहण करनी चाहिए।

★ अमूढ़ दृष्टि अंग का परिपालक कभी काम, क्रोध, लोभ व मोह के वशीभूत होकर अपने पद या सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

★ जो संयम रूपी उत्तम रत्न को प्राप्त करके भी उसके साथ खिलवाड़ कर रहे हैं उनसे अधिक मूढ़ संसार में और कौन हो सकता है ?

★ जो आत्मा के हित और अहित के बारे में निर्णय नहीं कर सकता, उसका संसार सम्बन्धी विवेक का प्रयोग हास्य का स्थान होता है।

★ दूसरे प्राणी को मूर्ख कहना, उसके हित-अहित की प्रवृत्ति व अकार्य-सुकार्यों की समीक्षा करना आसान है, किन्तु अपनी आत्मा में विद्यमान मूढ़ता/मूर्खता को खोज पानाँ आसान नहीं है।

★ जो व्यक्ति अपना प्रत्येक कार्य मूढ़ता से रहित होकर करता है, वह दूसरे मूढ़ प्राणियों की मूढ़ता को दूर करने में भी सफल हो सकता है।

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम्।
पावके न हि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये॥३०॥ क्ष.चू.

अर्थ— विपदाओं को दूर करने के लिए क्या मनुष्य का शोक समर्थ है? अर्थात् बिल्कुल नहीं है। गर्मी से होने वाले दुख को दूर करने के लिए अग्नि में प्रवेश करना उचित उपाय नहीं है।



(21) उपगूहन अंग

★ "उप गूहन" शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। प्रथम शब्द "उप" जिसका अर्थ है समीप एवं "गूहन" का अर्थ है छुपाना।

★ साधर्मी जनों से अज्ञानता से, प्रमाद से, व कषायवश हुई त्रुटियों को जन सामान्य में प्रकाशित नहीं करना, सम्यग्दृष्टि का उपगूहन नामक गुण है।

★ जिन दर्शन व जिनत्व की साधना आत्मा को पवित्र बनाने का परम पुनीत व अनुपम साधन है, इस साधना में बाल, वृद्ध एवं रोगी साधकों से या क्षीण शक्ति युक्त, असमर्थ साधकों से यदि कदाचित धर्म की विराधना भी हो जाये, तो उसे सबके सामने प्रकट न करना ही उपगूहन है।

★ जिस प्रकार एक माँ या पिता अपनी पुत्री से हुई चारित्र सम्बन्धी गलती को सबके सामने प्रकट नहीं करते अपितु छुपा लेते हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि महानुभाव जिनेंद्र भक्त सेठ की तरह उपगूहन अंग का पालन करता है।

★ उपगूहन अंग का पालन न करने वाला व्यक्ति अपने धर्म का स्वयं ही विघात करने वाला है।

★ साधर्मी की निंदा करने को—किसी भी शास्त्र में धर्म नहीं कहा और न ही एक यर्थाथ साधर्मी कभी दूसरे साधर्मी की निंदा करेगा।

★ दर्शन मोहनीय या चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कोई गलती होने पर जन सामान्य के सामने प्रकट करने वाला मिथ्यात्व व चारित्र मोहनीय कर्म का बंधक होता है।

★ धर्म व धर्मात्मा की निंदा करने वाला, प्राणी वध करने वाले से भी अधिक पापी है।

★ संसारी प्राणी के द्वारा गलती होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसके जीवन में संसार सम्बन्धी संस्कार अनादि काल से हैं अत: उस बेचारे की निंदा करके आप स्व-पर के अहित करने में निमित्त न बनें।

★ जिस प्रकार अपवित्र, अशौच, विष्ठादि पदार्थों को जन सामान्य के बीच में खुला नहीं छोड़ते, ढाँक देते हैं, उसी प्रकार दोषों को ढाँकना ही श्रेष्ठ है।

★ छिद्रान्वेषी, दुराशयी एवं धर्म भावना से हीन व्यक्ति दोषोद्घाटक होते हैं, विज्ञ, सज्जन, साधुजन, व धर्मज्ञ पुरुष तो दोषोच्छादक ही होते हैं।

★ दोषों का उद्घाटन करने से उनकी बदबू सारे वातावरण को दूषित बना देती है, अत: गन्दगी ढाँक करके रखें तथा उसे गुप्त रीति से दूर कर दें।

★ क्या आप अपनी निंदा सुनकर प्रसन्न होते हैं? यदि नहीं तो फिर आप दूसरों की निंदा क्यों करते हो?

★ जो मानव कभी किसी धर्म व धर्मात्माओं की या किसी भी प्राणी की निंदा नहीं करता है, वह मेरी दृष्टि में निंदा करने वाले धर्मात्माओं (धर्म के ठेकेदारों) से बहुत आगे है।

★ जो गुणों की प्रशंसा करके देवायु के बंध करने में या पुण्य कमाने में असमर्थ हैं, वे ही मानव गुणी जनों की निंदा करके पापों को कमाते हैं व नरक में जाते हैं।

★ आज का मानव दूसरों के अणु बराबर दोषों को सहन नहीं कर पा रहा है जबकि उसमें स्वयं सुमेरु पर्वत के बराबर दोष भरे हैं।

★ यदि हमें प्रकट करना ही है तो दूसरों के गुणों और अपने दोषों को प्रकट करें, दूसरों के गुणों की प्रशंसा हमें गुणों का सागर एवं स्वयं के दोषों की निंदा हमें दोषों से रिक्त बना देती है।

★ उपगूहन शब्द का दूसरा नाम उपबृंहण भी होता है। जिसका अर्थ है दूसरों की गुण प्रशंसा व स्वात्म निंदा।

★ जिस प्रकार नीम को चबाने से कभी मुख मीठा नहीं होता उसी प्रकार दोषों की चर्चा, धर्मात्माओं की निंदा एवं धर्म पर दोषारोपण करना स्वयं के जीवन को दुःख सिंधु बनाना है।

★ भूखे रहकर वर्षों तक की साधना करना अलग है किन्तु इससे भी बढ़कर बात है कि सदैव धर्मात्मा एवं गुणी जनों की प्रशंसा करना/दूसरों के दोषों को ढाँकना एवं आत्म निंदा करना।

★ यदि धर्म सहित्य में से उपगूहन अंग को निकाल दिया तो धर्म की वही अवस्था होगी जो रीढ़ की हड्डी के बिना मनुष्य की, कमानी से रहित घड़ी की, बैरिंग / चक्कों से रहित वाहनों की होती है।

★ मेरा सुझाव तो यही है कि धर्म करने के पूर्व में यही संकल्प लें कि मैं जीवन में कभी भी किसी साधर्मी की या यथार्थ धर्मी की निंदा नहीं करूँगा।

ततो व्यापत्प्रतीकारं धर्ममेव विनिश्चिनतु धर्मं।
प्रदीपैर्दीपते देशे न हि अस्ति तमसो गतिः ॥३१॥ क्ष.चू.

अर्थ— धर्म ही दुःख का प्रतीकार करता है, इसलिए सदैव उसी का चिन्तवन/संग्रह करना चाहिए, क्योंकि जहाँ दीपक का प्रकाश होता है वहाँ अंधकार की स्थिति/गति नहीं होती है।

* * *

वैराग्य सारं भज सर्व कालं, निर्ग्रंथ संगं कुरु मुक्ति बीजं।
विमुञ्च संगं कुजनेषु मित्रः, देवार्चनं त्वं कुरु वीतरागे॥

अर्थ— जीवन के सार भूत वैराग्य को सर्वकाल सेवन करो। मुक्ति बीज स्वरूप निर्ग्रंथ साधुओं की संगति करो, दुर्जन मित्रों की संगति को छोड़ दो, और तुम वीतरागी जिनेन्द्र देव की अर्चना करो।

(22) स्थितिकरण अंग

★ स्थिति करण का आशय है स्थिर कर देना, यदि कोई जीव धर्म में अस्थिर है तो उसे स्थिर कर देना।

★ स्थिति करण अंग उपगूहन अंग का अविनाभावी है क्योंकि एक के बिना दूसरा अपूर्ण होता है।

★ धर्म रक्षा हेतु जो साधर्मी बन्धुओं के दोषों को ढाँकते हैं उनके लिए इतना करना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उन्हें सम्यक्त्व व सम्यक चारित्र से चलायमान धर्मात्माओं को हित, मित, प्रिय एवं विनम्र शब्दों द्वारा समझा कर उसी पद में स्थिर कर देना चाहिए।

★ यथार्थ धर्मात्मा वही है जो अन्य साधर्मी बन्धुओं का स्थिति करण करने के पूर्व अपने आप का स्थिति करण करता है।

★ अपनी दाढ़ी में लगी आग बुझाने वाला ही दूसरे पुरुष (मित्र) की दाढ़ी की आग भी बुझा सकता है अर्थात् पहले स्व का स्थिति करण हो बाद में ही पर का स्थितिकरण संभव है।

★ स्थितिकरण अंग का पालन उपगूहन व वात्सल्य पूर्वक धर्म रक्षा के लिए हो, प्रशंसा, पूजा, लाभ, पद प्रतिष्ठा आदि के लिए नहीं।

★ स्वस्थिति करण (स्वस्थ स्थिति करण) हो परस्थिति, परस्थ स्थिति करण नहीं।

★ स्थितिकरण अंग का यथार्थ पालन, माँ जैसा वात्सल्यवान, व आचार्य (गुरु) जैसा करूणावान ही कर सकता है।

★ बिना स्थिति करण अंग का पालन किये जैन धर्म का अस्तित्व टिक नहीं सकता और न ही कभी धर्म की प्रभावना एवं स्व-पर हित ही संभव है।

★ धर्मोपदेश देकर, त्याग व तपस्या करके, ज्ञान शिविर व ध्यान लगाकर या जिन पूजा करके, सत्पात्रों को दान देकर, धर्म की प्रभावना करने के पूर्व आवश्यक है साधर्मी जनों का स्थितिकरण करना।

★ स्थिति करण करने वाले को सहनशील, विनम्र, बुद्धिमान, कार्य कुशल, वात्सल्य से परिपूर्ण, उपगूहक सरल एवं क्षमावान होना अनिवार्य है।

★ जिस प्रकार किसान अपनी लहलहाती हुई फसल की, व्यापारी अपनी निधि / सामान की, माँ अपने गर्भस्थ शिशु की, गृहणियाँ अपने पकवानों की / भोजन सामग्री की, मुनिराज अपने परिणामों की संभाल करते हैं, उसी प्रकार स्थिति करण अंग का पालन करने वाला होना चाहिए।

★ स्थिति करण अंग का पालन करना—प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का अनिवार्य कर्तव्य है, सम्यक्त्व का अविनाभावी गुण है, यह किसी पर अहसान करने की क्रिया नहीं है।

★ अलमारी से गिरते हुए काँच के बर्तन को जमीन पर गिरने से पूर्व बीच में ही हाथ में ले लेने से वह टूटने से बच जाता है, पर्वत से गिरते हुए किसी प्राणी को कोई बीच में ही थाम ले तो वह भी बच जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व व सम्यक् चारित्र से किसी धर्मात्मा व्यक्ति को कोई संभाल ले तो वह भी भव भ्रमण / संसार पतन से बच सकता है।

★ जिस प्रकार एक माँ अपने बेटे को कुंऐ में गिरता हुआ नहीं देख सकती अपितु अपने सब कार्यों को छोड़कर उसे बचाती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि यथार्थ धर्मात्मा भी किसी साधर्मी को धर्म से गिरते हुए नहीं देख सकता, अपितु अपने सब कार्यों को छोड़कर उसे बचाता है।

★ गरीबों को धन देकर उपकार करने वाले, रोगियों को निशुल्क औषधि देकर आरोग्य / निरोगी बनाने वाले, अक्षर का ज्ञान सिखाने वाले, भूखे को भोजन, प्यासे को पानी पिलाने वाले, असहाय को सहारा देने वाले, घर विहीन को आवास देने वाले पुरुष संसार में धन्य व श्रेष्ठ कहे जाते हैं किन्तु उनका नाम श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेणी में उन पुरुषों से पीछे ही आता है जिन्होंने सम्यक्त्व व सम्यक् चारित्र से अर्थात् धर्म से चलायमान पुरुष का स्थिति करण किया है।

★ यदि संसार में स्थितिकरण करने वाले पुण्यात्मा महापुरुष न हों तो संसार में न तो कोई धर्मात्मा रह सकता है और न ही कोई धर्म।

★ जो महापुरुष कठोर साधना, दुर्द्धर तप व आत्म ध्यान करके अपनी आत्मा को निर्मल बना रहे हैं, यदि वे भी स्थिति करण अंग से हीन हैं, तो मेरी दृष्टि में वे उन महापुरुषों से पीछे हैं जिन्होंने स्व-पर का स्थितिकरण करके निज स्वरूप को पा लिया है।

★ मार्ग में चलने वाला व्यक्ति गिरता ही है, यदि जो गिरने से डरे तो कभी चलना ही न सीख सके, नदी में तैरना दूर खड़े होकर नहीं अपितु नदी के गहरे पानी में उतर कर ही सीख सकते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व व सम्यक् चारित्र में कदाचित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार दोष भी लगते हों फिर भी सम्यक्त्व व सम्यक् चारित्र को ग्रहण करना चाहिए।

★ जिसने व्रत, तप, नियम, संयम, उपवासादि ग्रहण किये हैं, उसी के व्रतों नियमों, संयम में अतिचारादि दोष संभावित हैं, जिसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित का विधान है, जिसने व्रतादि लिए ही नहीं वह असंयमी है, उसके अतिचारादि कहाँ?

★ असंयमी अधर्मात्मा है, पापी है, निकृष्ट है, इसकी अपेक्षा सातिचार व्रतों का पालन करने वाला देश-संयमी बहुत अच्छा है।

★ अस्थिर वस्तु किसी अन्य वस्तु की स्थिरता में कारण नहीं बन सकती, यथा चंचल तन में मन स्थिर नहीं हो सकता, चंचल जल में प्रतिबिम्ब स्थिर नहीं हो सकता।

★ धन, तन, वचन, मन तो स्थिर रहते नहीं, कम से कम जो स्थिर रहने वाली आत्मा है उसे ही अपने स्वभाव या धर्म में स्थिर कर लो।

★ यह संसारी प्राणी नाशवान् / अस्थिर / क्षणध्वंसी या अनित्य पर्यायों को तो स्थिर रखना चाहता है, किन्तु स्थिर आत्मा व शाश्वत निजी स्वभाव से बेखबर है।



(23) वात्सल्य अंग

★ जिस प्रकार धेनु का वत्स के प्रति जो राग / प्रेम भाव होता है, उसी प्रकार का निस्वार्थ व निश्छल प्रेम साधर्मी के प्रति होना वात्सल्य अंग है।

★ माता-पिता का अपने पुत्रों के प्रति, भाईयों का अपने भाई-बहिनों के प्रति, या जीवन साथी (गृहस्वामी) का गृहिणी के प्रति जो राग होता है, वह वात्सल्य नहीं मोह कहलाता है।

★ स्वार्थ भाव से किया गया राग, छल कपट से किया गया प्रेम व्यवहार, अथवा मान सम्मान के लिए की गई प्रतिक्रिया वात्सल्य नहीं कही जा सकती।

★ वात्सल्य धर्मरूपी रथों की धुरी में डाला गया वह तेल / स्निग्ध है, जिसके बिना धर्म का रथ चलाना कठिन है, कदाचित् चलेगा भी तो बहुत बहुत आवाज (चर्र-चर्र-चर्र्रर्र ---) करेगा या बिना स्निग्धता के धुरा ही टूट जायेगा।

★ वात्सल्य अंग दीपक में पड़ा हुआ तेल है तो उसकी प्रज्वलित ज्योति है धर्म प्रभावना।

★ जिन्होंने कभी उदारता, गंभीरता, सहजता व सहनशीलता से युक्त होकर अपने सरल हृदय से वात्सल्य की गंगा नहीं बहायी, वह दूसरों के वात्सल्य की समीचीन कीमत नहीं कर सकते।

★ वात्सल्य (वात्सल्य भाव) सम्यग्दृष्टि चेतना का गुण है, वह चेतना में ही पैदा होता है और चैतन्यों के लिए ही दिया जाता है।

★ वचनों से चिकनी-चुपड़ी बातें करना या शरीर से आदर-सत्कार करना इतने मात्र का नाम वात्सल्य नहीं अपितु साधर्मी के गुणों को देख कर उन्हें प्रोत्साहित करने की भावना या प्राप्ति का भाव ही वात्सल्य है।

★ सम्यक्त्व से रहित कोरा प्रेम-वात्सल्य दिखाना अपनी आत्मा को ठगना है, तथा सम्यक्त्व प्राप्त करके भी वात्सल्य न देना अपनी आत्मा का घात करना है।

★ "कोई भी वात्सल्य नहीं देता" ऐसा कहकर दूसरों की निंदा क्यों करते हो? अपनी तरफ क्यों नहीं देखते कि मेरे पास ऐसा कौन-सा गुण है जिससे वह वात्सल्य दे।

★ वात्सल्य पाने के लिए अपनी आत्मा को गुणों का सागर बनाओ इसके बिना दूसरों का कोरा वात्सल्य पा लेना अर्थहीन ही है।

★ मिथ्यादृष्टि वात्सल्य न मिलने पर दूसरों को दोष देता है जबकि सम्यग्दृष्टि अपने अन्दर ही गुणों को प्रकट करने का सद्पुरुषार्थ करता है।

★ आजकल वात्सल्य अंग पर पल्लवग्राही पाण्डित्य से अच्छा प्रवचन देना बहुत सरल हो गया है, किन्तु दूसरों को वात्सल्य दे पाना बड़ा कठिन दिखता है।

★ वात्सल्य अंग से परिपूर्ण धर्मात्माओं का आज सर्वथा अभाव नहीं है फिर भी उनकी संख्या है तो बहुत कम। काश ! हम स्वयं दूसरों को निस्वार्थ, निश्छल प्रोत्साहन व वात्सल्य देकर इनकी संख्या में वृद्धि करने का पुरुषार्थ कर सकें तो संख्या में वृद्धि भी संभव है।

★ वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध विष्णु कुमार मुनि अष्टम बलभद्र राम आदि महापुरुषों की, धर्मराज युधिष्ठर, आ. शांति सागर जी, विमल सागर जी आदि महापुरुषों की कथाऐं सुनना सुनाना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु वात्सल्य अंग की सफलता स्वयं के जीवन में वात्सल्य की गंगोत्री पैदा करने में ही है।

★ वात्सल्य अंग का भण्डार भी सरस्वती के भण्डार की तरह अनंत अनुपम है, जितना बाँटते जाओ उतना ही बढ़ता है किन्तु खर्च न करने पर या नहीं बाँटने पर सूखना प्रारम्भ हो जाता है।

★ जिस प्रकार अपने पुत्र को देखते ही वात्सल्य वश माँ के स्तनों से दूध झरने लगता है, उसी प्रकार साधर्मी को देखकर साधर्मी के हृदय में वात्सल्य भाव उमड़ने लगता है।

★ जिस प्रकार मूसलाधार वर्षा होते ही सरोवरों व नदी, नालों में पानी का पूर उमड़ने लगता है, उसी प्रकार संतों के प्रवचनोपरांत या स्वाध्यायोपरान्त साधर्मियों के हृदय सरोवरों में भी वात्सल्य का पूर उमड़ने लगता है।

★ पूर्ण मासी के दिन (चन्द्रमा / मास की पूर्णता होने पर) समुद्र में पानी बढ़ने लगता है, समुद्र बहुत उमड़ता है, उसी प्रकार की सम्यक्त्व की पूर्णता होने पर हृदयोदधि में भी वात्सल्याम्बु उमड़ने लगता है।

★ जिनके हृदय कमल मुरझा गये हों, वात्सल्य की गंध मर चुकी हो, परिग्रह पंक में लिप्त हो चुके हों, स्वार्थ भावना की पूर्ति में तत्पर हों, वासना की पिशाची व कषायों के जाल में जो जकड़े हों तो समझना चाहिए कि वहाँ सम्यक्त्व रूपी सूर्य अस्त हो चुका है और मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम का तिमिर व्याप्त हो चुका है।

★ जो धर्मानुराग वश यथार्थ साधर्मियों से वात्सल्य नहीं कर पाते उनके श्रावकत्व और श्रमणत्व को धिक्कार है।

★ वात्सल्य गुण रूपी नीर से परिपूरित हृदय रूपी कुंआ एक ऐसा कुंआ है, जो वात्सल्य रूपी नीर निकालने से तो कभी खाली नहीं होता, किन्तु बिना निकाले खाली हो जाता है।

★ वात्सल्य गुण से रहित व्यक्ति को धर्मात्मा कहना उसी प्रकार असंगत है, जिस प्रकार अग्नि को संताप हारिणी, पुत्र की हत्या करने वाली को ममता की मूर्ति कहना या बंध्या को जननी कहना, पर्याय को नित्य व द्रव्य को अनित्य कहना।

सच्चु जि सव्वहं धम्महं पहाणु, सच्चु जि महियं लिगरूड विहाणु।
सच्चु जि संसार समूह सेउ, सच्चु जि सव्वहं भण सुख हे उ॥ रइधुकवि

अर्थ— सत्य सब धर्मों में प्रधान है, सत्य महीतल पर सबसे बड़ा विधान है, सत्य संसार समुद्र से तारने के लिए पुल के समान है, सत्य सब जीवों के मन में सुख उत्पन्न करने का हेतु है।

(24) धर्म प्रभावना

★ धर्म प्रभावना सम्यक् दर्शन का एक अंग है, सम्यक् दर्शन व सम्यक् दृष्टि एक दूसरे के अविनाभावी हैं।

★ जो स्थान शरीर के आठ अंगों में सिर का है, वही स्थान सम्यक् दर्शन के आठ अंगों में धर्म प्रभावना का है।

★ संसार में व्याप्त मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के अंधकार को जिन पूजा, गुरु उपासना, साधर्मी सेवा, सत्पात्रों को दान देकर एवं धर्मोपदेश से दूर करना ही धर्म प्रभावना है।

★ धर्म की प्रकृष्ट भावना का होना जिससे सामने वाला व्यक्ति भी प्रभावित हो उसे ही धर्म प्रभावना कहते हैं।

★ हम अपने धर्म का पालन इस प्रकार करें जिससे सामने वाला व्यक्ति भी धर्म करने को आतुर/तत्पर हो जाये।

★ धर्म की अप्रभावना से बच जाना ही धर्म प्रभावना का प्रथम सोपान है।

★ हित-मित, प्रिय सम्भाषण भी दूसरे के हृदय में व्याप्त संक्लेशता, अशांति, मिथ्यात्व व अज्ञानता का हरण करने वाला होना चाहिए।

★ हमारे दैनिक क्रिया कलाप भी धार्मिकता से युक्त हो सकते हैं, जो धार्मिकता से रिक्त हैं, वे धर्म के विध्वंसक है।

★ जब तक अपनी आत्मा ही धर्म से प्रभावित न हो पाये, तब तक दूसरों की आत्मा को धर्म हेतु प्रभावित करना निराधार प्रभावना है।

★ निर्मल मन से स्व-पर का कल्याण हेतु किया हुआ विचार ही धर्म प्रभावना का हेतु है।

★ यथार्थता, सत्यता, विषय कषायों से रहित व्रताचरण रूप की गई प्रवृत्ति ही धर्म प्रभावना की जननी है।

★ जिनेन्द्र भगवान की पूजा, विधान, जुलूस, रथयात्रा, विमानोत्सव आदि कार्य क्रम यदि अनुशासित हैं, निस्वार्थ भावना से, अहकार से रहित होकर किये जाते हैं, तो वह क्रिया भी अपूर्व धर्म प्रभावना की द्योतक है।

★ दिगम्बर संत के द्वारा की गई तपस्या, त्याग, ज्ञान, ध्यान, अध्ययन, प्रवचन एवं निष्पृह व निष्परिग्रह वृत्ति भी धर्म प्रभावना की नींव है।

★ सम्यक् दृष्टि जीव धर्म प्रभावना के लिए तन, मन, धन, सब कुछ समर्पण करने के लिए तत्पर रहते हैं, मिथ्यादृष्टि जीव धर्म प्रभावना के नाम से जी चुराते हैं।

★ धर्म, धर्मायतनों व धर्म ग्रंथों की रक्षा करना धर्मात्मा का प्रथम कर्तव्य है, इसके बाद ही धर्म पभावना का कार्य संभव हो सकता है।

★ धर्म का यथार्थ स्वरूप ममझे बिना समीचीन धर्म प्रभावना करना असंभव है।

★ धर्मात्मा प्राणी धर्म प्रभावना के लिए पाप करता नहीं, कदाचित् श्रावक के व्रतों में अबुद्धि पूर्वक शिथिलता आ सकती है।

★ रंच मात्र सावद्य कदाचित् महती धर्म प्रभावना में ग्राह्य भी हो सकती है। किन्तु धर्म प्रभावना की आड़ लेकर मनमानी करना या पापों में स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति करना, धर्म के साथ खिलवाड़ है।

★ धर्म प्रभावना करना प्रत्येक धर्मात्मा का कर्तव्य है, इसे दूसरे व्यक्तियों पर टालना, धर्म व धर्मात्मा को धोखा देना है।

★ हे आत्मन् ! तूने व्यवहार धर्म की प्रभावना में तो दीर्घकाल निकाल दिया, अब कम से कम आत्मा की भावना ही संभाल।

★ हे प्रभावना करने के इच्छुक महानुभाव ! यदि तुम अपनी भावनाओं को प्रकृष्ट, धर्ममय बना लो, तो तुम्हारे द्वारा की गई धर्म प्रभावना सार्थक है।

★ जिस कार्य के करने से स्व-पर आत्मा के परिणाम प्रकृष्ट भाव/विशुद्धि या धर्मावस्था को प्राप्त न हों, उस कार्य से धर्म प्रभावना की कल्पना करना मूर्खता है।

(25) दर्शन विशुद्धि भावना

★ दर्शन का अर्थ है, देखना। किन्तु यहाँ चर्म चक्षुओं से देखने को दर्शन नहीं कहा, अपितु समीचीन दर्शन / सम्यक दर्शन, समीचीन श्रद्धा को ही दर्शन कहा है।

★ सम्यक दर्शन की विशुद्धि का बार-बार चिंतन करना व प्रयत्नशील रहना ही दर्शन विशुद्धि है।

★ सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, जिन धर्म पर उनके स्वरूप को भली भांति जानते हुए श्रद्धान रखना सम्यक् दर्शन है अथवा प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य व उनके स्वभाव पर ज्यों का त्यों श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है।

★ दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक प्रकृति) व अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियाँ (क्रोध, मान, माया, लोभ) इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय तथा यथानुरूप क्षयोपशम होने की अवस्था सम्यक् दर्शन है।

★ परपदार्थों से पृथक अपनी आत्मा का व उसके स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान व लीनता की रुचि ही सम्यक् दर्शन है।

★ सम्यक् दर्शन की विशुद्धि, निशंकित आदि आठ अंगों का पूर्ण परिपालन व संवेग आदि आठ गुणों को धारण करने से व शंकादि पांच अतिचार एवं मूढ़ता आदि सर्वदोषों से रहित होना ही विशुद्धि है।

★ वह सम्यक् दृष्टि सुधी श्रावक या श्रमण अहर्निश अपनी समीक्षा, अपने परिणामों का अवलोकन करता रहे कि मेरा सम्यक्त्व किसी प्रकार मलिन तो नहीं हो रहा है एवं उसमें प्रतिसमय विशुद्धि को वृद्धिगत करने हेतु प्रयासरत रहे।

★ निशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य व धर्मप्रभावना ये उक्त सम्यक् दर्शन के आठ अंग है। जैसे अपने शरीर में आठ अंग होते हैं, वैसे इनमें से किसी एक अंग का भी अभाव होने पर वह विकलांग सम्यक्त्व मोक्ष देने में असमर्थ है।

★ संवेग, निर्वेग, आत्मनिंदा, आत्मगर्हा, जिनभक्ति, उपशम, प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ गुण है, जिनके होने से सम्यक्त्व सुशोभित है। यथा अलंकार, आभूषण व श्रृंगार विहीन सधवा, सौभाग्यशाली युवती अशोभनीय होती है, उसी प्रकार गुण रहित सम्यक्त्व शोभाविहीन हो जाता है।

★ प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चार गुण सम्यक्त्व के उसी प्रकार अविनाशी गुण हैं, जैसे अरिहंत परमेष्ठी के पास अनन्त चतुष्टय होता है। प्रशमादि गुणों से रहित श्रद्धान सूखे वृक्ष के तुल्य है।

★ दर्शन विशुद्धि भावना भाने वाला सुधी श्रावक आठ मद, सात भय, छह अनायतन, पांच अतिचार, सात व्यसन, तीन मूढ़ता, आठ शंकादि दोष, अभक्ष्य सेवन, अनीति, अनाचार का भी परित्यागी नियम से होता है।

★ तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत सोलह कारण भावना में यह 'दर्शन विशुद्धि' नाम की प्रथम भावना है इसके सद्भाव में ही अन्य पन्द्रह भावनाएं सम्भव हैं। इसके बिना शेष भावनाएं समीचीन रूप से फलित व भावित नहीं हो सकतीं।

★ दर्शन की विशुद्धि मात्र दर्शन विशुद्धि नहीं है, अपितु दृष्टि की निर्मलता का नाम है—दर्शन विशुद्धि।

★ दर्शन में विशुद्धि का कारण है—निरन्तर स्वाध्याय, तत्व चिंतन, संत समागम व जिन भक्ति।

★ दृष्टि की निर्मलता हुए बिना दर्शन की विशुद्धि असंभव ही है। दृष्टि कारण है, दर्शन कार्य। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

★ दृष्टि की मलिनता दृश्यमान वस्तुओं को भी मलिन बना देती है, यद्यपि वे पदार्थ वास्तव में मलिन नहीं होते, अतः दृश्यमान पदार्थों को नहीं अपनी दृष्टि को बदलो।

★ सम्यक् दर्शन किसी दुकान या बाजार में मिलने वाली वस्तु नहीं अपितु वह तो आत्मा की भूमि पर हृदय की निर्मलता व सद्विवेक रूपी खाद पानी से सिंचित हृदय में उत्पन्न स्वयं की श्रद्धा है।

★ अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठियों पर श्रद्धा रखना तो बहुत आसान है परन्तु स्वयं की आत्मा पर व उसके स्वरूप पर श्रद्धा रखना बहुत कठिन है।

★ समीचीन मार्ग को देखने का नाम है—दर्शन। सदैव उसपर दृष्टि बनाये रखना कि कोई उस पर गंदगी तो नहीं डाल रहा है, यदि डाले तो उस कंटकादि को तुरन्त दूर करना दर्शन विशुद्धि है।

★ दूसरे के द्वारा डाले गये कूड़े-कचरे को दूर किया भी जा सकता है, परन्तु स्व के द्वारा उत्पादित गंदगी हमें गंदगी रूप नहीं भासती। किन्तु वह भी गंदगी ही है।

★ समीचीन दृष्टि होने पर अपने मार्ग में पड़े कांटों को दूसरे के मार्ग में नहीं फेंका जाता, अपितु उन्हें उठाकर कांटों में ही डाल दिया जाता है।

★ हिये की आंखों पर मोतिया बिन्दु, काला पानी या जाल जैसा मल न जम पाये अत: त्रिफला के जल या गुलाब जल डाले जाने के समान निज के सम्यकत्व की स्वकीय दृष्टि की सफाई करते रहना एवं प्रत्येक प्राणी मात्र को वह निर्मल ज्योति प्राप्त हो, ऐसी भावना रखना ही दर्शन विशुद्धि भावना है।

★ जैसे तमोली अपने पानों को, माली अपने पुष्पों को, कुंजड़े सब्जी / फलों को निरन्तर देखते रहते हैं, उसी प्रकार सम्यक दृष्टि जीव अपनी दृष्टि (सम्यक् दर्शन रूपी नेत्र) को सतत देखते रहते हैं कि कहीं वह मलिन तो नहीं हो रहा है।

★ जितना समय, श्रम, तन, मन, धन—शरीर आदि वस्तुओं की सुरक्षा में लगाते हो, उतना समय, श्रमादि उपयोग सम्यकत्व व संयम के प्रति लगा दो तो संसार में कंगाल बने क्यों घूमो?

★ हे माताओं ! जितना ध्यान तुम साग, सब्जी आदि खाद्य पदार्थों के लिए रखती हो कि अमुक वस्तु खराब न हो जाए यदि उतना ध्यान अपने परिणामों के सुधारने में रखो तो तुम्हें स्त्री जैसी निंद्य पर्याय क्यों मिले ?

★ हे मीत ! अपने सम्यकृत्व की रक्षा सदा प्रसूता मां के द्वारा निज सुत के लिए की गई रक्षा के समान करना चाहिए, यदि तुम निज कल्याण करने की अभीप्सा रखते हो तो।

हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारह दोस वज्जिऐ देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥ आ.कुन्द-कुन्द स्वामी

अर्थ— हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में, निर्ग्रंथ व जिन प्रवचन में श्रद्धान रखना सम्यक्त्व कहलाता है।

* * *

वरं नरक वासोऽपि, सम्यक्त्वेन समायुतः।
न तु सम्यक्त्व हीनस्य, निवासो दिवि राजते॥ सोमदेवाचार्य

अर्थ— सम्यक्त्व से युक्त हो नरक में वास करना श्रेष्ठ है, किन्तु सम्यक्त्व हीन होकर स्वर्ग में निवास करना अच्छा नहीं है।

* * *

साधु रूपं समालोक्य न मुञ्चत्यासनं तु यः।
दृष्टापमन्यते यश्च, स मिथ्या दृष्टि रुच्यते॥ आ. रविषेण जी.

अर्थ— जो प्राणी साधु को सामने से आता हुआ देखकर भी अपने आसन को नहीं छोड़ता, प्रत्यक्ष में देखकर भी अपमान करना है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि होता है।

(26) विनय सम्पन्नता भावना

★ वि = विधा, न = नष्ट करे, य = यम / काल अर्थात् जो विधा या कला यम का संहार करे वह विनय कहलाती है।

★ यम से अर्थ संसार में हो रहे जन्म मरण से है। विशेषताओं की ओर ले जाने वाले वाहन का नाम ही विनय है।

★ वि = विश्वास, विवेक, विराग, विधा, विजय, विभव, विशुद्धि, विज्ञान, *विधा, विधि, विराटता, विद्वता, विशालता, विकास, विरस, विरूप,* विवर्ण, विगंध, विदेह, विकर्म, विकल इत्यादि गुणों की ओर नय = ले जाए, वह विनय कहलाती है। विनययुक्त प्राणी इन गुणों को पाकर स्वयं सम्पन्न हो जाता है, फिर कभी विपन्न नहीं होता।

★ विनय सम्पन्नता त्रिलोकातिशयी तीर्थंकर प्रकृति के बंध कराने में कारण है। विनय ही सब गुणों को प्राप्त करने का मार्ग है।

★ जिस पुरुष के अंदर विनय गुण नहीं है, फिर उसके पास है ही क्या? जिसे पाने के लिए तुम उसके पीछे दौड़ रहे हो।

★ अज्ञ पुरुष ज्ञान या तपादि के मद में इतने मूढ़ हो जाते हैं कि "वे स्वाभिमान की संज्ञा अपने मद को दे देते हैं।" स्वाभिमान व मद में बहुत अंतर है।

★ जिस पुरुष ने विनय गुण को प्राप्त नहीं किया, उस पुरुष के उपलब्ध हुए गुणों को भी नष्ट ही जानो। विनय गुणों का आधार है। विनय बिना गुणों को वैसे ही जानो जैसे पेंदे से रहित बाल्टी में भरा जल।

★ जिस प्रकार लोहा, तांबा आदि धातुओं को अपनी ओर खींचने वाली चुम्बक होती है, उसी प्रकार गुणों को खींचने वाली या आकर्षित करने वाली चुम्बक यदि लोक में कोई है, तो वह है "विनयसम्पन्नता" गुण की उपलब्धि।

★ विनय से रहित सम्पन्नता सम्पन्नता नहीं, अतिपु विपन्नता है। विनय से सम्पन्न होना विनय सम्पन्नता भावना है। अपनी सम्यक् सम्पन्नता के बारे में विचार करना ही विनय सम्पन्नता भावना है।

★ हे आत्मन ! यदि तुम तीर्थंकर बनने की कारणभूत 16 कारण भावनाओं को नहीं भा सकते तो न भाओ। समीचीनता युक्त विनय सम्पन्नता भावना को भाने से भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

★ विनय सम्पन्नता भावना भाने से शेष पन्द्रह भावनाएं भी भावित ही समझो किन्तु सम्यकत्व रहित उत्कृष्ट भावना से सहित पन्द्रह भावनाएं भी भाते हो तो व्यर्थ ही समझो।

★ विनय सम्पन्नता मोहिनी विद्या या वशीकरण मंत्र है जिसके माध्यम से शत्रुओं को भी मित्र बनाया जा सकता है। इतना ही नहीं आत्मा को परमात्मा भी बनाया जा सकता है।

★ विनय सम्पन्नता भावना में शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। अविनय में शक्ति का ह्रास ही होता है।

★ विनयशील व्यक्ति अपने प्रति अभद्र व्यवहार करने वालों के प्रति भी विनम्र भाव ही रखते हैं, अभद्र के साथ में वह अभद्र नहीं होते।

★ विनय गुण से आत्मा में सम्पन्नता आती है। इस सम्पन्नता की प्राप्ति बिना तत्त्व चिंतन के नहीं होती, ज्यों-ज्यों तत्त्व चिंतन में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों विनय में भी वृद्धि होती है।

★ विनय सम्पन्न मनुष्य किसी भी प्राणी के प्रति अविनय, तिरस्कार, अपमान, बहिष्कार जैसे परिणाम नहीं रखता। यदि दीर्घकाल तक रखे तो उसके विनय सम्पन्नता (आदि गुण नष्ट हो जाते हैं) की भावना भी नहीं रह सकती।

★ लोभी, क्रोधी, मानी, मायावी, क्रूर, हिंसक प्राणियों को भी विनय सम्पन्न व्यक्ति अपने वश में कर लेते हैं। क्योंकि वह दूसरे के भावों को समझने में सक्षम है तथा वह स्व पर का विकास / हित / कल्याण चाहता है।

★ विनय सम्पन्नता निर्मल व शीतल जल के समान है जिस में क्रोधादि कषाय के तीव्र आवेश रूपी लोहे का अग्नि से संतप्त गोला भी डाला जाए तो भी अन्तर्मुहूर्त में ठण्डा हो जायेगा।

★ सदैव अपने विनय गुण का विकास करना चाहिए क्योंकि यह विनय गुण ही सिद्धत्व की अवस्था को प्राप्त कराने में कारण है। इसके बिना मुक्ति असम्भव है।

★ अनादि काल के कषाय पूर्ण संस्कार विनय गुण को ध्वस्त करने में आतुर रहते हैं अतः सदैव कषाय का शमन करते हुए विनय को वृद्धिगत करना चाहिए।

विणएण विप्पहीणस्स, हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं, विणय फलं सव्व कल्लाणं॥ ३८५॥ मू०
विणओ मोक्खद्दारो, विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्व संघो य॥ ३८६॥ मू०

वट्टकेराचार्य प्रणीत मूलाचार से—

अर्थ— जो विनय से हीन है उसकी सर्व शिक्षा व्यर्थ है, विनय ही शिक्षा का फल है, विनय से ही सर्व कल्याणों की प्राप्ति संभव है॥ ३८५॥ Understand विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से ही संयम, तप एवं ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से ही आचार्य एवं सर्व संघ आराधित/वंदित होता है।

* * *

नमन्ति फलिनो वृक्षाः, नमन्ति गुणिनो जनाः।
शुष्क वृक्षा मूर्खाश्च, न नमन्ति कदाचनः॥

अर्थ— फलवान वृक्ष नमते/झुकते हैं, गुणवान मनुष्य नमन्ते हैं, किन्तु शुष्क वृक्ष और मूर्ख जन कभी भी नहीं झुकते।



(27) अनतिचार शीलव्रत

★ सभी व्रतों में श्रेष्ठ व्रत शीलव्रत है। वे भव्य जीव धन्य हैं, जिन्होंने बाल्यावस्था से ही इस व्रत को अंगीकार करके जीवन सफल बनाया है।

★ निरतिचार शीलव्रत का पालन करने वाला भव्य जीव स्व पर के दुखों को नष्ट करने वाला होता है।

★ निरतिचार शीलव्रत का पालन करने वाले व्यक्ति के सानिध्य में आने वाला सामान्य व्यक्ति भी उन सामान्य की दृष्टि में श्रेष्ठता व सम्मान को प्राप्त कर लेता है।

★ निज स्वभाव में लीन रहने का कारणभूत व्रत ही शीलव्रत कहलाता है, वह शीलव्रत समस्त अतिचारों / दोषों से रहित हो, तभी स्व-स्वभाव को प्राप्त कराने में समर्थ होता है।

★ शील का अर्थ होता है—स्वभाव / गुण / धर्म / प्रकृति एवं व्रत का अर्थ होता है—ऐसी प्रतिज्ञा जो पापों से रहित हो अर्थात् पापों से विरक्त करने वाली और स्वभाव में प्रवेश कराने वाली प्रक्रिया शीलव्रत है।

★ शीलव्रत के माध्यम से ही आत्म कल्याण के मार्ग का प्रारम्भ होता है। जो विषय भोगों में आसक्त है, वह व्यक्ति न निज कल्याण कर सकता है और न ही पर कल्याण।

★ निरतिचार शीलव्रत का पालन करने वाला साधु पुरुष हो सकता है। शील रहित पुरुष को आत्म साधक नहीं मार्ग-च्युत अथवा हारा हुआ योद्धा कहना उचित है।

★ शीलव्रत का निरतिचार पालन करने की भावनावाला पुरुष ही तीर्थंकर प्रकृति का बंधक होता है, क्योंकि सातिचार या अनाचार युक्त शीलव्रत वाले पुरुष उस परम विशुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकते।

★ यदि साधक नव कोटि से युक्त होकर शीलव्रत का पालन न करे, ब्रह्म स्वरूप आत्मा में रमण न करे किन्तु पर-पदार्थ में आसक्त रहे, तो उसे साधु कहना आगम का अवर्णवाद होता है।

★ साधक के पास यदि शीलव्रत नहीं है तो उसके पास साधुता का द्योतक बचा ही क्या? मात्र साधक के वेश को ग्रहण करने से साधु नहीं होते।

★ अपने स्वभाव की प्राप्ति हेतु निरतिचार व्रतों का पालन करना ही निरतिचार शीलव्रत कहलाता है।

★ साधु पुरुष अपने ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नांकित उपायों का सहारा लिये रहते हैं। निम्नांकित दृढ़ कवच या शील रक्षक बाढ़ों का उल्लंघन करने से साधक में उच्छृंखलता आ जाती है और साधु अपने मार्ग से च्युत भी हो सकता है।

★ स्त्रियों के निवास स्थान पर निवास करना, राग भाव से प्रेमपूर्वक स्त्रियों का अवलोकन करना, स्त्रियों को देखकर उन पर रीझ जाना, स्त्रियों को अपने प्रति आकर्षित करने का उपाय करना, मन्द-मन्द हास्य के साथ मधुर वार्तालाप करना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का चिंतन करना, गरिष्ठ-मनोनुकूल भोजन करना, शरीर को संस्कारित करना अर्थात् बालों को संभालना, शरीर को सुगंधित तेल व चित्ताकर्षक वस्त्रों से सजाना, स्त्रियों को स्पर्श करना अथवा स्पर्श करने की कामना या वासना मन में रखना आदि दुष्प्रवृत्तियां साधुत्व से भ्रष्ट कराने में कारण हैं।

★ निरतिचार शीलव्रत का पालन करने से एक अपूर्व शक्ति की प्राप्ति होती है, मनोबल भी उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाता है।

★ निरतिचार शीलव्रत का पालन करने का आशय यह भी है कि—"अपने अस्त-व्यस्त जीवन को सुव्यवस्थित कर लेना, जिससे अपना जीवन सुख-शांति युक्त, कांति व सबलता को प्राप्त हो, जो मोक्षमार्ग का सहकारी कारण भी है।"

★ मनुष्य के शरीर में केवल रोटी-दाल या पौष्टिक पदार्थों से ही शक्ति नहीं आती। इससे बड़ा शक्ति-संचय करने का केन्द्र है—निरतिचार शील भावना, व्रत व उपवास।



(28) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ है—निरन्तर अपने उपयोग को सम्यक् ज्ञान में लगाये रखना।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अपने उपयोग को शुभ में लगाये रखने का श्रेष्ठतम साधन है। बिना इसके प्रमत्त व्यक्ति का मन एकाग्र नहीं होता।

★ मन की चंचलता की शिकायत वे ही करते हैं, जो उपयोग का दुरुपयोग करते हैं।

★ सदैव उपयोग का सदुपयोग करते रहना भी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ही कहलाता है।

★ अपने मन को सदैव ज्ञानोपयोग में लीन रखना बहुत बड़े साहस की बात है। ऐसा कुछ विरले सम्यक् दृष्टि ही कर पाते हैं।

★ प्रत्येक कार्य को करते समय पूर्वा-पर बातों पर विस्तार से विचार कर लेना सम्यक् ज्ञान की निशानी है।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी सदैव ज्ञाता दृष्टा बनकर रहने का ही प्रयास करता है। वह किसी भी बात का निर्णायक नहीं बनना चाहता, देखना व जानना चेतना का स्वभाव है, किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष करना स्वभाव नहीं है।

★ संसार के प्रत्येक पदार्थ को देखते व जानते हुए भी वीतरागी प्रभु कभी बंधन को प्राप्त नहीं होते। कर्मों के बंध का मुख्य हेतु है, उन्हें अपना पराया मानना।

★ संसार के अनन्त पदार्थों को जानकर भी निजात्मा को कहाँ जान पाते हैं ?

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ है—पर आलम्बन या माध्यम लेकर निज को जानना व निज में लीन रहना।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी कहते हैं कि हम पर को क्यों जाने? हमारे पास अपनी आत्मा में हमारा वैभव जानने व देखने के लिए क्या कम है?

★ ज्ञान स्व-पर प्रकाशी दिव्य पुंज है, जिसके पास वह ज्योति है वह प्रकाशयुक्त है और जो उस आलोक से रहित है, वह व्यक्ति अंधकार में पथ-भ्रमित के समान है।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी का ही ज्ञान रूपी दीपक सदा जाज्वल्यमान रहता है। इससे विपर्यय होने पर, जब कि जो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी नहीं हैं वे अपने हाथ में दीपक तो लिये हुए हैं किन्तु उसकी ज्योति कभी-कभी इतनी मंद पड़ जाती है कि मानो बुझ ही गई हो।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग रूपी दीपक को चिरकाल तक जाज्वल्यमान रखने के लिए विषय-वासनाओं के झंझावातों से सुरक्षा करना अनिवार्य है।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी अपने एक समय की कीमत भी करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से अधिक मानता है, किन्तु जो अपने समय को व्यर्थ के वचनालापों या विषय भोगों में गंवा रहे हैं, वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी नहीं हो सकते।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग एक ऐसा चिन्मयालोक है, जो आत्म निरीक्षण व सुखान्वेषण का प्रधान हेतु है।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी त्रिलोक में विद्यमान एवं त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को भी ज्ञान नेत्र से सहज ही जान लेते हैं।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी व्यक्ति ज्ञानोपासना के माध्यम से लौकिक व लोकोत्तर इष्ट / अभीष्ट कार्य को भी करने में सफल हो जाते हैं।

★ ज्ञान का प्रवाह प्रत्येक चेतना में प्रति समय अविराम बह रहा है, किन्तु इतने मात्र से इसकी सफलता या मानव जीवन की सफलता नहीं है, अपितु सफलता इसी में है कि प्रवाह को अनुकूल रूप में मोड़ लिया जाए।

★ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ है—सदैव अपने ज्ञान का उपयोग करना अर्थात् प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक सोच विचार करके करना।

★ ज्ञान के सद्उपयोग से ही मिट्टी में हीरा सोना, चाँदी आदि धातुओं को शुद्ध बनाया जाता है, उसी प्रकार निरन्तर ज्ञान के सदुपयोग से यह आत्मा भी कर्मों की मिट्टी से निकलकर परिशुद्ध रत्न या स्वर्ण की उपमा को अर्थात् परमात्म पद को प्राप्त हो सकती है।

आचरण से युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है

एक बार एक विद्वान पंडित जी नाव के द्वारा नदी पार कर रहे थे, उन्होंने मार्ग में ही नाविक से पूछा—क्यों भाई नाविक ! तुम कुछ संस्कृत भाषा पढ़े-लिखे भी हो या अनपढ़ ही हो ?

नाविक बोला—जी साहब ! मैं तो अनपढ़ हूँ। तब शास्त्री पंडित जी बोले—तब तो तेरा चौथाई जीवन बेकार है।

पुनः पूछा—क्या तू हिन्दी भी नहीं जानता ? नाविक बोला—जी साहब नहीं, तब वह शास्त्री पंडित जी बोले तब तो तेरा आधा जीवन बेकार है। कुछ देर बाद नदी में तूफान आने लगा। तब नाविक ने पंडित जी से पूछा—साहब आप तैरना जानते हैं या नहीं। पंडित जी बोले— अध्ययन तो किया है, किन्तु कभी तैरा नहीं। नाविक ने कहा—तब तो तुम्हारा पूरा जीवन ही बेकार है। इतने में तूफान से नाव उलट गई—नाविक तो तैरकर पार हो गया, किन्तु पंडित जी डूब कर मर गये।

ज्ञान वही सार्थक है जिसे जीवन में अंगीकार कर लिया हो, अन्यथा अंहकार का पोषक ज्ञान पतन का ही हेतु है।

* * *

ज्ञानादित्यो हृदि यस्य, नित्यम् उद्योत कारकः।
तस्य निर्मलता याति, पञ्चेन्द्रिय दिगङ्गना॥

अर्थ— जिसके हृदय में ज्ञान रूपी सूर्य विद्यमान है, नित्य ही प्रकाशित है उसके हृदय को निर्मलता की प्राप्ति होती है, पंचेन्द्रियं रूपी दिगङ्गनाऐं भी वश में रहती हैं।

(29) संवेग भावना

★ संसार, शरीर, भोगों से सदैव भयभीत रहना तथा उनसे मुक्त होने की भावना ही संवेग भावना है।

★ जिस प्रकार ललाट पर तिलक से रहित व मांग में सिन्दूर से रहित विवाहित स्त्री एवं मुकुट से रहित राजा एवं दुर्ग / कोट से रहित राज्य शोभा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार संवेग भावना रहित सम्यक्त्व सुशोभित नहीं रहता।

★ सराग सम्यक्त्व से सहित सम्यक् दृष्टि के चार लक्षण एवं आठ गुणों मे संवेग भावना भी एक लक्षण या गुण कहा। गुणों से रहित गुणी अपूज्य हैं।

★ गुणी उस मानव को कहा जाता है, जिसमें गुण हों। गुणों से रहित मानव को गुणी नहीं कहा जा सकता।

★ संवेग गुण सम्यक् दृष्टि का अलंकार है। जिस प्रकार अलंकार रहित भाषा व स्त्री शोभायमान नहीं होती उसी प्रकार संवेग भावना रहित सम्यक् दृष्टि की शोभा नहीं होती।

★ संवेग भाव एक उदासीन दशा है, जिसमें राग-द्वेष के तीव्र वेगों का अवसान हो जाता है और समीचीन वेग जो कि संसारातीत का कारण है, उत्पन्न हो जाता है।

★ सम्यक् दर्शन के बिना संवेग भाव अथवा संसार से भीति और निजात्मा से प्रीति नहीं होती।

★ संवेग का तात्पर्य है—संसार में विषय-कषाय व वासना रूपी चोरों से अपनी आत्मा की व रत्नत्रय निधि की रक्षा करने के लिए सचेत हो जाना अथवा संयम रत्न प्राप्त नहीं किया है तो उसे प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होना।

★ धर्म, धर्मात्मा व धर्म के फलों को देखकर जिसके हृदय में आनन्द का स्रोत फूट पड़ता है, वही वास्तव में संवेगी है और संवेगी सम्यक् दृष्टि ही होता है।

★ संवेग भाव आत्मा की अनन्य स्थिति है, अविनाभावी गुण है जो कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक से लेकर प्रमत्तगुण स्थानवर्ती मुनिराज तक अथवा सिद्धत्व पर्यंत पाया जाता है।

★ जिन श्रुत, जिन मुनि धर्म के प्रति श्रद्धान्वित, समर्पित, पाप भीरु श्रावक या श्रमण ही उस संवेग रूपी गुण रत्न को प्राप्त करते हैं।

★ संवेगी व्यक्ति अलौकिक, असीमानन्द की अनुभूति करता है, चाहे वह जीव नरक में हो या स्वर्ग में, भोगभूमि में हो या कर्मभूमि में, देव हो या नारकी, तिर्यञ्च हो या मनुष्य।

★ असंतोषी, तीव्र कषायावेश से युक्त असंवेगी श्रावक से संवेगी अविरत सम्यक् दृष्टि लाख गुना अच्छा है।

★ संसार, शरीर, भोगों से भयभीत वह संवेगी प्राणी उनका सेवन करते हुए भी उस सम्बन्धी तीव्र संक्लेश या जटिल बंधनों को प्राप्त नहीं होता।

★ जो श्रावक अथवा श्रमण संवेग भावना से रहित है वह देशव्रती अथवा महाव्रती होने पर भी व्रतों से रिक्त हुए के समान है।

★ सम्यक् दृष्टि सप्त भयों से रहित होता हुआ भी पापों से इतना भयभीत रहता है, जितना कि मिथ्यादृष्टि भी सप्त भयों से उतना भयभीत नहीं रहता।

"धम्मे धम्म फलम्मिय हरिसो भावो होई संव्वेओ।"

आ० ब्रह्मदेव सूरि विरचित—**वृहद द्रव्य संग्रह टीका**

अर्थ— धर्म में (धर्मात्मा, संयमी जनों में) धर्म के फलों में परम हर्ष भाव/ परमानंद का होना ही संवेग भावना है।

(30) शक्तितः त्याग भावना

★ प्रकृति त्याग-धर्मा है। जो अपनी प्रकृति / स्वभाव या शील को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अपने विभाव का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए।

★ त्याग सदा अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। शक्तितः त्याग ही समीचीन रूप से फलित होता है।

★ अज्ञान दशा में किया गया त्याग विशुद्धि के स्थान पर संक्लेशता का ही हेतु होता है अतैव त्याग करना सम्यग्ज्ञानोपरांत ही श्रेयस्कर है।

★ अपनी शक्ति से कम त्याग करने वाला अज्ञानी है साथ ही वह भी अज्ञानी है जो शक्ति से अधिक त्याग करके संयम से च्युत हो जाता है।

★ त्याग करने से पूर्व उस वस्तु के त्याग करने अथवा न करने से होने वाले लाभ अथवा हानि की समीचीन जानकारी होना परमावश्यक है, बिना इसके त्याग करना रुढ़ि या ढोंग है।

★ जिसने पहले निजी सम्पत्ति से परिचय कर लिया है बाद में बाह्य वस्तु का त्याग किया है ऐसा परम पुरुष त्याग मार्ग में अडिग रहता है।

★ त्याग मार्ग मात्र त्याग मार्ग नहीं है, अपितु वह अपेक्षा से प्राप्ति मार्ग भी है क्योंकि बिना-त्यागे कुछ प्राप्त नहीं होता।

★ जो नदी अपने दोनों तटों को देखकर बहती है, वही नदी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होती है, जो नदी अपने तटों को न देखकर बहती है, वह नदी रेगिस्तान में बिखर कर सूख जाती है।

★ ज्ञान व सामर्थ्य से अनुकूल कूलों के बीच में प्रवाहित त्याग सलिला रूपी सरिता ही मोक्षार्थ को सफल बनाती है, प्रतिकूल प्रवाहमान त्याग भागीरथी मोक्ष रूपी पारावार को प्राप्त नहीं कर सकती।

★ त्याग व राग दोनों परस्पर प्रतिरोधी है। एक स्थान पर एक साथ दोनों नहीं ठहर सकते। विषयानुरागी विषयों का यथार्थ त्यागी नहीं हो सकता और विषयों का यथार्थ त्याग ि वेषयानुरागी नहीं हो सकता।

★ भगवान महावीर स्वामी ने ः : त्याग को उपादेय व प्रशंसनीय कहा है जिसमें राग की कोई शर्त न हो, जो त्याग वीतरागता का पोषक हो, वही त्याग सार्थक है।

★ जो त्याग सार्थक होता है, उसी त्याग से त्यागी का जीवन सफल एवं सार्थक बन सकता है। जो त्याग ही व्यर्थ है, उस त्याग से युक्त वह त्यागी भी सार्थक नहीं हो सकता।

★ जिन्होंने ग्रहण किया, उनके लिए त्याग करना अनिवार्य है, जिन्होंने ग्रहण ही नहीं किया, उन्हें छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

★ जीवन के हर क्षेत्र में त्याग की आवश्यकता है। जन्म के लिए, मरण के लिए, रोग-निवृत्ति के लिए, बाल्य, युवा, वृद्ध, जीवन मुक्त अवस्था के लिए भी त्याग आवश्‍क है।

★ जो अनर्थ की जड़ है, हेय हैं जिसके ऊपर हमने अधिकार जमा लिया है, जो हमारा नहीं है, जो पर स्वभावयुक्त है, ऐसे समस्त परभावों का त्याग करना अनिवार्य है।

★ बाह्य पदार्थों के साथ-साथ अंतरंग में विद्यमान पर भावों का भी त्याग करना चाहिए। तभी बाह्य त्याग की सार्थकता है, अन्यथा विषधर के विष छोड़े बिना कांचली छोड़ने के समान व्यर्थ है।

★ शक्ति के अनुसार सत्पात्रों को आहार दान, औषध दान, शास्त्र दान एवं उपकरणादि दान देना एवं दान देने की भावना भाना भी शक्तितः त्याग भावना है।

★ पुरानी पर्याय के व्यय हुए बिना नई पर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता अतः समस्त पर पर्यायों के त्याग व स्वगुण ग्रहण करने में ही संलग्न रहना ही श्रेयोमार्ग है।

★ त्याग करना ही जिनका स्वभाव बन गया है, जो निज द्रव्य, गुण, पर्याय में या स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही संलग्न हैं, वे ही तीर्थंकर प्रकृति के आश्रव के अधिकारी होते हैं।

★ पर पदार्थ रूपी कूड़ा-कचरा, किट्ट-कालिमा का त्याग करने पर आत्मा रूपी हीरा चमकता है। बिना त्याग किये अब तक कोई आत्मा परमात्मा नहीं बनी और न बन सकती है तथा भविष्य में भी न कभी बन सकेगी।

★ गाय यदि अपने दूध का त्याग न करे तो अस्वस्थ हो जाएगी, उसी प्रकार जो मानव संग्रहीत धन (परिग्रह) का त्याग नहीं करते वे स्वरूपस्थ नहीं हो पाते।

बिना त्याग मुक्ति नहीं

एक बार एक महात्मा फकीर प्रभु भजन की मस्ती में कहीं चले जा रहे थे, तभी मार्ग में नदी पड़ी जिसे तैर कर पार कर पाना अत्यन्त कठिन था। संध्या का वक्त था। नाव किनारे तब एक सेठ उस नाव में बैठ गया। नाविक ने कहा—ओ महात्मा जी यदि आपके पास भी किराये/उतराई के पैसे हों तो आप भी नाव में बैठ जाओ। महात्मा वहीं पर मौन खड़े रहे, तब उस सेठ ने निवेदन कर उन्हें नाव में बिठा लिया। जब नाव दूसरे किनारे पहुँची, तब सेठ बोला—महात्मा अब आप किसी को त्याग का उपदेश मत देना। यदि आज मैं धन नहीं रखता तो मैं और आप कैसे नदी पार होते? महात्मा जी बोले—भाई उपदेश तो मैं त्याग का ही दूँगा। क्योंकि हम दोनों नदी पार त्याग करने से ही हुए हैं। यदि तुम नाविक को उतराई नहीं देते तो हम दोनों कैसे पार होते? यदि मैं त्यागी नहीं होता तो तुम मेरा किराया क्यों देते? यदि नाविक उस घाट से बंधी रस्सी को, खूंटे को नहीं छोड़ता तो नाव इस किनारे कैसे आती ? अतएव बिना त्याग के जब नदी भी पार नहीं हो सकती, तो भव सागर कैसे पार होगा?

(31) शक्तितः तप भावना

★ इच्छाओं का निरोध करना तप कहलाता है। जिन्होंने सांसारिक इच्छाओं/कामनाओं का अंत कर दिया है, वे ही वास्तव में तपस्वी हैं।

★ विषय-कषाय, आरम्भ-परिग्रहादि सर्व पापों से रहित ज्ञान-ध्यान-तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसनीय हैं।

★ जो तपस्वी हैं वे तप भावना को पूर्ण ही भा सकते हैं और पूर्णता को भी प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु गृहस्थ तप को गृहस्थावस्था में नहीं भा सकता किन्तु तप की भावना मात्र भा सकता है।

★ तप इन्द्रियों के नियन्त्रण, कषायों के उपशमन, त्रियोगों को दण्डित करने हेतु किया जाता है। जिस तप से आत्मा की शुद्धि न हो, वह तप व्यर्थ है।

★ जिसने अपने जीवन में तप को स्थान नहीं दिया, उसका जीवन पतन की ओर स्वतः ही चला जाता है।

★ तप रूपी अग्नि में आत्मा की कर्म रूपी किट्ट-कालिमा स्वतः ही जल जाती है। आत्मा शुद्ध कंचन की तरह परमात्मा को प्राप्त कर लेती है।

★ ऐसा सुना जाता है कि 'एक बार शुद्ध किया हुआ स्वर्ण पुनः किट्ट-कालिमा युक्त अवस्था को प्राप्त नहीं होता'। कदाचित् वह अशुद्ध भी हो सकता है, किन्तु तप की अग्नि में तप्तायमान आत्मा पुनः अशुद्ध नहीं हो सकती।

★ बिना तपाये—मिट्टी का मंगल कलश, अशुद्ध स्वर्ण के गहने, हीरे आदि के आभूषण व चावल दाल आटे का भोजन नहीं बन सकता, वैसे ही बिना तपाये आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती।

★ लोहे की टेढ़ी-मेढ़ी छड़ को सीधे करने के लिए तपाना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा की वक्रता / कर्म कालिमा को दूर करने हेतु तपाग्नि में तपाना आवश्यक है।

★ जिस व्यक्ति की सम्यक् तप के प्रति आस्था, समर्पण भावना नहीं है, बिना तप के ही मोक्ष पाना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है, साथ ही अभव्य भी हो सकता है।

★ तप को शक्ति के अनुसार ही स्वीकार करना चाहिए, शक्ति से कम या शक्ति से अधिक नहीं अन्यथा वह तपक्रिया कार्यकारी नहीं होगी।

★ तप दोषों की शुद्धि के लिए परम रसायन रूप है। सम्यक् तप की प्रयोगशाला में अन्तरात्मा को / बहिरात्मा को भी परमात्मा बना दिया जाता है।

★ तपस्वी तीनों लोकों में पूज्य है। जिन्होंने आत्म-साधन के लिए समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है, आत्म एवं परमात्म के ध्यान में निरंतर संलग्न हैं, उन तपस्वियों को नमस्कार करने के लिए देव भी तरसते हैं।

★ धन्य हैं वे पुरुष ! जिन्हें विषय कषायों के सर्पों ने डसा नहीं है तथा जो बाल्यावस्था से ही तप में संलग्न हैं, उनकी पद रज से ही यह भूतल पावन हुआ है।

★ इच्छायें प्रत्येक प्राणी में विद्यमान हैं, इच्छाओं की वृद्धि महानता का लक्षण नहीं, अपितु इच्छाओं का निरोध करना, इच्छाओं को सीमित करना ही महानता का प्रधान कारण है।

★ अंतरंग की इच्छाओं के बिना बाहर की इन्द्रियों की बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जो लोग विषय वासनाओं में रत रहते हैं और कहते हैं कि हमारी कोई इच्छा नहीं, ये सब बिना इच्छा के भोग रहे हैं तो ऐसे लोग मिथ्यादृष्टि हैं अथवा आत्मा के विश्वासघाती हैं।

★ जो वृद्धावस्था तक भी विषय भोग व परिग्रह का त्याग नहीं कर पाते, और उन्हीं मूर्च्छा धारण करते हुए आर्त ध्यान से मरते हैं वे नियम से दुर्गति के पात्र होते हैं।

★ जिन्होंने मृत्यु के अन्तर्मुहुर्त पहले ही सकल परिग्रह का त्याग कर जिन दीक्षा/तप को स्वीकार किया है, उन भव्य जीवों का कल्याण भी नियामक है।

(32) साधु समाधि भावना

★ साधु का अर्थ है—सज्जन पुरुष / साधक पुरुष या साधुता से युक्त महानुभाव अथवा जिसने आत्मा को, संयम को, साधना को साधा है, वह साधु कहलाता है।

★ राग द्वेष की प्रवृत्ति / परिणति का बुद्धिपूर्वक क्षीण कर देना ही यथार्थ समाधि है।

★ इष्टानिष्ट बुद्धि से रहित सतत आत्मानुभूति का प्रयोग ही परम समाधि है।

★ अच्छे-बुरे की निर्णायक बुद्धि का अभाव हो जाना, सतत निजात्मा में लीन रहना 'साधु समाधि-भावना' है।

★ आधि, व्याधि, उपाधि से रहित निर्विकल्प ध्यान की अवस्था, जहाँ ज्ञान की परिणति सम हो चुकी है, वही समाधि है।

★ जिस साधक ने शत्रु-मित्र, कांच-कंचन, महल-मसान, संयोग-वियोग, घातक-रक्षक, निंदक-प्रशंसक, लाभ-हानि, जीवन-मरण में अपनी बुद्धि को समान किया है, उसी ने परम समाधि को प्राप्त किया है।

★ रत्नों से भरी गाड़ी जब गन्तव्य स्थान तक पहुँच पाने में अक्षम हो जाती है तो गाड़ी को सिर पर रखकर ढोया नहीं जाता, अपितु रत्नों को ही संभालना चाहिए, उसी प्रकार अपने चैतन्यमय गुण रूपी रत्नों की सुरक्षा के लिए शरीर रूपी गाड़ी के असमर्थ होने पर उसे छोड़ दी जानी चाहिए।

★ रत्नागार में आग लगने पर रत्नों की रक्षा अनिवार्य है, मकान की नहीं, उसी प्रकार वृद्धावस्था होने पर, जो शरीर वियोग की तीव्रता से प्रतीक्षा कर रहा हो, उस समय निज गुणों की रक्षार्थ परम समाधि ही उपादेय है।

★ समाधि का आशय 'रत्नत्रय से युक्त आत्मा में लीनता है अथवा अंत समय में समता पूर्वक शरीर को छोड़ना भी समाधि है।

★ 'जब मेरा शरीर छूटे, तब मेरे परिणाम आधि व्याधि-उपाधि से दूर हों,' उस अवस्था की प्राप्ति की भावना ही साधु-समाधि भावना है।

★ जो साधु पुरुष समता भाव से अपने शरीर को त्याग रहे हैं, उनकी साधना में सहयोगी बनना, सेवक बनना तथा "इसी प्रकार मैं भी समता से अपने शरीर का परित्याग करूँगा" ऐसी भावना भाना 'साधु समाधि भावना' है।

★ मानसिक विकल्प का नाम आधि है, शारीरिक विकार का नाम व्याधि है, एवं बुद्धि का विकार उपाधि है तथा तीनों विकारों से रहित अवस्था ही समाधि है।

★ आटा, शक्कर-घी-पानी के बिना हलुवा बनना असंभव है, उसी प्रकार सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप के बिना समाधि असंभव है।

★ जन्म-जरा-मरण के बीच रहते हुए भी जो अपनी आत्मा को जान लेते हैं, पहिचान लेते हैं तथा जिन्हें निज-पर का भेद-विज्ञान आचरण में प्रकट हुआ है, वही सच्ची समाधि है।

★ समाधि वहीं संभव है—जहाँ जन्म-जरा-मृत्यु के पूर्व-पश्चात्-तत्काल में भी आत्मा की विशुद्धावस्था का ज्यों का त्यों भान हो जाए।

★ समाधि-शरीर, मन, बुद्धि से परे अवस्था है; वहाँ न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न विषाद है, न जीने की इच्छा है, न मरने की वांछा है, जीवन न तो बोझ है न ही पुष्पों की सेज है, न वरदान है और न ही अभिशाप।

★ एक बार भी जो साधक उत्तम समाधि को प्राप्त कर लेते हैं वे अधिक से अधिक 7-8 भव अथवा कम से कम 1-2 भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

★ साधु पुरुषों की समाधि में कृत-कारित-अनुमोदन से सहकारी होना भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव बंध का कारण है; जो तीन लोक के सकल अभ्युदय एवं स्वकीय आत्मा के समस्त गुणों को प्रदान करने वाली है।

★ समाधि की प्राप्ति भीड़ में नहीं, स्वकीय नीड़ में ही संभव है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भीड़ में समाधि नहीं किन्तु समाधि में भीड़ हो सकती है।

(33) वैय्यावृत्ति भावना

★ मोक्ष मार्ग के साधकों की साधना में सहायक हो जाना वैय्यावृत्ति है। वैय्यावृत्ति के असंख्यात भेद हो सकते हैं।

★ वैय्यावृत्ति जब भी की जाती है, सदैव स्व-पर की जाती है। स्व की वैय्यावृत्ति किये बिना पर की वैय्यावृत्ति असम्भव हैं।

★ वैय्यावृत्ति का विषय अत्यन्त विशाल है। पंच-परमेष्ठी की श्रद्धा, पूजा, अर्चना, उपासना, दानादि वैय्यावृत्ति में ही सम्मिलित है।

★ जिस समय जैसी सहायता की आवश्यकता हो, उस समय वैसी ही अनुकूलता उपलब्ध कराना वैय्यावृत्ति है।

★ नवधा भक्ति पूर्वक सत्पात्रों को आहार देना भी वैय्यावृत्ति है। जिनेन्द्र देव का पूजन, अभिषेकादि भी सुधी श्रावक द्वारा की जाने वाली वैय्यावृत्ति है।

★ गमनागमन, स्वाध्याय, पठन-पाठन, उपदेश, चिंतन, लेखन, देव-शास्त्र-गुरु-श्रुत वंदनादि क्रियाओं में, आवश्यक कर्त्तव्य पालन, अहोरात्रि में की गई संयम साधना से उत्पन्न क्लेश, थकान, श्रम-परिश्रम को दूर करने हेतु हाथ-पैर-सिरादि का दबाना-सहलाना भी वैय्यावृत्ति है।

★ साधु पुरुषों को बैठने, शयन करने, सामायिक, स्वाध्याय व देव-वंदनादि क्रियाओं के लिए उचित स्थान की व्यवस्था करना भी वैय्यावृत्ति है।

★ स्वास्थ्य को संयम साधना के अनुकूल बनाये रखने के लिए प्रकृति के अनुकूल, शुद्ध, प्रासुक मर्यादित आहार-जल-औषधि आदि को विवेक पूर्वक सत्पात्रों को दान रूप देना भी वैय्यावृत्ति है।

★ 'वैय्यावृत्ति' श्रावक के बारह व्रतों में एक व्रत है, 'वैय्यावृत्ति' श्रावक व श्रमण दोनों के परमावश्यक कर्तव्य है, परम पुण्यवान ही वैय्यावृत्ति भावना भा सकता है व वैय्यावृत्ति तप को अंगीकार कर सकता है।

★ 'वैय्यावृत्ति' की भावना तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव व बंध में कारण है। इस 'वैय्यावृत्ति भावना' की प्रधानता से नवें नारायण श्री कृष्ण जी ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जो कि भविष्यत् कालीन 'श्री निर्मल गुप्त' नामक 15वें तीर्थंकर होंगे।

★ वैय्यावृत्ति जैसे उत्तम तप को व उत्तम भावना को सम्यक् दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है, मिथ्यादृष्टि नहीं।

★ वैय्यावृत्ति वही साधक (श्रावक व श्रमण) कर सकता है, जिसके अंदर वात्सल्य भाव परिपूर्ण है, स्थितिकरण व उपगूहन अंग के पालन करने में परायण हो।

★ सत्पात्रों की वैय्यावृत्ति करने वाले पुरुष के सम्यकत्व के आठ अंगों का सहज ही पालन हो जाता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि निर्मल परिणामों से, निश्छल व निस्वार्थ भाव से किसी साधर्मी के शरीर की सेवा नहीं कर सकता।

★ वैय्यावृत्ति करने वाले को निर्जुगुप्सा अंग, अमूढ़ दृष्टि, निशंकित व निकांक्षित अंग में भी निष्णात/कुशल होना आवश्यक है, तभी वह समीचीन प्रभावना कर सकता है।

★ वैंय्यावृत्ति के बिना समीचीन धर्म प्रभावना भी असंभव है, क्योंकि वैय्यावृत्ति करने वाला व्यक्ति, विनयशील, नम्रस्वभावी, सरल व सहज होता है। उसकी चर्या देखकर सामने वाला भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है।

★ साधर्मी बंधुओं के शरीर की सेवा भी हम अपनी वेदना को दूर करने के लिए ही करते हैं, यदि न करें तो हम अपनी वेदना से पीड़ित रहेंगे।

★ वैय्यावृत्ति करने वाला सुधी प्राणी वज्रऋषभनाराच संहनन आदि नाम कर्म की शुभ प्रकृतियों का एवं शुभ आयु, उच्च गोत्र व सातावेदनीय आदि शुभ-प्रकृत्तियों का बंधक होता है।

★ वैय्यावृत्ति दूसरे दुखी जीवों की ही नहीं, अपनी दुःखी आत्मा की भी करनी चाहिए। अपने संयम, व्रत, धर्म की रक्षा के लिए भी स्वयं को स्वयं के सहयोगी बनना चाहिए।

★ शुभ कार्य व शुभ प्रवृत्तियों के लिए मन, वचन, काय धनादि से समर्पित हो जाना ही अपने आप की वैय्यावृत्ति है।

★ वैय्यावृत्ति व्रत में सूकर, मेढ़क, ग्वाला, वृषभसेना (सेठपुत्री), श्रीषेण राजा, सिंह, नेवला, बंदर, श्रीकृष्ण, वज्रसंघ, श्रीमती आदि नाम प्रसिद्ध हैं जो शास्त्रों में उल्लिखित है, इनसे श्रावकों को भी कुछ प्रेरणा लेनी चाहिए।

सत्संगति

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं।

मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति॥

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं।

सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

अर्थ— सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है, वचन में सत्य का सिञ्चन करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दिशाओं में कीर्ति विस्तृत करती है। कहो, सत्संगति पुरुषों का क्या नहीं करती ?

* * *

गृहस्थोऽपि यति ज्ञेयो, वैय्यावृति परायणाः।

वैय्यावृति विनिर्मुक्तो, न गृहस्थो न संयताः॥ आ. इन्द्र नंदी

अर्थ— उस गृहस्थ को भी यति जानना चाहिए, जो वैय्यावृति में परायण है, तथा जो (गृहस्थ या श्रमण) साधु-सेवा या वैय्यावृति से रहित है वह न गृहस्थ है और न ही संयत।

(34) अर्हंत भक्ति भावना

★ अर्हंत भक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने का एक अचूक साधन है। इसके बिना कोई भी आत्मा आज तक परमात्मा नहीं बना।

★ जो अर्हंत भगवान की भक्ति में संलग्न रहते हैं, उन्हें विषयों के विषधर एवं कषायों के अजगर नहीं सता पाते।

★ जो चार घातिया कर्मों से रहित व अनंत चतुष्टय से युक्त हैं, वे अर्हंत कहलाते हैं।

★ अर्हंत भगवान की भक्ति सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करने में प्रबल निमित्त है।

★ जिनको परमात्मा के प्रति यथार्थ आस्था, निस्वार्थ समर्पण है, वे उनकी (अर्हंत) भक्ति किये बिना नहीं रह सकेंगे।

★ भक्ति का प्रारंभ मात्र मन, तन, वचन से ही नहीं, चेतन से भी होना चाहिए।

★ श्रद्धा के सूर्य का यदि चेतना के क्षितिज पर उदय हो चुका है तो भक्ति का प्रकाश नियम से फैलेगा ही। इसमें कोई शंका नहीं है।

★ श्रद्धा को यदि हम पुष्प कहें तो भक्ति है उसकी सुगंधि जो कि एक दूसरे के अविनाभावी है, किन्तु यदि पुष्प समीचीन है तो।

★ कागज के पुष्पों पर उड़ेली गई इत्र की खुशबू वास्तविक खुशबू नहीं है, उसी प्रकार श्रद्धा रहित भक्ति कोरा शारीरिक श्रम ही मानना चाहिए।

★ अर्हंत भक्ति देहातीत, भवातीत, दुःखातीत, कर्मातीत, जन्मातीत, जरातीत, मरणातीत अवस्था को देने वाली है, जिन्हें ये अवस्थाएं चाहिए वे अवश्य ही अर्हंत भक्ति करें।

★ भक्ति रूपी नौका में यदि कांक्षा रूपी एक भी छेद है तो ऐसी नाव कालान्तर में कभी भी भव सागर में डूब सकती है।

★ परमात्म के प्रति शंका / संदेह भक्ति रूपी वृक्ष को काटने का तीक्ष्ण हथियार है, जिसका त्याग करना अनिवार्य है।

★ अर्हंत भक्ति रूपी प्रकाश से पाप रूपी अंधकार शीघ्र ही भाग जाता है।

★ अर्हंत भक्ति करके याचना करना अपने इष्ट के प्रति अविश्वास रखना है। अविश्वास में कभी समीचीन भक्ति नहीं हो सकती।

★ जिन भक्ति रूपी सेहरा बांधे बिना मुक्ति रूपी वधू का वरण कर पाना असंभव है।

★ परम श्रद्धानुराग से युक्त होकर की गई जिनेन्द्र भक्ति कर्म रूपी वृक्ष या जन्म-मरण रूपी श्रृंखला को काटने के लिए अति तीक्ष्ण कुठारवत् है।

★ संसार के अधिकांश प्राणी दुख आने पर जिनेन्द्र भक्ति करते हैं। यदि वे पुण्योदय / साता वेदनीय कर्म के बीच में रहकर भी जिनेन्द्र भक्ति करें तो उनके जीवन में कभी दुख ही नहीं आयेंगे।

★ जिन भक्ति रूपी अग्नि से कर्म रूपी ईंधन क्षण भर में ही ध्वस्त हो सकता है।

★ जो अर्हंत भक्ति नहीं करता वह जिनानुयायी नहीं हो सकता, चाहे वह जैनकुल में ही क्यों न जन्मा हो।

★ संसार के किसी भी कार्य में अति नहीं करनी चाहिए किन्तु नीतिकार कहते हैं कि जिनेन्द्र भक्ति में परिणामों की विशुद्धि में अति अवश्य करना चाहिए।

★ जब तक भक्त भगवान नहीं बना है, तब तक उसे भक्ति ही करना चाहिए।

★ अर्हंत भक्ति से संसार में विद्यमान प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है। तीनों लोकों में अर्हंत भक्ति से कुछ भी पाना असंभव नहीं है।

★ जब तक आत्मा-परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त नहीं हुई, तब तक भक्ति अपूर्ण है।

(35) आचार्य भक्ति भावना

★ जो आचरण की प्रतिमूर्ति होते हैं, साधु संघ के अधिनायक होते हैं, उन धर्म नायक संत को श्री आचार्य परमेष्ठी कहते हैं।

★ आचार्य परमेष्ठी पंचाचारों का पालन स्वयं करते हैं एवं अपने आश्रित सभी भव्य जीवों से पालन कराते हैं, वे धर्माधिकारी सन्मार्ग प्रदाता आचार्य परमेष्ठी वन्दनीय एवं पूज्यनीय होते हैं।

★ आचार्य परमेष्ठी अपने आश्रित चतुर्विध संघ को शिक्षा-दीक्षा देते हैं, प्रायश्चित देकर आत्मा में अपराध रूपी कालिमा-को दूर कर रत्नत्रय का निर्दोष पालन कराने वाले होते हैं।

★ आचार्य परमेष्ठी एक समीचीन नौका के समान हैं जो संसार को स्वयं भी पार करते हैं व निजाश्रितों को भी पार कराते हैं।

★ किसी नदी पर बना पुल-तारक / तारणहार तो है लेकिन तरणहार नहीं; किन्तु श्री आचार्य परमेष्ठी तारणहार भी हैं और तरणहार भी।

★ आचार्य परमेष्ठी तैराक के समान है जो स्वयं तैर कर पार होते हैं और दूसरों को भी तैरने की प्रेरणा देते हैं किन्तु नाव की तरह अपने ऊपर बिठाकर अभव्यों को पार नहीं कर सकते।

★ तैरने की कला सीखकर नाव में बैठना और भी उत्तम है, कदाचित् आंधी-तूफान आदि में नाव टूट या डूब भी जाए तो भी उत्तम तैराक स्वाश्रित होकर भी पार हो सकता है।

★ परम पूज्य आचार्य भगवन्तों के दर्शन बिना पुण्योदय के उपलब्ध नहीं होते तथा पुण्यात्मा प्राणी उनके दर्शन मात्र से आचरण / संयम की प्रेरणा स्वतः ही प्राप्त कर लेते हैं।

★ परम पूज्यनीय श्री आचार्य परमेष्ठी जी इस काल के भगवान / अरिहंत ही हैं, क्योंकि उनसे श्रेष्ठ पात्र अन्य कोई वर्तमान में नहीं है।

★ परम पूज्य श्री आचार्य परमेष्ठी जी वचन से कम चर्या से अधिक उपदेश देते हैं, अपने शिष्यों पर अनुशासन भी आत्मानुशासन के बाद मौन भाषा में चर्या के द्वारा करते हैं।

★ जिन परम पूज्यनीय आचार्य भगवन्तों का आचरण दर्पण के समान निर्मल, जल के समान सरल, प्रकृति के समान सहज, चंदन के समान महका देने वाला है, उन आचार्य परमेष्ठी की सेवा करने वाला तथा उनके चरणो की धूलि प्राप्त करने वाला भी परम सौभाग्यशाली है।

★ सम्यक् गुणों से युक्त आचार्य परमेष्ठी बीज की तरह होते हैं, जो शिष्यों में वात्सल्य, शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक सुसंस्कारों के द्वारा अंकुरित, पल्लवित्, विकसित, पुष्पित व फलित होते हैं।

★ आचार्य पद को जो मुनिजन स्वीकार कर लेते हैं, उन समग्र जिम्मेदारियों का ईमानदारी के साथ पालन करने की शपथ / प्रतिज्ञा ग्रहण करते है, स्व-पर चारित्र को निर्मल बनाने का जीवनभर पुरुषार्थ करते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी विश्व के समस्त प्राणियों द्वारा उपासनीय है।

★ आचार्य परमेष्ठी पारस मणि से भी बढ़कर होते हैं, क्योंकि पारसमणि तो केवल लोहे को कुन्दन बनाता है किन्तु आचार्य परमेष्ठी अपने आश्रित जनो को अपने समान या अपने से भी श्रेष्ठ बनाने का पुरुषार्थ करते हैं।

★ आचार्य परमेष्ठी अपने शिष्यों को भगवान बनाने वाले होते हैं, इसलिए वे आचार्य परमेष्ठी भगवान से पहले वंदनीय हैं।

★ परम पूज्य आचार्य परमेष्ठी माता-पिता के समान वात्सल्य प्रदाता, कुंभकार के समान दोषपरिहारक, माली के समान सुपोषक एवं दीपक के समान स्वयं जलकर स्व-पर प्रकाशी होते हैं अतः ऐसे पूज्य आचार्य भगवंतो को मेरे अन्तशः के अनन्तानन्त प्रणाम निवेदित हैं।

★ जो आचार्य परमेष्ठी वृक्ष, नदी, गाय, भूमि, आकाश, पुष्प, दीपक के समान परमोपकारी हैं, ऐसे आचार्य भगवंतों की पद रज को भी मैं सदैव विनम्र प्रणाम करता हूँ।

★ यथार्थ मार्ग के परिपालक, प्रवर्तक, उद्घोषक, आचार्य भगवंतों के आचरण की चादर सदैव धवल होती है, तभी तो शिष्यगण उनके चरणों में अपने दोषों का निवेदन निश्छलता के साथ कर रहे हैं।

★ आचार्य भगवान् वीतरागता के सुमार्ग के पोषक होते हैं, मोक्ष या समाधि के पूर्व "आचार्य" इस पदवी का भी वे विमोचन कर देते हैं; क्योंकि जहाँ किञ्चित मात्र भी राग-द्वेष है वहाँ उन्नत पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए साधना में लीन साधुओं की आचार्य परमेष्ठी भगवान भी तीन प्रदक्षिणा देकर भक्ति सहित वंदना करते हैं।

★ सम्यक् दृष्टि द्वारा की गई आचार्य परमेष्ठी की समीचीन भक्ति संसार विच्छेदक एवं तीर्थंकर प्रकृति के बंध में सहकारिणी होती है।

★ बिना आचार्य (गणधर) परमेष्ठी के तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि भी 66 दिन तक नहीं खिरी। अत: आचार्य भगवन् भव्य जीवों के तारनहार हैं, उनके बिना दिव्य ध्वनि का भी लाभ नहीं मिल सकता।

★ आचार्य भगवंतों के परम प्रसाद से विद्या-मंत्रादि स्वत: ही सिद्ध हो जाते हैं। ये ऐसे कल्पवृक्ष हैं जिनके पास पहुँचते ही सब इच्छितानिच्छित मिल जाता है।

★ आचार्य परमेष्ठी आचरण की पुस्तक हैं जिसे कोई भी व्यक्ति कभी भी पढ़ सकता है।

★ आचार्य परमेष्ठी जैसा संघ अनुशासन व आज्ञा देने का काम करते हैं वैसा काम हमें नहीं करना है, अपितु उनकी आज्ञा में चलना है।

★ वर्तमान में आचार्य परमेष्ठी ही हमारे आदर्श के देवता हैं, निर्देशक हैं, संचालक हैं, जिन धर्म के रक्षक, संवर्धक व पोषक हैं, जैन जगत के प्राणाधार हैं।

★ परम पूज्य आचार्य परमेष्ठी की महत्ता हजारों मुनियों से भी बढ़कर है।



(36) बहुश्रुतवंत भक्ति भावना

★ जो मुनि सतत अध्ययन करने व अध्यापन कराने में संलग्न रहते हैं, भव्य जीवों को रत्नत्रय स्वरूप धर्म का उपदेश देते हैं, वे बहुश्रुतवंत अथवा उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

★ उपाध्याय शब्द तीन शब्दों के मेल से बना है उप + अधि + आय। 'उप' शब्द का अर्थ है—समीप। अधि का अर्थ है—अधि समीप या चारों ओर से, 'आय' का अर्थ है—आना या आमदनी। अर्थात् जो आत्मा के अति निकट रहते हैं, ऐसे परम इष्ट वीतरागी महापुरुष की भक्ति करना ही उपाध्याय या शिक्षा गुरु की भक्ति है।

★ उपाध्याय परमेष्ठी या बहुश्रुतवंत साधु परमेष्ठी / शिक्षा गुरु की भक्ति उपासना ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम का कारण होती है।

★ उपाध्याय परमेष्ठी या बहुश्रुत श्रमण के दायें हाथ में विद्या का वास होता है। पूज्य उपाध्याय परमेष्ठी जी बहुश्रुतवंत भक्ति करने वाले भव्य जीवों के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हैं तो विद्या शिष्यों के मस्तिष्क में प्रवेश करती है, जिससे शिष्य श्रुत के पारगामी हो जाते हैं।

★ श्रद्धा, भक्ति, समर्पण, व विनय भावना से की गई उपाध्याय परमेष्ठी जी की स्तुति, वंदना, पूजा, उपासना एवं भक्ति श्रुत ज्ञान की पूर्णता, ज्ञानावरणी कर्म का क्षय एवं परम्परा से केवलज्ञान को देने वाली होती है।

★ जिस प्रकार एक वात्सल्ययुक्ता, ममता मूर्ति मां अपने तनुज / तनुजा का बड़े प्रेम से परिपालन करती है, निज पय पान कराकर उसे हृष्ट पुष्ट बनाती है, उसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी या शैक्ष्य श्रमण स्वाश्रित भव्यों को ज्ञानामृत पिला कर सम्यक् रीत्या उनका पालन करते हैं।

★ श्री उपाध्याय परमेष्ठी जी हित, मित, प्रिय वचनों के द्वारा संसारी जीवों की अनेकों जिज्ञासाओं का सरल, सहज, सर्वग्राही भाषा में समाधान करते हैं।

★ उपाध्याय परमेष्ठी जी एक जीवन्त प्रकाश पुंज हैं, जिनकी छत्र छाया में पहुँचते ही संसार की असारता का एवं निज-वैभव का बोध स्वतः ही हो जाता है।

★ विषय कषाय आरंभ परिग्रह से रहित उपाध्याय परमेष्ठी जी की परम शांत ज्ञान मुद्रा (तर्जनी को अंगूठे के मूल में लगाकर, शेष तीन उंगली खड़ी करके समझाना) ही ज्ञानप्राप्ति की प्यास को सहज ही जाग्रत कर देती है।

★ उपाध्याय परमेष्ठी जी जिस मुक्ति मार्ग की चर्चा या उपदेश करते हैं उस की चर्या / आचरण भी वे स्वयं करते हैं, इसलिए उनकी दिव्य देशना का प्रभाव भव्यों में स्पष्ट दृष्टि गोचर होता है।

★ जन्म, जरा, मरण जैसे महाभयंकर रोगों की प्रवचनामृत रूपी औषधि उपाध्याय परमेष्ठी के पास मिलती है।

★ उपाध्याय परमेष्ठी जी ज्ञान की साक्षात् मूर्तिवत् माने जाते हैं, इस प्रकार ज्ञान मूर्ति के दर्शन / उपासना अज्ञान तिमिर नष्ट कर ज्ञान का दीप जलाने में प्रेरक होते हैं।

★ जिस आचार्य संघ में शिक्षा देने वाले उपाध्याय परमेष्ठी नहीं हैं, तो वह संघ अपूर्ण ही कहा जायेगा।

★ उपाध्याय परमेष्ठी—श्री आचार्य परमेष्ठी के लिए दायें हाथ के समान-संघ संचालन व अनुशासन सहयोगी होते हैं।

★ तीर्थंकर भगवान के समवशरण आचार्य परमेष्ठीवत् हैं गणधर परमेष्ठी तो उपाध्यायवत् हैं श्रुत केवली, वादी-प्रतिवादी श्रमण एवं शिक्षक मुनि।

★ अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को वृद्धिगत करने के लिए उपाध्याय परमेष्ठी की परोक्ष भक्ति, स्तुति वंदना भी लाभकारी है, तथा "णमो उवज्झायाणं" जाप भी ग्राह्य है।



(37) प्रवचन भक्ति भावना

★ प्रवचन शब्द वचन शब्द में 'प्र' उपसर्ग लगने से बना है। वचन शब्द का अर्थ है—शब्द वर्गणा या देशना और प्रवचन शब्द का अर्थ है—प्रकृष्ट वचन।

★ वचन सामान्य शब्दों को कहते हैं एवं प्रवचन उन्हें कहते हैं जो आत्म-निधि से परिचय कराने में व वीतरागता की प्राप्ति में कारण हों।

★ अस्पर्श का स्पर्श करके, विरस का रसास्वादन करके, निर्गंध की गंध लेकर, अरूप / अदर्श को दर्शन / निहार कर, अशब्द को सुनकर जो अनुभव प्राप्त किया है, उस अनुभव परक प्रकृष्ट वचनों को प्रवचन कहते हैं।

★ जो शब्द यथार्थता को जानकर, मानकर, पालकर, प्राप्तकर, अनुभवकर, खिरते हैं या बोले जाते हैं वे प्रवचन कहलाते हैं।

★ अनादि कालीन दुखों को नष्ट करने में संलग्न, आत्मानुभूति से युक्त, जिनश्रुताराधना में संलग्न श्रमणोतमों के वचन ही प्रवचन कहलाते हैं।

★ प्रवचन देने वाले श्रमण तथा उनकी चर्या अथवा अरिहंतादि चारों परमेष्ठियों की दिव्य देशना प्रवचन कहलाती है, ऐसे प्रवचन में व प्रवचनकार में निर्मल श्रद्धा, निस्वार्थ समर्पण, विनयाचार युक्त भक्ति का होना ही प्रवचन भक्ति है।

★ तीर्थंकरादि महापुरुषों के वचन ही प्रवचन हैं अथवा तीर्थंकरादि महापुरुषों की आत्मानुभूति के रस से सिंचित सम्यक् ज्ञान युक्त शब्दावली ही प्रवचन कहलाती है।

★ जिनवाणी की यथार्थ भक्ति करने वाला भक्त जिनेन्द्र देव व निर्गन्थ गुरुओं का उपासक होगा ही। इसमें कोई संदेह नहीं करना चाहिए अन्यथा वह मिथ्यादृष्टि है।

★ जिनेन्द्र देव व निर्ग्रन्थ गुरुओं की श्रद्धा, भक्ति व समर्पण से रहित व्यक्ति जिनवाणी का यथार्थ उपासक नहीं हो सकता।

★ जिनवाणी व जिनवाणी के ज्ञाता संयमी विद्वज्जनों की विनय व भक्ति किये बिना आज तक कोई भी महापुरुष केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका, न कर सकता है और ना ही कर सकेगा।

★ जिनवचनामृत रूपी पीयूष का पान करने वाला व्यक्ति दुःखों से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार गारुड़ी विद्या देखकर सर्प अथवा सर्प-विष।

★ प्रवचन के मुख्य चार भेद हैं—1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3 चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग अथवा 12 अंगों की अपेक्षा 12 भेद हैं।

★ सम्यक्ज्ञान के बिना व्यक्ति उसी प्रकार है, जैसे नेत्र ज्योति बिना अंधा पुरुष।

★ विषयानुरागी, कषायक्लेशयुक्त व पंच पापों में अनुरक्त व्यक्ति श्रुत को जीवन में स्थायी नहीं रख सकते।

★ सम्यग्ज्ञानार्थी को ज्ञानोपासना से पूर्व विषय-कषाय व पाप वृत्तियों का त्याग करना अत्यावश्यक है, अन्यथा वह ज्ञानोपासना अपूर्ण ही कहलायेगी।

★ प्रवचन / जिनश्रमण की यथार्थ श्रद्धा, भक्ति एवं उपासना किये बिना तीर्थंकर प्रकृति का बंध कठिन है, तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला निर्ग्रन्थ गुरुओं की उपासना करता ही है।

★ प्रवचन के माध्यम से ही स्व-पर का कल्याण संभव है, श्रुत ज्ञान के बिना शेष ज्ञान बिना श्रुताधार लिए पर कल्याण करने में असमर्थ हैं।

★ श्रुत ज्ञान या प्रवचन के ही दो भेद हैं, स्वार्थ ज्ञान तथा परार्थ ज्ञान। शेष चार ज्ञान तो स्वार्थ रूप ही होते हैं।

★ दिगम्बर संत की मुद्रा ही प्रवचन है।

★ वचन सदुपयोग करने से ही प्रवचन के फल की उपलब्धि हो सकती है।



(38) आवश्यक परिहारिणी भावना

★ जो वश में नहीं हो वह अवश है तथा अवश होने से वे अवश्य कहलाते हैं, जो अवश्यों का समुदाय है, वह आवश्यक है।

★ अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक कहलाते हैं, वे आवश्यक कर्त्तव्य अपरिहार्य होते हैं, किसी भी परिस्थिति में परिहार न करें।

★ जैसे मल-मूत्र का वेग या छींक-खांसी आदि का आना अपरिहार्य है, जीवन जीने के लिए प्राण वायु या भोजनपान आवश्यक है, उसी प्रकार धर्मात्मा जनों को अपना कर्त्तव्य करना आवश्यक है।

★ जो पांच इंद्रिय और मन के वशीभूत नहीं है, वह अवशी है, वशी के द्वारा किया गया कर्त्तव्य-पालन, आवश्यक कर्त्तव्य पालन ही कहलाता है।

★ जिसे उत्तम क्षेत्र, मनुष्य पर्याय, अनुकूल शरीर, उत्तम संगति, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सानिध्य एवं कर्त्तव्य पालन की क्षमता ये छः योग्यताएं प्राप्त हैं, उसे अपने षडावश्यक कर्त्तव्यों का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

★ जिनेन्द्र देव की पूजा, सच्चे गुरुओं (दिगम्बर संतों) की भक्ति, उपासना, आर्षमार्गीय ग्रंथों का स्वाध्याय, यथाशक्य देश संयम (व्रतोपवासादि) इच्छाओं का निरोध व कर्म क्षय करने के लिए तप एवं सत्पात्रों को नित्य दान देना, श्रावकों के छः आवश्यक कर्त्तव्य जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।

★ उक्त छः आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करने में जो असमर्थ हैं, उनके लिए सत्पात्रों को दानदेना, पंच परमेष्ठी या देव-शास्त्र-गुरु की पूजन, ब्रह्मचर्य व्रत या सप्त शीलव्रतों का पालन करना एवं व्रतोपवासादि करना चार कर्त्तव्य जिनेन्द्र देव ने कहे हैं।

★ जो श्रावक उक्त छः अथवा चार कर्त्तव्यों के पालन करने में असमर्थ हैं, उन्हें सत्पात्रों को दान एवं पंच परमेष्ठी की पूजन भक्तिादि इन दो कर्त्तव्यों का तो अवश्य ही पालन करना चाहिए।

★ समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान या स्वाध्याय एवं कायोत्सर्ग ये श्रमणों के छह आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

★ श्रमणों के अनिवार्य कर्त्तव्य ध्यान और अध्ययन जिन देव ने कहे हैं, इनके बिना श्रमण-श्रमण नहीं होता।

★ श्रमण/मुनिराज अपने आवश्यककर्त्तव्यों का प्रत्येक दिन संख्यात बार पालन करते हैं, तथा श्रावक अपने छह कर्त्तव्यों में से दो-चार का भी पालन नित्य नहीं कर पाता। अब बताओ शिथिलता साधुओं में आई है या श्रावकों में।

★ आवश्यक कर्त्तव्यों का निरतिचार रूप से नित्य पालन करने वाला श्रावक हो या श्रमण, तीर्थंकर प्रकृति का बंधकर लेता है।

★ जब तक श्रमण एवं श्रावक अपने षडावश्यक कर्त्तव्यों का पालन करने में संलग्न हैं, तब तक जैन धर्म की यशोपताका सदैव फहराती रहेगी। बिना श्रावक व श्रमण के धर्म नहीं ठहर सकता।

★ जो भव्य जीव श्रमण धर्मानुकूल षडावश्यक कर्त्तव्यों के पालन करने में असमर्थ हैं, तब तक उन्हें श्रावक धर्मानुकूल षडावश्यक कर्तव्यों का पालन तो करना ही चाहिए।

★ जिस प्रकार विद्यार्थी अपने आवश्यक कार्यों को न करे तो कक्षा में गुरुजनों के द्वारा देय दण्ड को प्राप्त करता है, उसी प्रकार कर्त्तव्यहीन श्रावक व श्रमण दण्ड के योग्य हैं।

ध्यानेन शोभते योगी, संयमेन तपोधनः।
सत्येन वचसा राजा, गृही दानेन शोभते॥

अर्थ— ध्यान से योगी, संयम से तपोधन, सत्य वचन से राजा एवं गृहस्थ दान से शोभा को प्राप्त होता है।



(39) मार्ग प्रभावना भावना

★ संसार में व्याप्त मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार को जिनपूजा, सत्पात्रदान, तप, संयम, साधना, ज्ञानोपासना, धर्माराधना के माध्यम से दूर करना ही 'प्रभावना' कहलाती है।

★ यथार्थ धर्म की साधना करने से ही दूसरे प्राणी प्रभावित हो सकते हैं, उन्हें सत्य धर्म की ओर प्रभावित करना ही धर्म प्रभावना या मार्ग प्रभावना कहलाती है।

★ जिन-धर्म प्रभावनेच्छुक मनीषियों, प्रज्ञपुरुषों, संयमी साधकों, उपासकों को ऐसा काम करने से बचना चाहिए, जिनसे धर्म की अप्रभावना होती है।

★ अप्रभावना से बच जाना भी धर्म प्रभावना का प्रथम सोपान है, इसके बिना अन्य सोपानों की प्राप्ति होना असंभव है।

★ धर्म साधना, ज्ञानोपासना, संयम साधना इस तरह करें, जिसमें स्व-पर कल्याण निहित हो, जिससे व्यक्ति समीचीन दृष्टि, सम्यक् ज्ञान व सदाचार को ग्रहण करने की शुभ प्रेरणा प्राप्त कर सकें।

★ जो सत्यार्थ रूप पुरुष की, जिन-धर्म की, यथार्थ साधर्मी बंधुओं की, मोक्षमार्गी साधकों की एवं जिनवाणी की निंदा करते हैं, वे धर्म के बाहर ही खड़े हैं, उन्होंने अभी धर्म के मर्म को नहीं जान पाया।

★ धर्म का मार्ग धवल चादर के समान है, वह दुकूल सदैव धवल ही बनती है, कदाचित् उस पर कोई श्याम वर्ण का एक छोटा सा भी दाग लग जाता है तो सभी के दृष्टिगोचर होता है।

★ जिस मार्ग पर गमन करने से प्राणी संसार के दुःखों से मुक्त हो सके, शाश्वत सुख शांति व अपने स्वभाव को प्राप्त कर सके, ऐसे मार्ग की प्रभावना करना ही मार्ग-प्रभावना / धर्म प्रभावना कहलाती है।

★ धर्म प्रभावक साधक कभी भी धर्म की निंदा नहीं करते और न ही धर्म मार्ग की निंदा की बात सुन सकते हैं, वे स्वयं तो अपनी साधनादि से धर्म मार्ग को प्रकाशित करते ही हैं साथ ही दूसरों से भी कराते हैं।

★ धर्ममार्ग का सहारा लिये बिना आज तक कोई शुद्ध बुद्ध नहीं बन सका, न बन सकता है तथा भविष्य में भी कभी नहीं बन सकेगा अतः धर्म की प्रभावना या प्रकाशन करना आवश्यक है।

★ धर्म युक्त भावना जब साधना या उपासना में परिवर्तित हो जाती है तो वह भावना प्रभावना में बदल जाती है।

★ धर्म प्रभावना का आशय मात्र दूसरों को ही प्रभावित करना नहीं है वरन् अपनी आत्मा को भी धर्म से प्रवाहित / धर्म में रञ्जायमान करना है।

★ बड़े-बड़े जुलूस रैली से जहाँ धर्म प्रभावना होती है तो अव्यवस्थित इन्हीं कार्यक्रमों से कभी-कभी अप्रभावना भी हो जाती है।

★ किसी जुलूस में अनेकों बैण्ड पार्टी व हजारों मनुष्यों का शामिल होना इतना प्रभावक नहीं होता, जितना उन धर्मात्मा जनों का श्रद्धा-भक्ति समर्पण के साथ पंक्तिबद्ध चलना।

★ बिना धर्म प्रभावना किये अथवा इस प्रकार की भावना भाये बिना कोई भी प्राणी तीर्थकर नहीं बन सकता।

★ धर्म प्रभावना करने में किञ्चित् सावद्य भी संभव है किन्तु हाँ, धर्म से अधिकाधिक व्यक्तियों का कल्याण हो, तब तो ग्राह्य है, अन्यथा नहीं।

★ धर्म भावना, मार्ग प्रभावना, स्व परहित से रहित हो, तब तो किंचित् सावद्य भी ग्राह्य नहीं है। धर्म ध्वंसक, आत्मघातक, धर्मात्माओं को कष्टप्रद, देव-शास्त्र-गुरु की निंदा या अवर्णवाद का हेतुभूत सावद्य सर्वथा त्यागने योग्य है।

★ धर्म प्रभावना की भावना धर्मात्मा के हृदय में ही उत्पन्न होती है। जिनका हृदय धर्म से शून्य है, वे क्या धर्म-प्रभावना करेंगे ?

★ धर्मात्माओं के आधार से ही मार्ग प्रभावना व धर्म का अस्तित्व है। जिस दिन धर्मात्मा का लोप हो जाएगा, उसी समय से धर्म मार्ग प्रभावना व धर्म का उस क्षेत्र से लोप हो जाएगा।



(40) प्रवचन वत्सलत्व भावना

★ प्रवचन का अर्थ है—प्रकृष्ट वचनों से युक्त श्रमण या साधर्मी बन्धु तथा वत्सलत्व का अर्थ है—वात्सल्य भाव।

★ जिनेन्द्र भगवान के वचनों में, दिगम्बर निर्ग्रन्थ संतों में या साधर्मी बन्धुओं में निस्वार्थ, निश्छल प्रेम का होना प्रवचन वत्सलत्व है।

★ जिस प्रकार गाय का अपने बछड़े के प्रति निर्मल, निस्वार्थ, निश्छल, निश्चल प्रेम होता है, ऐसे निर्मल स्नेह को ही, जो गुणों में परमप्रीति सहित हो, वात्सल्य भाव कहते है।

★ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, साधर्मी वर्ग एवं जिनधर्म के प्रति हार्दिक प्रीति, व उनके गुणों के प्रति श्रद्धा, भक्ति, अनुराग व उन्हें प्राप्त करने की भावना ही 'प्रवचन वत्सलत्व' भावना है।

★ दर्शन विशुद्धि भावना व 'प्रवचन वत्सलत्व भावना' इन दो भावनाओं की मुख्यता वाला जीव यदि शेष भावनाओं में गौणता से युक्त है, तब भी वह तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला होता है।

★ ऐसे साधर्मी भी होते हैं, जो कहते हैं कि हम हाथी के साथ तो रह सकते हैं, चल सकते हैं किन्तु साथी के साथ नहीं। ऐसे व्यक्ति धर्म भावना से शून्य समझने चाहिए।

★ यथार्थ धर्मात्मा वही होता है, जो साधर्मी के गुणों से ऐसी प्रीति करता है, जैसे—दूध व पानी की प्रीति होती है, पानी के बिना दूध उफनकर बाहर आ जाता है, आकुल-व्याकुल हो जाता है। यही अवस्था धर्म, धर्मात्मा व धर्मायतन के बिना यथार्थ साधर्मी बंधुओं की होती है।

★ जो साधर्मियों को, त्यागी-व्रतियों को या सगे सम्बन्धियों को देखकर श्वान सा गुर्राता है, उनसे ईर्ष्या करता है अथवा निंदा करता है, ऐसा

व्यक्ति धर्म का विध्वंसक होता है। कालान्तर में दुर्गति को ही प्राप्त करता है।

★ जो साधर्मी आज चार धर्मात्माओं, सगे-सम्बन्धियों व भाइयों के बीच वात्सल्य व प्रेम से नहीं बैठ सकता, वह कल संख्यात (40) साधर्मियों में भी प्रेम से नहीं बैठ सकेगा और न ही असंख्यात प्राणियों के साथ समवशरण में बैठने का अधिकारी हो सकता है।

★ सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, साधर्मी बन्धु व जिनधर्म की निंदा करने वाला साधर्मी या वात्सल्यवान नहीं हो सकता।

★ वात्सल्यहीन व्यक्ति पत्थर की कठोर चट्टानों के समान होते हैं जो नदी के समान धर्म की निर्मल सरिता को भी दो भागों में बांट देते हैं।

★ भगवान महावीर स्वामी का भक्त (सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का अनुयायी) किसी दूसरे जिनानुयायी के प्रति ईर्ष्या भाव रखे, वैमनस्यता रखे या मात्सर्य भाव रखे तो उसकी पूजा-भक्ति व्यर्थ ही हुई।

★ जिसके हृदय में विधर्मी के प्रति सम्मान है तथा साधर्मी के प्रति ईर्ष्या या द्वेष के भाव हैं, ऐसे व्यक्ति को धर्म द्रोही ही समझना चाहिए।

★ यदि अपना सगा भाई भी सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के विरोध में है तो उसका भी साथ छोड़कर माध्यस्थ भाव धारण करना चाहिए। इसके विपरीत शत्रु भी देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म का यथार्थ भक्त है तो उसके साथ रहना चाहिए। जिस प्रकार कि विभीषण ने धर्म विरुद्ध कार्य करने वाले अपने भाई बन्धु परिवार सब को छोड़ दिया।

★ छद्मस्थावस्था में व्यक्ति के विचारों में मतभेद होना संभव है, किन्तु धर्म के प्रति उनका अभिप्राय, श्रद्धा, समर्पण, भक्ति एक होनी चाहिए। मतभेद होने पर एक धर्मानुयायियों में मनभेद नहीं होना चाहिए।

★ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण प्राप्त कर अपने हृदय की जातिय द्रोहता, मात्सर्यता, वैमनस्यकता, ईर्ष्या, शंकालुवृत्ति, मूढ़ता एवं दुष्चर्या छोड़ देनी चाहिए तभी वात्सल्य भाव का उद्गम होना संभावित है।

★ अनेकों बल्बों का प्रकाश कमरे में, अनेकों तारों का प्रकाश गगन में, अनेकों जल बिन्दुओं का समूह सिन्धु में मिल जाता है तथा परमानंद

को प्राप्त होता है। उसी प्रकार का परमानंद साधर्मी से मिलने पर आना चाहिए।

★ जो पानी की तरह अपने स्वभाव को पूर्णतः त्याग कर तुम्हारा शुद्ध स्वभाव ग्रहण करे, उस विजातीय को अपने में मिला लेना चाहिए, किन्तु जो आक के दूध की तरह तुम्हारी पय रूपी निर्मलधर्म भावनाओं को फाड़े, उसे-अपने में कभी नहीं मिलाना चाहिए।

वात्सल्य हो तो ऐसा !

एक बार एक प्यासा मृग युगल पानी को खोजता हुआ ग्राम के समीप आया, वहाँ किसी कुँए के पाट पर बने गड्ढे मे थोड़ा-सा पानी दिखा। तब मृगी ने मृग से व मृग ने मृगी से पानी पीने को कहा। पानी से केवल एक की ही प्यास बुझ सकती थी। तब दूसरा बिना पानी के वहीं मर जाता। तथा पानी पीने वाला भी उसके वियोग में जीवित नहीं रह सकता था। तब दोनों एक-दूसरे को ही पानी पीने की कहते-कहते मर गये।

प्रातःकाल दो सखी वहाँ पानी भरने आईं। उनमें से एक सखी ने दूसरी सखी से पूछा—

खड़ा दिखे न पारधी, लगा दिखे ना बाण।
कह सखी मृग युगल ने, क्यों तज दीने प्राण॥

तब दूसरी सखी जो प्रेम के वियोग की वेदना को जानती थी वह यूँ कहने लगी—

पानी थोड़ा हित घना, लगा प्रीति का बाण।
तू-पी, तू-पी, कहत ही, दोनों दीने प्राण॥

काश ! उन मृग युगल जैसा प्रेम/वात्सल्य धर्मात्मा में भी दिखायी दे, तो आज भी यहाँ घी, दूध की नदियाँ बह सकती हैं।

(41) अनित्य भावना (ये सदा नहीं रहेगा)

★ हे मूढ़ मते ! क्षण भर में विनष्ट होने वाले इन्द्रिय सुख में प्रीति करके तीन लोक विनष्ट हो रहे हैं सो तू विषयों में लीन क्यों अचेत पड़ा है ? क्या तू नष्ट नहीं होगा ?

★ हे आत्मन् ! शरीर, धन, यौवन, स्त्री, पुत्र, महल, खजाने जितने भी पदार्थ तुझे दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये पानी के बबूले के समान क्षणध्वंसी हैं।

★ अचिरात् भोगों में तू क्यों राग करता है जरा स्वविवेक से सोच, क्या भोग सदैव रहेंगे ? या तू सदैव रहेगा ? क्या भोगों के भोगने से तू संतुष्ट हो जायेगा ? गगन गामिनी दामिनी की तरह यह विनष्ट हो जायेंगे, अतः इनमें तू राग मत कर।

★ जिस प्रकार नदी में लहरें उठती एवं विनष्ट होती दिखाई देती हैं, उसी प्रकार तेरे शरीर में भी प्रतिक्षण लहरें/पर्यायें उत्पन्न व विनष्ट हो रही हैं, उससे तू बेखबर क्यों है ?

★ जैसे वृक्षों में बसंत ऋतु में सभी पत्ते झड़ जाते है, पुनः हेमंत ऋतु में नये पत्ते आ जाते हैं, उसी प्रकार तेरा यह पुराना शरीर नष्ट हो जायेगा, चाहे तू इसकी कितनी भी सुरक्षा कर और पुनः नया प्राप्त हो जायेगा।

★ हे मूढ़ मते ! तू मृत्यु के नाम से क्यों डरता है ? उसका नाम भी सुनना नहीं चाहता, उसे भूल जाता है किन्तु ध्यान रख मृत्यु तुझे नहीं भूल सकती। वह तेरे पास धीरे-धीरे अवश्य आयेगी और सरे-आम ले जायेगी।

★ हे आत्मन् ! तू उस दिन का ध्यान कर जब तेरे शरीर रूपी पिंजड़े से आत्मा रूपी पक्षी उड़ जायेगा। यह पिंजड़ा (जिसका तूने अनादिकाल से पोषण किया) यहीं पड़ा रह जायेगा।

★ हे आत्मन् ! तू पुण्य के उदय में आकर तो इतना फूल जाता है कि धर्म को ही भूल जाता है और पाप के उदय में कुलता है, धन, दौलत, बल, वैभव, पाकर इतराता है, पुनः पापोदय से घबराता है, सो यह तेरी मूर्खता है। अरे दोनों को समभाव से सह।

★ हे आत्मन् ! एक दिन वह भी था जब तेरे सातिशय पुण्य का तीव्र उदय था, सभी अनुकूलतायें तुझे प्राप्त थीं, आज पाप के उदय में सब प्रतिकूलतायें ही हैं इन्हें देखकर तुम घबराओ नहीं क्योंकि वे दिन सदा स्थाई नहीं रहे तो 'यह दिन भी सदा नहीं रहेंगे।'

★ हे आत्मन् ! दुःख भी सदैव नहीं रहता और सुख भी सदैव नहीं रहता, दोनों धूप और छांव की तरह क्षणध्वंसी है। क्षणभर का नाटक है, इसमें तू आसक्त मत हो।

★ हे मीत ! तुम सदा इस बात का चिंतन करते रहो कि 'ये सदा नहीं रहेगा' तो तुम पुण्योदय व पापोदय को समता से सहन कर सकते हो। दोनों की अनित्यता तुम्हारी समझ में स्वतः ही आ जायेगी।

★ वस्तु की अनित्यता का यथार्थ ज्ञान होने पर उसके प्रति मोह, राग, द्वेष स्वतः ही कम हो जाते हैं।

★ संसार में जितने भी चेतन-अचेतन, दृश्यमान व अदृश्यमान पदार्थ हैं, वे सभी पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही हैं।

★ द्रव्य दृष्टि से देखा जाये तो द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता, न हुआ है, न होगा, अतः तू द्रव्य दृष्टि को प्राप्त करके अपने अशुद्ध द्रव्य को शुद्ध रूप परिणमन करने का पुरुषार्थ कर।

★ हे आत्मन् ! संसार की अनित्यता तो देखो ! जिनके यहाँ प्रातः जन्म के गीत गाये जाते हैं वहीं मध्यान्ह काल में शोकाकुल से युक्त हो करूण क्रन्दन व विलाप सुनाई पड़ता है, जो शरीर सुबह चमक रहा था बोलने, खाने, पहनने, भोग, भोगने की क्रिया में संलग्न था, उसी की शाम तक राख उड़ जाती है।

★ हे आत्मन् ! स्वभाव से अथिर संसार में तू थिर वस्तु को बाहर में खोज रहा है, सो यह तेरी मूर्खता है, क्योंकि थिर/नित्य वस्तु तो तू स्वयं ही है, सो उसे तू पहचानता नहीं है।

★ अनित्य भावना का अर्थ है वस्तुओं की अनित्यता/क्षणिकपने का बार-बार चिंतवन करना।

वर भवण जाण वाहण सयणासण देव मणुव रायाणं।
मादु-पिदु सजण भिच्च य, संबंधिणो वि दिवियाणिच्चा॥ 31॥ वा० आ०

अर्थ—देवों, मनुष्यों और राजाओं के सुन्दर-सुन्दर महल, जहाज, सवारी, शय्या, आसन, माता, पिता, स्वजन, भृत्य, सम्बन्धी और चाचा, ताऊ सभी नाशवान हैं।

सामग्गी इंदिय रूवं, आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं, सुरधणु सस्सदं ण हवे॥ 4॥ वा० आ०

अर्थ—(भोगोपभोग की) सामग्री, इन्द्रियों का स्वरूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य, लावण्य ये सब इन्द्रधनुष के समान शाश्वत नहीं हैं, अर्थात् सभी नश्वर हैं।

* * *

भक्ति

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गईं णिवारेदि।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धि परंपर सुहाणं॥ ७४५॥ भ० आ०

अर्थ—एक ही जिन भक्ति संसार का निवारण करने में, पुण्य कर्मों को पूर्ण करने में, और मोक्ष पर्यंत सुखों की परम्परा को देने में समर्थ है॥

तह सिद्ध चेदिए पवयणे य आइरिय सव्व साहूसु।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्व॥ ७४६॥ भ० आ०

अर्थ—तथा सिद्ध परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्व साधुओं में तीव्र भक्ति संसार का विनाश करने में समर्थ है।



(42) अशरण भावना (मरते न बचावे कोई)

★ संसार में कोई भी शरण नहीं है, इस बात का निजात्मा में बार-बार चिन्तन करना ही अशरण भावना है।

★ सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म ही संसारी प्राणी की व्यवहारगत शरण हैं, निश्चय से तो आत्मा ही आत्मा की शरण है, किन्तु व्यवहार शरण का आश्रय लिये बिना निश्चय शरण की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे—बिना बीज के वृक्ष।

★ शरण का अर्थ होता है जिसके आश्रित होने से हमारी आत्मा की पापों से सुरक्षा हो सके, इसके विपरीत ही अशरण है—अपनी असुरक्षा का चिंतवन ही अशरण भावना है।

★ मृत्यु के समय धन, वैभव, स्वजन, परिजन, पुरजन, मित्र, मणि, मंत्र, तंत्र, औषधि एवं इन्द्रादि कोई भी नहीं बचा सकते।

★ मृत्यु जीवन की ऐसी निश्चित घटना है जो कि जीवन के किसी भी अनिश्चित मोड़ पर कहीं भी कभी भी घट सकती है।

★ जिनका जन्म हुआ है, उनकी मृत्यु नियम से होगी। मृत्यु होने वालों में सभी का जन्म लेना नियामक नहीं है। मृत्यु की मृत्यु करने वाले पुनः नहीं जन्मते और न ही पुनः मरते हैं।

★ तुम मृत्यु को भले ही भूल जाओ किन्तु मृत्यु कभी भी तुम्हें नहीं भूल सकती।

★ मृत्यु यदि कहीं बाहर से आती होती तो उससे बचने का उपाय खोजा जा सकता था, किन्तु वह तो अन्दर से ही प्रकट होती। प्राणों के साथ प्राण के रूप में, जीवन के साथ जिन्दगी बन करके ही रहती है, फिर उससे कैसे बचें ?

★ जिन-जिन की हम शरण खोजते हैं वे सभी भी अशरण, असुरक्षित हैं फिर बताओ अब हम किसकी शरण में जायें ?

★ हे मौत ! यदि तू एक बार आई होती तो हमें बुरी नहीं लगती किन्तु तू बार-बार आती है, तब बता तुम्हें कहाँ तक सहन करें ?

★ मौत से वे ही प्राणी डरते हैं जिन्होंने अशरण भावना का समीचीन चिंतवन नहीं किया, भावनाओं को भाने वाला मौत से नहीं डरता।

★ हमें उन सभी पदार्थों से ममत्व छोड़ देना चाहिए जिन्हें मौत हमसे छीन लेगी।

★ अशरणादि भावनाओं की चिंतवन करने वाला कभी भी शरीर, भोग, संसार में आसक्त नहीं हो सकता।

★ *जिन्हें तू जीवन का कारण समझता है, शरण मानता है, वही मृत्यु का हेतु बनता है।*

★ हे आत्मन् ! तू बाहर के रक्षकों की चिन्ता क्यों करता है ? रक्षक तेरी रक्षा नहीं कर पायेंगे, हो सकता है ये ही तेरे भक्षक बन जायें।

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंच परमेष्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं॥

अर्थ—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी भी वस्तुतः आत्मा में लीन रहते हैं, अतः निज आत्मा ही मुझे शरण है।

* * *

समत्तं सण्णाणं, सच्चरित्तं य सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठादि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं॥93॥ वा. आ.

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र और सम्यक तप ये चारों ही (निज) आत्मा में अवस्थित हैं! अतः मुझे निज आत्मा ही शरण है।



(43) संसार भावना (मेरी करूण कहानी....)

★ जिसमें जीव अनादि काल से 4 गति व 84 लाख योनियों के निमित्त से संसरण/भ्रमण करते हैं उसी का नाम संसार है।

★ जिस प्रकार अग्निकुण्ड मे शीतलता की प्राप्ति असभव है, उसी प्रकार इस संसार में शाश्वत सुख शांति की प्राप्ति असंभव है। क्योंकि संसार मे सुख शांति है ही नहीं।

★ संसार में रहना संसार का कारण नहीं है किन्तु संसार का हमारे अंदर रहना ही संसार का कारण है, नाव पानी मे रहे तो पार हो जायेगी किन्तु नाव में पानी भर जायेगा तो डूब जायेगी।

★ हे आत्मन् ! राग-द्वेष ही संसार के मुख्य कारण हैं, इन दोनों पैरों से ही संसार भ्रमण हो रहा है, इनका अभाव होते ही मुक्ति उपलब्ध हो जायेगी।

★ संसार उस रंगमंच का नाम है जहाँ प्राणी विभिन्न भेषों को धारण करके अपना नाटक दिखाने हेतु बार-बार आते हैं। संसार एक वृक्ष है जिस पर पक्षी रूपी जीव मात्र रात्रिभर बसेरा करते हैं, पुन: आयु रूपी रात्रि पूर्ण होते ही अपनी-अपनी दिशा में चले जाते हैं।

★ हे आत्मन् ! चन्द क्षणों के संयोग में, मेले के समान इस सम्मेलन में आकर, ट्रेन में यात्रा करने वाले यात्री की तरह, प्लेट फार्म पर खड़े प्रतीक्षार्थी की तरह चंद क्षणो के लिए हम खड़े हैं, इन चंद क्षणों को राग-द्वेष, कषायावेश व इन्द्रियों के पराधीन होकर नहीं अपितु धर्म ध्यान में संलग्न होकर व्यतीत करें तो अति उत्तम रहे।

★ कोई तन दु:खी, कोई मन दु:खी, कोई धन दु:खी, कोई वचन/व्यवहार से दु:खी है। इस संसार में सर्व सुखी कोई नजर नहीं आता।

★ यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवरूपी पाँच डिब्बों की गाड़ी में बैठकर अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। गाड़ी में से उतर कर मोक्ष रूपी स्टेशन पर भी पहुँच सकता है।

★ संसारी जीव पुद्गलों के टुकडों में आत्मबुद्धि करने से, राग करने से ही परिभ्रमण कर रहा है, यदि पुद्गल के प्रति राग भाव छूट जाये तो संसार परिभ्रमण भी छूट जायेगा।

★ जो भव्य जीव संसार के यथार्थ स्वरूप जान चुके हैं, वे ही जीव भव वारिधि को पार करने की भावना भाते हैं, जो पर स्वभाव में लीन हैं, वे कभी संसार सागर को पार करना नहीं चाहेंगे।

★ इस लोक में रहने मात्र से हम संसारी नहीं हैं, अपितु कषाय, पाप, इन्द्रिय विषय, मोह, राग-द्वेष वासना ग्रस्त होने से, द्रव्य, भाव, नौ कर्म से संयुक्त होने से संसारी हैं।

★ सिद्धालय क्षेत्र की प्राप्ति मात्र करने से हम मुक्त नहीं होंगे, न ही सिद्धत्व की प्राप्ति होगी किन्तु जब हम सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो जायेगे तो जहाँ भी होंगे, वह सिद्ध क्षेत्र सिद्धालय या मोक्ष स्थान होगा।

★ सुख-दुःख की प्राप्ति हमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं बल्कि चेतना के वैभाविक परिणमन से हो रही है, यदि वैभाविक परिणमन छूटे तो संसार से मुक्ति हो अन्यथा असंभव है।

★ संसार एवं मोक्ष के कारण हम स्वयं ही हैं, अज्ञानता वश हम दूसरों को ही संसार व मोक्ष के कारण मान रहे हैं। पराश्रयी वृत्ति ही संसार का हेतु है, निजात्मलीनता व स्वाधीनता ही शिव कारण है।

★ संसार का जो लुभावना स्वरूप बाहर से दिखाई देता है, वही अंदर होता तो संत पुरुष उसे छोड़कर क्यों जाते तथा जो संसार की असारता अंदर जाने पर महसूस होती है, यदि वह बाहर से दिखे तो इसमें कौन भ्रमण करता ? अर्थात् कोई नहीं।

★ काश ! संसार का अनुभव करने पर या उसमें फंसने पर जो दुःख की अनुभूति होती है, यदि वह फंसने के पहले ही हो जाये तो इस संसार में कोई रहना न चाहे।



(44) एकत्व भावना (मैं अकेला ही चलूँगा .... मंजिलों तक)

★ हे आत्मन् ! यह जीव अकेला ही शुभ व अशुभ परिणाम करके पुण्य एवं पाप कर्मों का बंध करता है एव जब उनका विपाक होता है, तब अकेला ही सुख एवं दुःख का भोक्ता होता है।

★ जो खाता है उसी का पेट भरता है, दूसरे का नहीं, जो नहीं खाता है उसका पेट नहीं भरता तथा मीठा खाने से मुँह मीठा, कड़वा खाने से मुँह कड़वा होता है।

★ यह जीव अकेला ही कषायोद्रेक से, प्रमाद से एवं अज्ञानतावश पापोपार्जित करके नरकादि दुर्गति का पात्र होता है एवं कषाय की मंदता, धर्मभावना, संयम का पालन करके अकेला स्वर्गादि के सुख भोगता है।

★ यह जीव पर के कारण ही पाप कर्मों में व्यस्त रहता है, स्त्री, पुत्रादि के लिए अथवा शरीरादि के लिए। अपनी चेतना के लिए तो पाप करने की आवश्यकता ही नहीं है।

★ जिनके लिए पाप करके तू दुर्गति का पात्र बन रहा है, देख वे ही आज स्वर्ग में सुख भोग रहे हैं, तू पाप करने वाला पापी बन दुःखों का भोक्ता बन रहा है।

★ हे आत्मन् ! तू अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरण करता है, जन्म से पूर्व भी जो साथ में था ऐसा शरीर भी तेरा साथ देने में समर्थ नहीं है।

★ हे आत्मन् ! इस पुद्गल के पिण्ड में विद्यमान, रागद्वेष से रहित, चिन्मयी अनंत गुणों की पिण्ड, कर्ममात्र से रहित आत्मा का ध्यान/चिन्तन करो, उसी में आपका हित संभव है अन्यथा नहीं।

★ संसार में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिससे सभी प्राणियों को संतुष्ट किया जा सके, अतः वह कार्य ही श्रेयस्कर है जिसके माध्यम से आत्म हित हो।

★ मनुष्य भव की सार्थकता मोक्षमार्ग की प्राप्ति में ही संभव है और मोक्षमार्ग की प्राप्ति एकत्व भावना के भाए बिना असंभव है, अतः अपनी आत्मा को पहचानो।

★ आज संसार के अनंतानन्त पर पदार्थों के ढेर में मेरी आत्मा गुम गई है और मैं पर पदार्थों में ही आत्म बुद्धि करके उन्हीं में संतुष्ट हूँ, अब आत्मा कैसे मिले ?

★ आज तक अपनी आत्मा को प्राणी पुद्गल में खोजता है, पुद्गल में पुद्गल ही मिलेगा, आत्मा नहीं, मेरी आत्मा तो मेरी आत्मा में ही है, अन्य आत्माओं या अनात्माओं मे नहीं।

★ मोक्ष की प्राप्ति के लिए अकेला ही चलना पड़ेगा, राह में भले ही कोई राहगीर तुम्हें मिल जाये किन्तु सभी राहगीर तुमसे बिछुड़ जायेंगे और तुम्हें अकेले ही मंजिलों तक जाना होगा, अतः आज ही संकल्प कर कि मैं अकेला ही चलूँगा मंजिलों तक तो मंजिल तत्काल ही प्राप्त हो जायेगी।

★ संसार भ्रमण के लिए पर द्रव्य की आवश्यकता नियम से होती है। मोक्ष के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं अपितु जो पर द्रव्य चुराया है, अपने अन्दर बसा लिया है, बांध लिया है, उसे भी छोड़ दो जिससे तुम्हारा तुमसे साक्षात्कार हो जाये, फिर तू कभी भव भ्रमण नहीं करेगा।

एकत्व

एक्कोहं च णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयं एवं चिंतेज्ज संजदो॥ २०॥ बा० अ०

अर्थ—मैं अकेला हूँ, मेरा अन्य कोई नहीं है। मैं शुद्ध हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान दर्शनमय है। आत्मा का एक शुद्ध स्वरूप ही उपादेय है, इस प्रकार संयमी को सदा चिन्तन करना चाहिए।

(45) अन्यत्व भावना (मेरा तो मुझमें बसे .....)

★ विश्व में मुख्यत: दो प्रकार के द्रव्य हैं—(1) चेतन द्रव्य (2) अचेतन द्रव्य। अचेतन द्रव्य के पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये 5 भेद हैं जोकि चेतन से सर्वथा भिन्न ही हैं।

★ चेतन द्रव्य भी संसार में दो प्रकार के हैं—(1) संसारी (2) मुक्त। जो कर्मों से रहित हैं, वे मुक्त जीव हैं तथा कर्म सहित संसारी जीव होते हैं।

★ जो कुछ भी चर्म चक्षुओ से दृष्टिगोचर होता है, वह सब पुद्‌गल द्रव्य है। जीव इस पुद्‌गल द्रव्य से राग करके कर्मों के बन्धनों को स्वीकार कर लेता है, राग न करे तो मुक्त हो जाये।

★ यह जीव नौ कर्म वर्गणाओं से निर्मित इस शरीर को अपना मान लेता है, किन्तु नौ कर्म, द्रव्य कर्म व भाव कर्म जीव से स्वभावत· पृथक हैं। ये जीव के शुद्ध स्वभाव नहीं हैं फिर भी मूढ़ जीव इन्हीं में राग करता है, यह बहुत बडा आश्चर्य है।

★ संसार में स्वयं से पृथक दिखने वाले चेतन पदार्थ—स्त्री, पुत्र, माता, पिता, बन्धु वर्ग, मित्रादि एवं अचेतन पदार्थ—मकान, दुकान, क्षेत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादि जीव से जुदा हैं, सदैव ऐसा चिंतवन करना चाहिए।

★ अन्यत्व का अर्थ है भिन्नपना या पृथकता, आत्मा व अनात्मा का भिन्नपना सर्व प्रकट है. इसी का बार-बार चिंतवन करना अन्यत्व भावना है।

★ पुण्य व पाप कर्म जो इष्ट व अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में कारण है, वह भी पर है अत: उसमें भी राग मत करो।

★ जब किसी पदार्थ के प्रति राग होता है तो उसके विपरीत पदार्थ के प्रति नियम से द्वेष होता है, यह राग द्वेष ही संसार का कारण है। संसार के पदार्थों में साम्य भाव धारण करो।

★ पर पदार्थ में की गई हेय व उपादेय बुद्धि भी कर्म बंध में कारण है, अतः हे आत्मन् ! हेय-उपादेय बुद्धि को छोड़ निर्विकल्प ध्यान में लीन रहो।

★ चर्मचक्षुओं से दृश्यमान पदार्थों को तो पर अनेकों लोग कहते हैं किन्तु चर्म के अगोचर कर्मों को भी पर मान, पर के निमित्त से होने वाले स्वकीय भावों को भी पर मान, तभी तुझे स्वद्रव्य की, निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति होगी।

★ पर को पर जानना पर्याप्त नहीं है, वैसा मानना एवं जीवंत चर्या में धारण करना भी अनिवार्य है।

★ आत्मा से पृथक भूत पदार्थों के प्रति एकीभाव या एकत्व बुद्धि रखना ही भव का मूल कारण है, पर के प्रति एकत्व बुद्धि छूटे तो मोक्ष हो।

★ भव्य जीव अपनी शुद्ध एकत्व दशा को तो पाना चाहते हैं किन्तु अशुद्ध दशा या पर भावों को छोड़ना नहीं चाहते, अतः स्वभाव से दूरी बढ़ती जा रही है।

★ क्या कभी दूसरे की चेतना तुम्हारी चेतना हो सकती है ? यदि नहीं तो पृथक जाति वाला पुद्गल (जिसे आप धन, मन, तन, वचन कहते हो वह) तुम्हारा कैसे हो सकता है ?

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण णाण मइयो सयारूवी
ण वि अत्थ मज्झ किंचवि अण्ण परमाणुमेत्तंपि॥

अर्थ—मैं एक स्वभावी हूँ, ज्ञान, दर्शन से युक्त, सदा अरूपी हूँ, मेरे अन्दर अन्य परमाणु मात्र भी विद्यमान नहीं है।

* * *

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतहि अण्णत्तं॥23॥ वा. आ.

अर्थ—ये शरीर आदि भी आत्मा से अन्य हैं, क्योंकि ये बाह्य द्रव्य हैं, आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तवन करो।



(46) अशुचि भावना (मल की पिटारी ....)

★ शुचि शब्द का अर्थ है पवित्रता, अशुचि का अर्थ है अपवित्रता। शरीर की अपवित्रता का बार-बार चिंतवन करना अशुचि भावना है।

★ यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है इसमें सात धातु व कुधातु भरी हुई हैं, यह अशुद्धि के माध्यम से उत्पन्न होता है, अतः अपवित्र ही है।

★ शरीर को पानी से बार-बार नहलाने पर भी शुद्ध नहीं होता, यह रत्नत्रय रूपी धर्म को अंगीकार करने से ही पवित्र हो सकता है।

★ यह शरीर रोगों की खान है, एक-एक अंगुल में 96 रोग होते हैं, यदि यह शरीर रोगी रहता है तो कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो निरोगी रहने में है।

★ यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, इसके संसर्ग मे पवित्र से पवित्र पदार्थ भी आ जाये तो वे भी अपवित्र हो जाते है, इससे प्रीति करना मूर्खता ही है।

★ यह शरीर यदि चमड़े से ढका हुआ न होता तो काक, गीध, मक्खी आदि पक्षियों व जन्तुओं से इसकी रक्षा करना भी कठिन हो जाता, ऐसे घृणित शरीर में राग करना निन्दनीय ही है।

★ इस शरीर में जितने भी मलद्वार हैं, इन सभी से सदैव मल झरता रहता है। इस मल की पिटारी को दिन-रात तू श्रृंगारित करता है, यह बड़े खेद की बात है।

★ हे भव्य जीव इस शरीर से यदि तू चाहे तो मोक्ष मार्ग पर गमन कर सकता है, यह शरीर धर्म-साधना का साधन है, इसे प्राप्त करके कुकर्म मत कर।

★ यह शरीर योग साधना से सार्थक होगा, जीव-विराधना, भोगाराधना से नहीं, सकल संयम की साधना एवं गहन तपों से ही यह शरीर सार्थक हो सकता है।

★ किसी दूसरे के शरीर में घाव, खून, पीव, मूल-मूत्र देखकर तो तू घृणा से, विरक्ति से भर जाता है, आश्चर्य है फिर भी तू भोगों में आसक्त क्यों है ?

★ बाहर से चमकती हुई चमड़ी को देखकर तू उस पर समर्पित हो जाता है, अपने रूप को भूल जाता है तो तेरी यह क्रिया इसी प्रकार है जैसे कोई मूर्ख-चांदी या सोने का वर्क लगी गोबर, विष्ठा पर रीझ जाये।

★ जब तक इस शरीर में चेतना है तब तक यह सुंदर दिख रहा है। चेतना निकलते ही यह चमड़ा भी बदबू देने लगेगा। अतः प्रेम करना है तो चेतन से कर, अचेतन से नहीं।

★ इस शरीर का जितना अधिक पोषण करो उतना ही भोगों के प्रति, इन्द्रिय विषयों के प्रति, कषाय व पापों के प्रति आसक्त रहता है, अतः इसके साथ मालिक का नहीं, नौकर का व्यवहार करो।

★ यह शरीर मोक्ष मार्ग की गाड़ी है अतः इसकी देखभाल, मरम्मत, ईंधन, पानी देना आवश्यक है जिससे तुम्हें मोक्ष मार्ग में गमन करते समय असुविधा न हो किन्तु एक बात अवश्य याद रखना कि ब्रेक आपके हाथ में ही रहे।

★ जो शरीर व इन्द्रियों के गुलाम बन चुके हैं, वे कभी धर्म साधना न कर सकेंगे, न ही शरीर का सदुपयोग हो सकेगा, नौकर को मालिक बना स्वयं उसकी नौकरी सेवा करना दुःख का ही मूल होगा।

★ शरीर की सेवा करने से आत्मा अपूज्य ही रहती है किन्तु जब शरीर आत्मा की, परमात्मा की सेवा में लग जाता है तो आत्मा ही नहीं शरीर भी पूज्य हो जाता है।

★ इस संसार रूपी सागर में हमें शरीर रूपी नौका भव-सागर से पार होने के लिए प्राप्त हुई है, हमें नौका पर बैठना है किन्तु कुछ मूर्ख चन्द नौका को सिर पर रखकर भवसागर में ही डूब रहे हैं, उन्हें कौन समझाये ?

★ चन्द क्षणों के बाद धराशायी होने वाले इस किराये के मकान को कब तक लीपा-पोती (साज-सज्जा, सफाई, धुलाई, पुताई) करते रहोगे। जल्दी मकान को छोड़कर भागो, नहीं तो मकान गिर गया तो कुछ न कर सकोगे, दुबारा यहीं मरना पड़ेगा।



(47) आस्त्रव भावना (क्यों बंधता कर्म जंजीर .....)

★ कर्मों के आने वाले मार्गों का नाम आस्त्रव है, बिना द्वार के प्रवेश असंभव होता है।

★ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये आस्त्रव के हेतु हैं, कारण होने पर कार्य होता ही है, जब तक ये कारण रहेंगे, आस्त्रव होता रहेगा।

★ हे आत्मन् ! बिना आस्त्रव के कभी बंध नहीं होता है, जहाँ तक आस्त्रव है वहाँ तक बंध भी नियम से होता है, चाहे एक समय का ही क्यों न हो।

★ आत्मा के स्वाभाविक गुण रूपी निधि/सम्पत्ति की चोरी, कर्म रूपी चोर तभी कर पाते हैं, जब उन्हे अंदर जाने का रास्ता मिल जाता है।

★ कर्मागमन के हेतुओं का बार-बार चिंतन करना, उनसे होने वाले हिताहित का चिंतन करना ही आस्त्रव भावना है।

★ कुदेवो मे सच्चे देव की मान्यता, कुशास्त्रों को समीचीन शास्त्र मानना, कुगुरुओ को यथार्थ साधु मान लेना, कुधर्म को सद्धर्म मानने की धारणा, अनात्मा में आत्म बुद्धि व कुतत्त्वो में तत्त्व रूप श्रद्धा ही मिथ्यात्व है।

★ श्रद्धा का विपरीत परिणाम ही मिथ्यात्व है, चेतन-अचेतन के भेद स्वरूप श्रद्धान का अभाव मिथ्यात्व का लक्षण है।

★ इन्द्रियों व अनिन्द्रिय के विषयों से एवं पाँचों पापों से विरक्ति का अभाव ही अविरति है।

★ षट्कायिक जीवों की रक्षा के संकल्प एवं पाँचों इन्द्रिय और मन के नियंत्रण का अभाव ही अविरति कहलाता है।

★ धार्मिक कार्यों में व आत्मा कल्याण के कार्यों के प्रति उत्साह का अभाव ही प्रमाद है।

★ सांसारिक कार्यों में उत्साह, कुशलता व प्रशस्त कार्यों में आलस्य एवं अनुत्साह का होना ही प्रमाद है।

★ कषाय का अर्थ है जो आत्मा को कर्म के बन्धनों में कसे, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि कषायें आत्मा को कसती हैं, बंधनों में डालती हैं।

★ जब तक कषाय की सत्ता रहती है तब तक कर्म रूपी बंधनों में मजबूती रहती है, कषाय का अस्तित्व समाप्त होते ही कर्म बंधन जली हुई रस्सी के समान रह जाते हैं।

★ योग का अर्थ होता है जोड़। योग आत्मा और पौद्गलिक कर्मों/कार्माण वर्गणाओं को जोड़ने का काम करता है।

★ योग कार्माण वर्गणाओं को बुलाने के लिए आमंत्रण पत्र देता है तथा कषायें उन कर्मों के स्वागत में तत्पर रहती हैं।

★ मन, वचन, काय के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं।

★ जब तक योग रहेगा तब तक नियम से कर्मों का आस्रव होता रहेगा, जिस समय योग का अभाव हो जायेगा उस ही समय कर्मबंध का भी अभाव हो जायेगा।

★ कारण के होने पर कार्य का होना, कारण के न होने पर कार्य का न होना भी संभव है।

मिच्छत्तं अविरमणं, कसाय जोगाय आसवा होंति।

पण-पण चउ-तिय भेदा सम्मं परिकित्तिदा समए॥47॥ वा.आ.

अर्थ— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव के कारण हैं, इनके क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन भेद जिन शास्त्र में सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं।

* * *

आस्रव

जम्मसमुद्दे बहु दोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।

जीवस्स परिब्भमणं कम्मासव कारणं होदि॥ १०/५६॥ वा० अ०

अर्थ— अनेक दोष रूप तरंगों से युक्त, दुख रूपी जलचर जीवों से व्याप्त, जन्म रूपी समुद्र में जीव का परिभ्रमण कर्मास्रव के कारण होता है।

(48) संवर भावना (क्यों न दुर्ग बनाये .....)

★ आत्मा के सुरक्षा कवच का नाम ही संवर है, संवर तत्त्व आत्मा के ऊपर होने वाले कर्मों के वार, प्रहार से रक्षा करता है।

★ संवर भावना का अर्थ है कर्मों के आने वाले द्वारों को रोकने का सफल पुरुषार्थ एवं तत्सम्बन्धी समीचीन चिन्तन करना।

★ कर्मों के आने के मुख्य 5 द्वार हैं, तो उन्हें रोकने के लिए भी दरवाजे स्वरूप, संवर के 5 कारण होते हैं। उनके होने पर तत्सम्बन्धी आस्त्रव रुक जाता है।

★ मिथ्यात्व के द्वार को बन्द करने के लिए सम्यक्त्व, अविरति के द्वार को बन्द करने के लिए पंच महाव्रत अथवा 12 प्रकार का संयम, प्रमाद के द्वार को अप्रमत्त अवस्था के किवाड़ो से, कषायों के द्वारों को निष्कषायता के दरवाजों से तथा योग के द्वारों को अयोग अवस्था से रोका जा सकता है।

★ संवर के प्रमुख साधनों मे आचार्यो ने 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति, 22 परीषहों को जीतना, 10 धर्मों का पालन करना, 5 प्रकार के संयम/चारित्र की साधना करना कहा है।

★ जब तक इस पृथ्वी पर निश्चय संवर तत्त्व को प्राप्त करने वाले ऋषिगण विद्यमान हैं तब तक ही संसार मे मंगल / सुख / शांति के स्वप्न देख पाना संभव है।

★ कछुए की तरह प्रवृत्ति करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को संकोच करने वाले महापुरुष ही संवर तत्त्व के अधिकारी होते हैं।

★ जहाँ इच्छाओं की संकीर्णता, इन्द्रियों का दमन, कषायों को जीतने का साहस, तीनों दण्डों को वश में करने का सामर्थ्य, आत्मानुभूति, निश्चय धर्म ध्यान की सत्ता है, वहाँ संवर तत्त्व का होना भी संभव है।

★ संयम संवर तत्त्व का प्राण है, संयम के बिना संवर का ढांचा या मुर्दा शरीर तो दिख सकता है किन्तु संवर तत्त्व की रस केलियाँ नहीं।

★ जिस प्रकार मोह के बिना संसार में दीर्घकाल भ्रमण कर पाना असंभव है, उसी प्रकार संवर तत्त्व के बिना आत्म रमण व मोक्ष मार्ग में गमन भी असंभव है।

★ संवर तत्त्व की प्राप्ति मात्र चर्चा से नहीं जिनचर्या से, भोग से नहीं योग से, जीव विराधना से नहीं संयम साधना से, तन, धन के मान से नहीं आत्म ध्यान से, वाचनिक उपदेश से नहीं आत्म प्रवेश से ही संभव है।

★ जिसने संवर तत्त्व का अंश भी प्राप्त नहीं किया, फिर भी अपने आपको धर्मात्मा या मोक्षमार्गी कहता है तो समझो वह संसार में सबसे बड़ा ठग है, उससे सावधान रहो।

★ जिसने आत्मा की सुरक्षा के लिए संवर रूपी दुर्ग बना लिया वही गुरु कहलाने योग्य होता है और संयम के बिना संवर रूपी दुर्ग की नींवं नहीं बन सकती, दुर्ग तो बहुत दूर रहा।

★ सम्यक्त्व संवर रूपी दुर्ग की नींव खोदने के समान हैं, तथा संयम है उस दुर्ग के दृढ़ कपाट। परीषह जय, दस धर्म, निश्चय ध्यान आदि अंतरंग सुरक्षित प्रकोष्ठ हैं।

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धवजोगेण संभवदि॥63॥ वा.अ.

अर्थ—शुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ योग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ योग का निरोध संभव होता है-हो जाता है।

* * *

जो पुण विसय विरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरणं।
मणहर विसएहिंतो तस्स फुंड संवरो होदि॥

कार्तिकेयानुप्रेक्षा 8/101

अर्थ—जो मुनि विषयों से विरक्त होकर मन को हरने वाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अपने को सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनि के निश्चय से संवर होता है।



(49) निर्जरा भावना (प्रज्ञा छैनी व संयम हथौड़े से तोड़ो कर्म जंजीरें)

★ निर्जरा तत्त्व को प्राप्त किये बिना निर्जर अवस्था की प्राप्ति असंभव है।

★ कर्मों को निर्जीर्ण करने से ही आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु से रहित हो सकता है अन्यथा असंभव है।

★ कर्म रूपी जंजीरों को तोड़ने के लिए प्रज्ञा रूपी छैनी एवं संयम रूपी हथौड़ा अनिवार्य है, दोनों में से यदि एक की कमी है तो कर्मरूपी जंजीर नहीं टूट सकती।

★ पूर्व बद्ध कर्मों का क्रमश· एक देश क्षय करते जाना ही निर्जरा कहलाती है।

★ यदि निर्जरा संवर तत्त्व से सहित है तब तो सार्थक है अन्यथा गजस्नानवत् व्यर्थ है।

★ तप रूपी अग्नि मे तपाने से ही आत्मा रूपी सोना परमात्मा रूपी शुद्ध कुंदन की अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

★ समीचीन ध्यान रूपी अग्नि में ही कर्म रूपी ईंधन को जलाया जा सकता है अन्यथा मोक्ष तत्त्व भी असंभव है।

★ निर्जरा तत्त्व की प्राप्ति समीचीन तपों से एवं तप की प्राप्ति इच्छाओं के निरोध से ही संभव है, जो इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं कर पाते वे निर्जरा तत्त्व को नहीं पा सकते।

★ निर्जरा के सामान्यतया दो भेद हैं—(1) द्रव्य निर्जरा (2) भाव निर्जरा।

★ आत्मा के जिन परिणामों से पूर्व बद्ध कर्मों का एकदेश क्षय हो वह भाव निर्जरा है एवं द्रव्य कर्मों का एक देश निर्जीण होना द्रव्य निर्जरा है।

★ द्रव्य निर्जरा के भी सामान्यतया दो भेद होते हैं—(1) सविपाक निर्जरा (2) अविपाक निर्जरा।

★ सविपाक निर्जरा का अर्थ है कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर उसका कर्म का उदय में आकर यानि फल दे कर तत्-तत् कर्म का निर्जीण होना। यह निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के पायी जाती है किन्तु मोक्ष मार्ग में कार्यकारी नहीं है। क्योंकि जितने कर्म निर्जीर्ण होते हैं, लगभग उतने नवीन बंध को प्राप्त हो जाते हैं। जिससे यह आत्मा कभी भी कर्महीन (मुक्त) नहीं हो पाती।

★ द्वितीय निर्जरा है अविपाक निर्जरा जिसका अर्थ है तप के द्वारा बद्ध कर्मों का, उन-उन कर्म की स्थिति पूर्व होने के पूर्व ही, उन्हें उदय में लाकर अथवा उदय में बिना लाये ही निर्जीण कर देना।

★ द्वितीय निर्जरा सकलव्रती संयमी, द्वादश तपों से युक्त (अभेदपंच गुरु की भक्ति से युक्त, परमवीतरागी र्निविकल्पध्यानी, अभेद रत्नत्रय से सहित) शुद्धोपयोगी तपोधनों में ही प्रचुर मात्रा में पाई जाती है और यही साक्षात् मोक्ष का कारण है।

★ अव्रती, देशव्रती आदि श्रावकों में यह निर्जरा किंचित मात्रा में पाई जाती है, अतः उस किंचित् निर्जरा से दीर्घकाल में भी मोक्ष संभव नहीं है क्योंकि वह अन्य नवीन कर्मों के संवर से रहित है।

★ अविपाक निर्जरा की प्राप्ति मनुष्य गति में कर्म भूमि के सकल संयमी मनुष्य के लिए ही संभव है, अन्य के लिए असंभव है अतः कर्मभूमि के मनुष्यों को चाहिए जो वस्तु विश्व में कहीं नहीं मिलती, केवल यहीं मिल सकती है तो आपको उसे प्राप्त कर लेना चाहिए क्योंकि न जाने कब आपकी गाड़ी यहाँ से रवाना हो जाये।

★ निर्जरा के कारण भूत 12 तपों का बारम्बार चिन्तन करना, आचरण में लाना एवं इच्छाओं को निरोध करने का समीचीन प्रयास व चिंतन करना ही निर्जरा भावना है।

★ हे महाभाग्य ! परमपुरुष ! आज तू निर्जरा से (वृद्धावस्था) रहित होकर भी निर्जरा नहीं कर रहा है कल तुझे जब जरा पकड़ लेगी तब क्या निर्जरा कर पायेगा ?



(50) लोक भावना (कहाँ का पथिक रहा मैं .... ?)

★ जिसमे जीव आदि छह द्रव्य पाये जाते हैं, आकाश के उतने हिस्से को लोक कहते हैं।

★ सम्पूर्ण आकाश के मध्य लोकाकाश का वही स्थान है जैसे मध्यलोक के मध्य रखा हुआ एक परमाणु अर्थात् लोक से अनंतगुणा अलोकाकाश है।

★ तीन लोक के बाहर अलोकाकाश है वहाँ जीवादि (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल) पाँच द्रव्य नहीं पाये जाते मात्र आकाश ही आकाश है।

★ हे आत्मन् ! इस 343 धनराजू प्रमाण लोक में कोई भी प्रदेश शेष नही रह जाता है जहाँ तूने अनन्त बार जन्म-मरण नहीं किया हो।

★ हे आत्मन् ! अज्ञानता, मोह व असंयम के कारण ही तू इस ससार में परिभ्रमण कर रहा है, इनका अंत किये बिना भ्रमण का अंत नहीं हो सकता।

★ एक राई के दाने के बराबर स्थान में आकाश के असंख्यात प्रदेश हैं फिर कल्पना नहीं कि पूरे लोक मे कितने प्रदेश होंगे ?

★ एक राजू का प्रमाण संख्या में नहीं कह सकते फिर भी समझने के लिए यूँ कह सकते है कि एक 40 किलो का लोहे का गोला ऊपर से छोड़ा जाये और अपनी तीव्र गति से पृथ्वी पर आये, वह छह महीने में जितनी दूरी तय कर ले उतनी लम्बाई एक राजू प्रमाण कहलाती है।

★ हे आत्मन् ! जो जीव आत्मा में रमण करते हैं, वे जीव भव भ्रमण नहीं करते अत: तुम सदैव आत्मरमण में प्रयत्नशील रहो।

★ यह लोक अनादि से अनंत काल तक रहेगा। यह मिथ्यादृष्टियों का मानना है कि इसके निर्माता ब्रह्मा हैं, रक्षक विष्णु हैं, महेश संहारक हैं।

★ प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त है, उत्पाद ही ब्रह्मा है, ध्रौव्य विष्णु है तथा व्यय शंकर/महेश है। ये तीन शक्तियाँ प्रत्येक द्रव्य में पायी जाती हैं।

★ अधोलोक का आकार स्टूल (तिपाई) के समान, मध्य लोक झालर (थाली) के समान एवं ऊर्ध्व लोक का आकार मृदंग के समान है।

★ यदि कोई मनुष्य अपने दोनों पैर फैलाकर, हाथ कमर पर टिका कर सीधा खड़ा हो जाये तब उसका जो आकार बनता है, वही आकार लोक का है।

★ भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले पुरुषार्थहीन प्राणी कभी भी भव-भ्रमण से मुक्त नहीं हो सकते, जो पुरुषार्थशील हैं, रत्नत्रय से संलग्न हैं, वही लोकोत्तर अवस्था प्राप्त कर पाते हैं।

★ लोक में सम्पूर्ण शुभ-अशुभ पदार्थ विद्यमान हैं किन्तु पुण्यहीन प्राणी कभी भी इष्ट पदार्थों को प्राप्त नहीं कर पाते, उनके लिए इष्ट वस्तु भी अनिष्ट कारक ही होती है।

★ पुण्य व पाप दोनों ही संसार के हेतु होते हैं, जब तक पुण्य-पाप शेष हैं, तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, पुण्य-पाप से रहित अवस्था ही मोक्ष है।

★ सम्यक् दृष्टि प्राणी का पुण्य यदि आकांक्षा और निदान से रहित है तो वह नियम से मोक्ष का कारण ही होता है।

★ हे आत्मन् ! लोक भावना का एक अर्थ यह भी है, लोक = देखो, आकाश = आकाश को, भावना = बार-बार चिंतवन करो। अर्थात् आकाश को बार-बार देखो, तथा उस जैसा बनने की भावना लाओ। आकाश परम शुद्ध द्रव्य है व जीवादि अन्य द्रव्यों की संगति में रहता हुआ भी कभी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तुम भी अपने उसी शुद्ध स्वभाव को पाने का पुरुषार्थ करो।

(51) बोधि दुर्लभ भावना (बड़ी जतन से पाई तूने ....)

★ हे आत्मन् ! नित्यनिगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आना उतना ही दुर्लभ है मानो अंधे के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म छिद्रवाली सुई (जिसमें धागा डालना आँखो वालों के लिए भी कठिन है) मे अत्यन्त बारीक धागा पिरोना।

★ हे आत्मन् ! स्थावर की पर्याय से त्रस पर्याय की प्राप्ति (2 इन्द्रिय-लट, केचुआ, कृमि, तीन इन्द्रिय—चींटी, चींटा, बिच्छु, कुंथु, गोभिंद, इंद्रगोप आदि पर्याय, चर्तुरन्द्रिय—मक्खी, मच्छर, भौंरा, बर्र, तितली आदि पंचेन्द्रिय—असंज्ञी, संज्ञी) उतनी ही कठिन है जितना कठिन चिंतामणि रत्न की प्राप्ति है।

★ हे आत्मन् ! दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय, तीन से चार इन्द्रिय व चार इन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अवस्था प्राप्त कर लेना भी अत्यन्त कठिन है।

★ हे आत्मन् ! विकलेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय बन जाना उसी प्रकार दुर्लभ है जैसे लवणसमुद्र के जल की बूँद का स्वयंभूरमण समुद्र में उन्हीं सर्व परमाणुओं के साथ पहुँच जाना।

★ हे आत्मन् ! असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु हो जाना उसी तरह दुर्लभतम है जिस प्रकार चींटी का सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला तक भूमि से चढ़कर पहुँच जाना।

★ हे आत्मन् ! असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक कल्याण का कोई मार्ग प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकता क्योंकि वहाँ सम्यक्त्व आदि चेतना के स्वभावों को प्राप्त करने की समता ही नहीं है। फिर भी ये पर्याये अत्यन्त कठिन हैं।

★ हे आत्मन् ! पशु से मनुष्य पर्याय की प्राप्ति काकतालीन न्यायवत् दुष्कर है, काकतालीन न्याय का अर्थ है कौवे का आकाश में उड़ते हुए जाना, ताड़ वृक्ष से फल टूट कर कौवे के मुख में आ जाना।

★ हे आत्मन् ! मनुष्य पर्याय की प्राप्ति करने पर भी उत्तम देश की प्राप्ति, सुसंगति की प्राप्ति उसी तरह दुर्लभ है जैसे लवण समुद्र के इस किनारे पड़े शैल का लवण समुद्र के उस किनारे पड़े जुए में स्वयं प्रवेश कर जाना (जूआंरी व शैल (शोला) कृषि के उपकरण है)।

★ हे आत्मन् ! उत्तम देश, सुसंगति प्राप्त करने के उपरांत श्रावक कुल में जन्म लेना उसी प्रकार दुर्लभ है जैसे स्वयंभू रमण समुद्र में विद्यमान जल बिन्दुओं की गिनती करना।

★ हे आत्मन् ! उत्तम देश, सुसंगति व उच्च कुल प्राप्त करके भी दीर्घायु व निरोग शरीर पाना उतना ही कठिन है जितना कठिन है कि लंगड़े (अपंग मनुष्य) के द्वारा ढाई द्वीप का चक्कर लगा लेना।

★ हे आत्मन् ! इससे भी दुर्लभ है पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता, उत्तम बुद्धि की प्राप्ति हो जाना। सज्जन पुरुषों की संगति वैसे ही दुर्लभ है जैसे कि अंधे के द्वारा स्वयंभू रमण समुद्र में से अपनी गिरी मुद्रिका को खोज लेना।

★ हे आत्मन् ! सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, धर्म का समागम प्राप्त करना उतना ही दुर्लभ है जितना कि किसी अव्रती के द्वारा सौधर्म इन्द्र का पद प्राप्त कर लेना।

★ हे आत्मन् ! सम्यक्त्व प्राप्त करना, तत्त्व की बात सुनना, ग्रहण करना, भेद विज्ञान व हेयोपादेय का ज्ञान भी क्रमशः वैसे ही कठिन है, जैसे क्षीर सागर को हाथ से तैरकर पार हो जाना।

★ हे आत्मन् ! श्रावक अवस्था प्राप्त कर षट् आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करना भी अत्यन्त दुर्लभ है। जिन कर्त्तव्यों को पालन करने के लिए इन्द्र भी तरसता है। आहार दान आदि इन्द्र नहीं दे सकता है।

★ हे आत्मन् ! देश संयम की प्राप्ति भी उतनी ही असंभव है मानो सूर्य की किरण का पृथ्वी पर आना, जिन परमाणुओं को एक बार स्पर्श किया, उन्हीं का पुनः स्पर्श कर लेना।

★ हे आत्मन् ! सकल संयम की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, इसके लिए अनेकों बार भावना भाकर ही प्राप्त किया जाता है। यह सकल संयम उसी तरह दुर्लभ है जिस प्रकार ढाई द्वीप में एक साथ एक ही समय में—170 तीर्थकर, 170 चक्रवर्ती, 170 कामदेव, 170 नारायण, 170 प्रतिनारायण, 170 बलभद्र, 170 नारद, 170 रुद्र, सभी का एक साथ होना।

★ हे आत्मन् ! सकल संयम को प्राप्त करने के उपरांत भी निश्चय रत्नत्रय, वीतरागता, शुद्धोपयोग, निर्विकल्प ध्यान की अवस्था वैसे ही दुर्लभ है जितनी ढाई द्वीप में 3 कम नौ करोड़ (8,99,99,997) मुनियों का होना दुर्लभ है।

★ हे आत्मन् ! श्रेणी का आरोहण उसी तरह दुर्लभ है जैसे उबलते पानी मे अपना चेहरा देखकर उस पर लगे काले दाग/धब्बे साफ कर लेना।

★ हे आत्मन् ! मनुष्य अवस्था यदि एक बार हाथ से निकल गई तो उसे दुबारा प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना किसी गुलाब के पुष्प के बिखर जाने पर पुनः उन्हीं समस्त परमाणुओं के द्वारा पुनः उसी स्थान पर उतने ही परमाणुओ से वही गुलाब पुष्प बनना।

★ हे आत्मन् ! प्रत्येक जीव निगोद से मात्र 2 हजार-सागर काल के लिए भड़भूजे के चने के समान निकलता है, यदि उतने काल में अपना कल्याण नहीं कर पाता है तो पुनः निगोद की यात्रा ही उसे करनी होती है।

★ बोधि का अर्थ है रत्नत्रय, रत्नत्रय की दुर्लभता के बारे में बार-बार चिन्तन, मनन करना ही बोधि दुर्लभ भावना है।

(52) धर्म भावना (सर्वस्वता का बीज यही रे ....) (ये हरदम साथ निभाये तेरा)

★ जो समस्त कर्मों को नष्ट करने में सक्षम है, सर्व दु:खों का हंता है एवं संसारी प्राणियों को संसार सागर से पार कराने वाला है, वही धर्म है।

★ अपने समीचीन कर्तव्यों का पालन करना एवं किसी भी परिस्थिति में अनधिकारी चेष्टा नहीं करना ही धर्म है।

★ प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव या प्रकृति ही उसका गुण धर्म कहलाता है तथा विभाव ही अधर्म है, अतः प्रकृति के अनुसार स्वभाव में जीने का सद् पुरुषार्थ ही धर्म है।

★ सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही धर्म है अथवा अहिंसा ही परम धर्म है अथवा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ही धर्म हैं।

★ उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य, ये धर्म के दस लक्षण हैं, ये लक्षण जिसमे पाये जाते हैं वही आत्मा धर्म/धर्मात्मा है।

★ 5 अणुव्रत, 7 शीलव्रत एवं ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना ही श्रावक का धर्म है एवं 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियनिरोध, षडावश्यक, शेष 7 गुण, कुल 28 मूलगुणों रूप प्रकृति श्रमण का धर्म होता है।

★ जिसके माध्यम से आत्मा को परमात्मपने की प्राप्ति होती है, विश्व के प्रत्येक प्राणी का जो कल्याण करने में सक्षम है, जिसके बिना जगत का उद्धार असंभव है, वही धर्म है।

★ धर्म ही गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बन्धु है, हितु है, माता है, पिता है, भ्राता है, त्राता है, अनाथों का नाथ है, उसी की शरण प्राप्त होओ।

★ वीतरागी, सर्वज्ञ, परमहितोपदेशी, अकारण जगत बन्धु, जिनेन्द्र भगवान जो समस्त कर्म कालिमा से रहित हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म ही सत्य

है। रागी, द्वेषी, छदमस्थ, स्वार्थी, मोही, परिग्रहासक्त जीवों द्वारा प्रतिपादित धर्म-धर्म नहीं अधर्म ही है।

★ चारित्र से रहित व्यक्ति धर्म के गीत गा सकता है किन्तु धर्म को पा नहीं सकता।

★ धर्म सार्वभौमिक, त्रैकालिक, सार्वजनीन, कल्याणदायी होता है उसके लिए कोई सीमा नहीं, वह तो निःसीम व अखण्डित, सर्वव्यापी, शाश्वत रूप से प्रत्येक चेतना में विद्यमान है।

★ जिसके द्वारा जन्म, जरा, मृत्यु का अंत न हो वह पूर्ण धर्म नहीं हो सकता। जिसके द्वारा जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महारोगों को दूर किया जाता है, उसी परमौषधि का नाम है धर्म।

★ जो चेतना में धारण किया जाये वह धर्म है, जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी सदैव उसकी रक्षा करने में तत्पर रहता है।

★ उक्त धर्मों का व अपने आत्मीक स्वभावों का बार-बार चिंतवन करना, तथा धारणा करने हेतु निरंतर उन्हे बार-बार भाना ही धर्म भावना है।

जाँचे सुर तरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाँचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन॥ १२॥ बा० भा०
पं० भूधर दास कृत बारह भावना से

अर्थ— कल्प वृक्ष—कल्पना (याचना) करने पर सुख देता है, चिंतामणि रत्न चिंतवन करने पर चिंतित द्रव्य देता है। किन्तु धर्म बिना याचना एवं चिन्तवन किये सम्पूर्ण सुखों को देने वाला होता है। धर्म ही एक ऐसा सहारा है जो सर्वत्र व सर्वदा धर्मात्मा की रक्षा व सेवा में समर्पित रहता है।

(53) हिंसा (तीव्रतम दुःखों का मार्ग)

★ प्रमत्त योग के साथ की गई मन, वचन, काय की सभी चेष्टायें हिंसा रूप ही होती हैं।

★ किसी जीव के प्रति राग या द्वेष के भाव रखना भी हिंसा है एवं पर को स्व मानना भी हिंसा कहलाती है, जहाँ चेतनता के प्रति दृष्टि होती है हिंसक भाव नहीं रहता।

★ कुछ लोग तो प्राणीवध को ही हिंसा कहते हैं किन्तु जैन दर्शन प्राणी वध के प्रति मन में भाव बनने को भी हिंसा कहता है।

★ स्वप्न में भी जीववध की मानसिक विचारधारा, वचनालाप एवं शरीर द्वारा की हुई चेष्टा हिंसा है, उससे भी पाप कर्म बंध होगा।

★ हिंसा से बढ़कर संसार में कोई अधर्म नहीं है क्योंकि कोई भी जीव मरना नहीं चाहता, जीना सभी चाहते हैं।

★ यदि तुम किसी मृत शरीर में प्राण डालकर उसे जीवित नहीं कर सकते तो तुम्हें उसके प्राण लेने का भी कोई अधिकार नहीं है।

★ जब तुम्हे अपने प्राण प्रिय हैं तो तुम क्यों दूसरे प्राणियों को कष्ट पहुँचाने का उपक्रम करते हो, दूसरों को दुःख देकर तुम कभी सुखी नहीं रह सकते।

★ स्वप्न में किये गये हिंसा के परिणाम पाप बंध के हेतु हैं, दुर्निवार दुःखों को देने वाले हैं तो जो जाग्रत अवस्था में प्राणी वध करते हैं, उन्हें तो नियम से दुर्गति की ही प्राप्ति होगी।

★ हिन्दू शब्द का अर्थ है जो हिंसा को दूर से ही छोड़ दे, जो हिंसा में रत है वह सही मायने में हिन्दू नहीं है।

★ हिंसा को धर्म वे ही प्राणी कह सकते हैं जिन्होंने नरक आयु का बंध कर लिया है। एक सच्चा इंसान तो कभी हिंसा को धर्म नहीं कह सकता, फिर भगवान क्यों कहेंगे ?

★ हिंसा सपूर्ण दुःखों का आलय, नरक का द्वार, अनिष्टता की जननी, महापाप का बीज, पतन का हेतु, गुणों को ध्वंस करने वाली अग्नि के समान है।

★ हिंसा-उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, संतोष, सत्य, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य, सदाचार, दया, प्रेम वात्सल्य, सम्यक्त्व, सद्ज्ञान, सुतप, समता, विनय, धर्मनीति रूपी वृक्षों के सघन वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है। सुख, शांति, विशुद्धि, ज्ञानादि गुण को काटने के लिए कुठार है।

★ जिसके मन में हिंसा करने के भाव भी उत्पन्न हो जायें तो ऐसे प्राणी की मन रूपी बेदी पर परमात्मा विराजमान नहीं हो सकता। परमात्मा अहिंसा, करुणा, क्षमा, दया, सरलता, नम्रता की वेदी पर ही विराजमान हो सकता है।

★ आत्मशांति, देवपूजन, धर्म प्रभावना, मंगल के लिए या प्राणों की रक्षा के लिए, परोपकार के लिए की गई हिंसा भी हिंसा ही है, वह अशांति, पाप, संक्लेशता, अप्रभावना, वक्रता की ही जननी होती है।

★ हिंसा कभी भी हितकारिणी, शांतिदायी, सुखकर, मंगलभूत, दुःखनाशक, प्रशंसनीय नहीं हो सकती।

★ अधिक कहाँ तक कहें ? सूर्य भले पश्चिम में उदित हो जाये, अग्निशीतल, बिना बीजवृक्ष, गधे के सींग, बिना तेल दीपक, बालू से तेल निकालना संभव है किन्तु हिंसा से धर्म असंभव ही है।

★ हिंसक व्यक्ति चाहे कितना भी अपने आप को धर्मात्मा कहे, धर्म का ढोंग रचे, सद्ज्ञान की अच्छी-अच्छी बातें करे, धर्म का उपदेश दें किन्तु वह सब संसार का ही हेतु बनेगा, कभी भी मोक्ष का कारण नहीं बनेगा।

★ नीम, चिरायता, गिलोय, करेला का रस ये कड़वे ही होते हैं चाहे कहीं भी, किसी के भी कहने से या किसी भी उद्देश्य का संकल्प करके पियो, कड़वे ही होंगे, उसी प्रकार हिंसा चाहे किसी भी निमित्त से क्यों न हो, वह दुःख का ही कारण है।

★ एक जीव की हिंसा करने में आचार्य भगवन्तों ने इतना पाप कहा है कि सागर पर्यंत, वसुंधरा, सुमेरुवत्-स्वर्ण भी दान क्यों न किया जाये

तो भी वह पाप नष्ट नहीं हो सकता।

★ करोड़ों स्वर्ण मुद्रा के बदले में भी तुम अपने प्राण देना नहीं चाहते क्योंकि तुम्हें अपनी जिन्दगी से प्रेम है, इसी प्रकार सभी जीवों को अपने प्राण प्यारे हैं।

★ जो हिंसा करके भी अपने आपको धर्मात्मा मानता है, ऐसा मूढ़ व्यक्ति पाषाण की शिला पर बैठकर ही मानो सागर तिरना चाहता है जो असंभव है।

★ जिन शास्त्रों में हिंसा को धर्म कहा है ऐसे शास्त्रों को जला देना चाहिए या गहरे पानी में छोड़ देना चाहिए क्योंकि ऐसा साहित्य शास्त्र नहीं धर्म को, आत्मा को नष्ट करने वाले शस्त्र ही हैं।

गते शोको न कर्तव्या, भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन, प्रवर्तंते विचक्षणाः॥

अर्थ—विचक्षण/प्राज्ञ पुरुषों को अतीत का शोक नहीं करना चाहिए, भविष्य की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, वर्तमान काल के अनुसार ही अपनी प्रवृति करनी चाहिए।

* * *

हिंसा

शीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति॥ ७८८॥ भ० आ०

अर्थ—जीवों की हिंसा करने वाले के शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निसंगता और विषय सुख का त्याग, ये सभी ही निरर्थक होते हैं॥ ७८८॥

अहिंसा

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्व सत्थाणं।
सव्वेसिं वद गुणाणं पिंड सारो अहिंसा हु॥ ७८९॥ भ० आ०

अर्थ—सब आश्रमों का हृदय, सब शास्त्रों का गर्भ, सब व्रतों व गुणों का पिण्डीभूत सार अहिंसा ही है॥ ७८९॥

(54) झूठ

★ सत् को असत् रूप एवं असत् को सत् रूप कहना ही मृषा है, अयथार्थ वस्तु तत्त्व को प्रतिपादित करना भी मृषा ही है।

★ दश प्रकार के सत्य से रहित वचन—"जो कि आगम के विपरीत कथन करते हैं, अहित की ओर प्रेरित करते हैं, धर्म व धर्म भावना के विध्वंसक हैं" वे सभी शब्द असत्य ही कहलाते हैं।

★ असत्य कभी अकारण नहीं बोला जाता उसके पीछे अवश्य ही कोई न कोई कारण छिपा होता है।

★ सत्य का मन, वचन, काय से प्रतिपादन करना ही जीव का स्वभाव है, सत्य के साथ प्राणी अनंत काल तक सुखादि, अनंत गुणों को भोगता हुआ अनत काल तक रहता है किन्तु असत्य के साथ रहकर लोग चैन से नहीं रह पाते।

★ भाषा समिति के दश दोषों (कर्कश, निष्ठुर, क्रोधोत्पादक, कटुक आदि) से युक्त भाषा भी असत्य के समान है।

★ आगम व लोक व्यवहार के प्रतिकूल शब्द, सम्यक्त्व को नष्ट करने वाले, संयम से डिगने वाले, पाप के पोषक, विषयाभिलाषा के उत्पादक, कषायों के वृद्धि कारक, धर्म को विध्वंस करने वाले, हित के मार्ग से हटाकर अहित मार्ग के प्रेरक शब्द भी असत्य ही हैं।

★ एक झूठ को छुपाने के लिए मिथ्याभाषी सैकड़ों झूठ बोलता है किन्तु वह झूठ को सदा काल तक छुपा नहीं पाता, अंत में झूठ, रुई में दबी अग्नि के समान या जल में पड़ी तेल बिन्दु के समान प्रकट हो ही जाता है।

★ जहाँ सत्य् को स्पष्ट करने के लिए बोलना अनिवार्य हो वहाँ स्पष्टीकरण नहीं दिया जाना और मौन साधकर बैठ जाना भी असत्य का पोषण करना है।

★ असत्यवादी प्राणी का कोई विश्वास नहीं करता, उसके माता-पिता, सगे भाई, बन्धु तथा मित्र तक उस असत्यवादी का साथ छोड़ देते हैं।

★ असत्य के साथ जीने से तो सत्य के साथ मर जाना श्रेष्ठ है, असत्य के साथ जीने वाला अधोगति का पात्र होता है, उसके जीवन में सदैव संकट के बादल छाये रहते हैं।

★ असत्य यदि सिंहासन पर भी बैठा हो तो भी असत्य ही कहलायेगा और सत्य यदि शूली पर भी टंगा हो तो भी वह सत्य ही कहलायेगा।

★ असंख्यात असत्यों के बीच में दबा हुआ एक सत्य भी अपने अस्तित्व को बनाये रखता है, वह असत्य के बीच में कभी मरता नहीं है।

★ बहुमत में सत्य एवं अल्प मत में असत्य हो ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता क्योंकि सत्य अकेला भी हो सकता है, और अनेकों के साथ में भी हो सकता है।

★ यदि असत्य को बार-बार दुहराया जाता है तो वह असत्य भी अल्पज्ञों की दृष्टि में सत्य-सा ही प्रतिभासित होता है।

★ असत्य के धरातल पर जीने वाला श्रावक हो या श्रमण, धनी हो या निर्धन, विद्वान हो या मूर्ख, सुन्दर हो या कुरूप, हिंसक हो या अहिंसक, वह मुर्दे के समान ही होता है।

★ एक असत्य बोलने के उत्पात से सेठ व सेठानी मृत्यु के द्वार पर पहुँच गये, शांतिपूर्ण जीवन नारकीय जीवनवत् बन गया, फिर जो अहर्निश झूठ बोलते हैं फिर वे क्यों कर स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे ?

★ वह चोर भी असत्य बोलने के त्याग से अर्थात् सत्यव्रत के नियम से कालांतर में मुनि दीक्षा लेकर आत्म बोध (कल्याण) को प्राप्त हुआ अतः सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।

★ अनेकों असत्य बोलने से अच्छा है कि एक बार सत्य बोल दिया जाये। जो शक्ति करोड़ों असत्यों में नहीं हो सकती वह शक्ति एक सत्य में होती है।

★ सत्य बोलने वाला अपराधी भी क्षमा का पात्र होता है किन्तु असत्यभाषी के अपराध क्षमा करने के योग्य नहीं होते।

★ मिथ्याभाषी के अपराधों को माफ करने का अर्थ असत्य को प्रोत्साहन देना है।

★ हे प्रभो ! मुझे सत्य के साथ रहते हुए अनेक संघर्ष, उपेक्षा, नारकीय दु:ख, दीन अवस्था, तिरस्कार सहना तो स्वीकार है किन्तु असत्य के साथ आत्मा का शोषण करते स्वर्णिम सुख, भोग-विलास, ख्याति, पूजा, लाभ, पद, प्रतिष्ठा आदि नहीं चाहिए।

★ असत्य बोलने वाले, असत्य बुलवाने वाले एवं असत्य का पोषण करने वाले प्राणी इस भव मे अपमान, तिरस्कार आदि को प्राप्त करके अगले भव मे जिह्वाच्छेद, नरक गति के दु:ख या तिर्यंच गति के दारुण दु:खों को सहन करते हैं।

सत्य

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुडड्ड।
सच्च बलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदीवि॥

॥८३८॥ भ० आ०-शिवकोटि आचार्य

अर्थ—सत्यवादी मनुष्य को आग नहीं जलाती, पानी उसे नहीं डुबाता, जिसके पास सत्य का बल है, उसे तीव्र वेग वाली नदी भी नहीं बहाती।

असत्य

जह परमण्णस्स विसं विणास सयं जह व जोव्वणस्स जरा।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासय मसच्चं॥८३९॥ भ० आ०

अर्थ—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजन का विनाशक है, बुढ़ापा यौवन का विनाशक है, उसी प्रकार असत्य वचन, अहिंसादि गुणों का विनाशक है।

(55) चोरी

★ किसी व्यक्ति की पड़ी हुई, भूली हुई, रखी हुई वस्तु को उसके स्वामी की अनुमति या सहमति के बिना ग्रहण कर लेना चोरी कहलाता है।

★ जिस वस्तु का स्वामी अन्य है और यदि किसी व्यक्ति ने अन्य तीसरे व्यक्ति की आज्ञा या अनुमति से वस्तु को ग्रहण किया है तो यह भी चोरी है।

★ पर पदार्थों को ग्रहण करने का भाव ही चोरी है, स्वकीय द्रव्य में लीन होना निश्चय अचौर्य व्रत है।

★ चोरी मात्र धन सम्पत्ति की ही नहीं होती अपितु अपने कर्त्तव्यों का ईमानदारी से पालन नहीं करना भी चोरी ही कहलाता है।

★ कभी-कभी कुछ व्यक्ति अपने आपको अचौर्यव्रती कहते हुए भी दूसरे के ज्ञान, विधा, कला की चोरी कर लेते हैं अर्थात् उसकी बिना आज्ञा के ही ग्रहण कर लेते हैं।

★ एक बार किसी की चोरी करने की आदत पड़ गई हो तो उसे छोड़े बिना अचौर्य व्रत संभव नहीं, चोरी के संस्कारों की नींव पर अचौर्यव्रत का महल नहीं टिक सकता है।

★ चोरी करने वाला मात्र चोरी ही नहीं करता अपितु असत्य भी बोलता है क्योंकि चोरी और असत्य का चोली-दामन जैसा साथ रहता है।

★ चोरी करने वाला अहिंसक नहीं हो सकता, चोरी करने से पर की आत्मा को पीड़ा होती है। कभी-कभी वे व्यक्ति जिनकी चोरी की है वे आर्त व रौद्र ध्यान के साथ मृत्यु तक अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं अत: चोरी करने वाला हिंसक है।

★ चोरी करने वाला व्यक्ति पर द्रव्य का संग्रहकर्ता होने से परिग्रही है जोकि परिग्रह पाप से भी युक्त होता है तथा चोरी जैसे कुकृत्य से

अर्जित धन, धर्म कार्य/शुभ कार्यो में व्यय नहीं होता, विषय वासनाओं की पूर्ति में ही या सप्त व्यसनों में व्यय होता है अतः चोर चतुर्दिक पापों का ही आस्रव करता रहता है।

★ चोर व्यक्ति कितना बड़ा भी धर्मात्मा बन जाये, समाज में प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ले किन्तु उसकी चोरी का भेद खुलने पर उसकी इज्जत क्षण भर में ही मिट्टी मे मिल जाती है, निर्धन व्यक्ति व बालक तक भी उसका उपहास, निंदा करते हुए पाये जाते है।

★ चोरी से प्राप्त किया हुआ धन इन्द्रधनुष की चमक के समान क्षणिक है। जब वह नष्ट होता है तब ईमानदारी से अर्जित धन भी उसके साथ नष्ट हो जाता है।

★ चोर से बढ़कर लोभी संसार में और कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। लोभ महापाप है या पाप का बाप है अतः चोर महापापी है, लालची कुत्ते की तरह पूरी रोटी के प्रयास में उसे अपने मुँह की आधी रोटी भी छोड़नी पड़ती है अतः चोर सदैव दु.खो को ही प्राप्त करता है।

★ चोरी के धन से आज तक कोई अमीर नही हुआ, दान देने से न कोई आज तक गरीब हुआ अर्थात् पुरुषार्थी व्यक्ति को अपने भाग्य के अनुसार धन वैभव की उपलब्धि होती है।

★ चोरी के द्वारा प्राप्त वस्तु को ग्रहण करना भी चोरी है या चोरी की वस्तु को क्रय करने वाला भी चोर है।

★ आयकर, बिक्रीकर, सम्पत्ति कर, भूमिकर, मार्गकर इत्यादि करों की चोरी करना भी चोरी है, सम्यक् दृष्टि श्रावक इस प्रकार की चोरियों का भी नियम से त्यागी होता है।

★ तोलने के बाँट छोटे-बड़े रखना, नापने के लिए छोटे-बड़े मीटर या लीटर रखना या अच्छी वस्तु मे घटिया वस्तु मिलाकर के बेचना इत्यादि कार्य करना भी चोरी है, श्रावक ये कार्य कभी नहीं करता।

★ कम श्रम करके अधिक पारिश्रमिक लेने का प्रयास, रिश्वत लेना, कर्त्तव्यों को छोड़ देना, पूरे समय तक कार्यालय में काम नहीं करना इत्यादि कार्य भी चोरी हैं।

★ नौ हजार नौ सौ निन्यान्वे (9999) चोरी करने वाले अधिकारी, कर्मचारियों के बीच में रहकर भी एक व्यक्ति ईमानदार हो सकता है। यह बात अवश्य है कि उसे अपनी ईमानदारी की रक्षा के लिए हजारों संघर्षों का सामना करना पड़ता है।

★ चोरों की संगति भी अनेक उन व्यक्तियों को चोर बना देती है जो चोरी करना नहीं चाहते, किन्तु अचौर्यव्रत के संकल्पी को जो अपने व्रत में दृढ़ है, व्रत के लिए प्राणपन से समर्पित है उसे कोई चोर नहीं बना सकता है। यह बात अवश्य है कि उसकी परीक्षायें होंगी जिनसे शिथिल संकल्पी डिग सकता है किन्तु दृढ़ संकल्पी नहीं।

★ इस बात पर सदैव विश्वास रखो कि चोरी का धन कभी फलीभूत नहीं होता, चोरी की लाखों रुपये की वस्तु जो काम करती है उतना काम ईमानदारी के दो पैसों से भी हो जाता है।

★ चोरी के द्वारा कमाये गये धन में से करोड़ों रुपये का दान देने से वह पुण्य प्राप्त नहीं होता जो ईमानदारी से कमाये गये धन की आधी रोटी के दान से मिल जाता है।

★ चोरी का भेद खुलने पर उस चोर को यहाँ भी मार-पीट के अलावा फांसी तक की सजा मिल जाती है तथा अगले भव में ऊँट, गधा, बैल, घोड़ा आदि बनकर उस व्यक्ति की सेवा करनी होती है जिसकी चोरी की थी। अथवा नरकों की मार खानी पड़ती है या अगले भव में नौकर, सेवक का काम ही करना पड़ता है।

चोरी

चोरस्स णात्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो।
चोरस्स अत्थ हेदुं णत्थि अकादव्वयं किं पि॥ ८५६॥ भ० आ०

अर्थ—चोर के हृदय में दया, लज्जा, साहस और विश्वास नहीं होते। चोर धन के लिए कुछ भी कर सकता है, उसके लिए न करने योग्य कार्य कुछ भी नहीं है॥ ८५६॥

(56) कुशील

★ जिसका शील कुत्सित है—वह कुशील सेवी कहलाता है। शील का अर्थ होता है स्वभाव। अर्थात् जो स्वभाव से च्युत है वह भी शुद्ध निश्चय नय से कुशील सेवी है।

★ कुशील का अर्थ व्यवहार पक्ष मे अब्रह्म से लिया जाता है। ब्रह्म स्वरूप आत्मा मे लीन रहना जीव का स्वभाव है किन्तु जो उस स्वभाव से भटक चुके हैं, पर पदार्थों में निमग्न हैं, वे भी स्वभाव को अलब्ध हैं।

★ प्रत्येक मानव को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए यदि वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा से साक्षात्कार करना चाहता है।

★ स्वकीय स्त्री को छोड़कर अन्य किसी स्त्री के साथ कुत्सित व्यवहार रखना अत्यन्त स्थूल रूप से कुशील पाप हैं, वैसे तो अब्रह्म मात्र का सेवन करना ही कुशील है।

★ कुशील रूपी पाप मात्र शरीर से ही नहीं होता, मन मे कुशील सेवन के परिणाम आ जाना भी कुशील है अत· कुशील का त्याग मन, वचन, काय तीनो योगों से करना चाहिए।

★ जो व्यक्ति मन से कुशील रूपी पाप का सर्वथा त्याग करने में असमर्थ हैं उन्हें वचन एवं काय से तो त्याग करना ही चाहिए।

★ यदि मन मे कुशील सेवन के परिणाम भी हो जायें तो वह पाप है तथा काय से प्रवृत्ति करना या अश्लील वचनो का प्रयोग करना अपराध है।

★ पापों का प्रक्षालन प्रायश्चित के द्वारा होता है, अपराधों की सजा मिलती है।

★ जो तीनों योगों से कुशील का त्याग करने में असमर्थ हैं तो उन्हें दो योगो से या 1 योग से जितना बन सके उतना त्याग अवश्य करना चाहिए, तत् योग जन्य पाप से तो वह बच ही जायेगा।

★ लोक व्यवहार में देखा जाता है कि पानी, पत्थर, अहि, वृश्चिक, अग्नि, मारुत आदि अपने स्वभाव को सर्वथा नहीं छोड़ते फिर भी मनुष्य न जाने क्यों अपने शील स्वभाव को छोड़कर दर-दर का भिखारी बन जाता है ?

★ विषय कषायों के सेवन से कभी भी वासनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती, जो भोगों से इन्द्रियों की तृप्ति चाहते हैं, वे ईंधन डालकर अग्नि को व नदियों से समुद्र को तृप्त करना चाहते हैं।

★ एक बार का किया गया कुशील सेवन जिन्दगी भर की साधना को धूल में मिला देता है, कुशीलसेवी से बढ़कर अन्य पापी दुनिया में मुश्किल हैं।

★ कुशील सेवन एक ऐसा पाप है जिसके एक अंश में ही अन्य सब पाप समा जाते हैं।

★ जिस प्राणी की इन्द्रियाँ कुशील सेवन में स्वतंत्र हैं, जिसका मन अनियंत्रित है, जिसके नेत्रों से वासना झर रही है, जो स्वयं कामबाणों से घायल है, ऐसा प्राणी कितना बड़ा धर्मात्मा ही स्वयं को क्यों न मान ले किन्तु वह सबसे बड़ा पापी है।

★ देखो परस्त्री के साथ कुशील सेवन के विचार करने से रावण तृतीय नरक को प्राप्त हुआ, जो पर स्त्री के साथ कुशील सेवन करते हैं उनकी तो केवली ही जाने वे कहाँ जायेंगे ?

विषय सुख

लोकद्वयहितायात्मनैराश्यनिरतो भव।

धर्मसौख्यच्छिदाशा ते तरुच्छेदः फलर्थिनाम्॥ ३/२३ क्ष० चू०

अर्थ—हे आत्मन् ! तू दोनों लोकों के हित के लिए विषयों की आशा छोड़ दे क्योंकि जो फल तो चाहते हैं और वृक्ष को काट रहे हैं, उन पुरुषों के समान तेरे विषयों के सम्बन्ध की आशा धर्म और सुख का नाश करने वाली है।

(57) परिग्रह/मूर्च्छा

★ जो प्राणियों को चारों ओर से ग्रसित करे वह परिग्रह कहलाता है।

★ पर पदार्थों के प्रति ममत्व या मूर्च्छा के परिणाम ही परिग्रह है।

★ वस्तु का उपलब्ध होना इतना हानिकारक नहीं जितनी हानिकारक/दुःखद मूर्च्छा या आसक्ति होती है।

★ अंतरंग में बिना ममत्व परिणाम के वस्तु को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

★ वस्तु के त्याग किये बिना पर पदार्थों के ममत्व का त्याग कर पाना अत्यन्त दुर्लभ है। बाह्य उपाधि के ग्रहण करते हुए अंतरंग उपाधि का त्याग अशक्य है।

★ सुई के छिद्र में से कदाचित् हाथी का निकल जाना शक्य हो सकता है किन्तु परिग्रही का मोक्ष नहीं हो सकता। जो रंचमात्र भी परिग्रह (पर पदार्थ) के प्रति राग करते हैं वे निःसंदेह संसार में परिभ्रमण करते हैं।

★ नवों ग्रह प्रतिकूल होने पर जीव को उतना दुःख नहीं पहुँचा सकते जितना दुःख यह परिग्रह रूपी महाग्रह देता है।

★ परिग्रह एक ऐसा पाप है जिसमें कदाचित सभी पाप समा जाते हैं, ऐसा परिग्रह निःसंदेह नरकायु के बंध का कारण होता है।

★ परिग्रह को कुछ लोग पुण्य का फल मानते हैं किन्तु परिग्रह पुण्य का फल नहीं। पुण्य का फल है इष्ट वस्तु की प्राप्ति, उसका सदुपयोग एवं उससे विरक्ति। परिग्रह एक पाप है, पाप की प्राप्ति पाप के उदय से ही होती है, पुरुषार्थी चाहे तो पाप के उदय में भी पुण्य का बंध कर सकता है।

★ बाह्य परिग्रह दस प्रकार का होता है और अंतरंग परिग्रह 14 प्रकार का। दोनों प्रकार के परिग्रह का पूर्ण त्याग होने पर ही पूर्ण वीतरागता आती है।

★ द्विविध परिग्रह का जिस समय पूर्ण त्याग हो जायेगा उसी समय अनंत सुख का स्रोत चेतना से फूट पड़ेगा।

★ परिग्रहासक्त प्राणी संयम को अंगीकार नहीं कर सकते और न ही विषय वासना के जाल से मुक्त हो सकते हैं।

★ जब तक रंचमात्र भी बाह्य परिग्रह शेष है तब तक निर्विकल्प आत्म ध्यान, शुद्धोपयोग या निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति असंभव है।

★ भेदविज्ञान हुए बिना परिग्रह का त्याग संक्लेशता का ही कारण बनता है, जब तक परिग्रह में दुःख नहीं भासता तब तक उसका त्याग करना ढोंग है, संयम नहीं।

★ वस्तुओं के त्याग करने पर भी उनमें आसक्ति/ममत्व भाव होना संभव है अतः पर पदार्थों के त्याग करने के साथ-साथ मूर्च्छा का व्यय कर देना चाहिए।

★ जिन प्राणियों की पर पदार्थों के प्रति विद्यमान मूर्च्छा मर चुकी है उनके ऊपर दुःख नहीं आ सकते।

★ परिग्रह का ग्रहण बिना अपेक्षा के नहीं होता है, जब-जब अपेक्षा की उपेक्षा होती है तब-तब सुखों के मेघ बरसने लगते हैं।

परिग्रह

संग णिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।
भजदि अपरिमिद मिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो॥ ११११॥ भ० आ०

अर्थ—परिग्रह के लिए मनुष्य जीव घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है, मैथुन सेवन करता है। ऐसा करने पर अहिंसादि व्रत नहीं हो सकते। परिग्रह त्याग करने पर ही अहिंसादि व्रत स्थिर हो सकते हैं।



(58) इच्छा (व्याकुल प्राणी का दिवा स्वप्न .....)

★ जो प्राणी सम्पूर्ण इच्छाओ का मरण कर देते हैं वे कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते।

★ प्राय: देखा जाता है कि प्राणी तो निरन्तर मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं किन्तु इच्छा सदैव जीवित ही दिखती है।

★ हे आत्मन् ! ऐसे तुम कब तक मरते रहोगे ? एक बार समस्त इच्छाओं को मार दो, जिससे तुम अमृत, अजर, अमर, अक्षय व शाश्वत पद पा सकोगे।

★ इच्छाये आकाश के समान अनंत हैं एव सागर के समान असीम हैं, आकाश को मुट्ठी मे बद कर लेना एवं सम्पूर्ण जल को सीप में भर लेने के समान समस्त इच्छाओ को पूर्ण कर पाना असंभव है।

★ प्रत्येक प्राणी की इच्छायें इतनी हैं कि उनकी पूर्ति में अनंतो विश्व समा जाये तो भी पूर्ण न हो पायें।

★ अग्नि मे ईधन डालने से अग्नि समाप्त नही होती, उसी प्रकार इच्छाओ को पूर्ण करने से वे निःशेष नही हो सकती, सदैव वृद्धिंगत होती रहती हैं।

★ कछुये की पीठ पर बालों का उगना, बालू की रस्सी बनाना, अग्नि में कमल का खिलना, गधे के सींगों का होना, चूहे व खरगोशों का आकाश में उड़ना जैसे असंभव है उसी प्रकार इच्छाओं के जाल में फंसे व्यक्ति का वास्तविक सुख व आत्म शांति को प्राप्त करना असंभव है।

★ जो इष्ट वस्तु या तत्त्व का क्षय करने में कारण है वह इच्छा कहलाती है अत: इस वस्तु तत्त्व या स्वभाव को प्राप्त करने के जिज्ञासुओं को इच्छा का ही क्षय कर देना चाहिए।

★ हे आत्मन् ! यदि तुझे आत्म वैभव की प्राप्ति बिना इच्छा किये ही हो सकती है तो तू व्यर्थ ही क्यों पर पदार्थों की इच्छा करता है ?

★ इच्छायें व्याकुलित प्राणी के दिवा स्वप्न के समान हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होता, वह सदैव अपूर्ण ही रहता है।

★ रस्सी का जाल, लोहे की जंजीर, हथकड़ी, बेड़ियाँ, वाक् जाल, प्लास्टिक आदि का बना जाल, कुटुम्ब परिवार का जाल भी जीवन मे इतने दुःख दायक नहीं होते जितना कि दुःख इच्छाओं/कल्पनाओ का जाल देता है।

★ एक प्राणी की एक मुहूर्त भर की इच्छाओं को पूर्ण करने में भी अनेकों भव लग जायेंगे, फिर भी वे पूर्ण नहीं हो सकेंगी।

★ इच्छा रूपी वृक्ष पर जो फल लगते हैं वे दिखायी तो देते हैं किन्तु उन्हें तोड़कर खाया नहीं जा सकता।

★ यदि इच्छायें आकाश के समान अनन्त न होतीं तो आज उनका अस्तित्व ही नहीं होता।

★ स्वप्न में भोजन करने से किसी का पेट नही भर सकता, इसी प्रकार इच्छाओं को पूर्ण कर कोई सुखी नहीं हो सकता।

★ सकल अंतरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग करने वाला भी यदि एक इच्छा भी शेष रखता है तो वह भी दुःखी होगा।

★ संसार के प्राणी जितने भी दुष्कर्म करते हैं, वे सब इच्छाओं के वशीभूत होकर ही करते हैं।

★ इच्छायें काँटे के समान हैं, जितनी अधिक इच्छायें होंगी, मन और चेतना उतनी ही अधिक कंटकाकीर्ण या शूलों से आबद्ध होंगे।

★ हे आत्मन् ! तुम निर्विकल्प ध्यान / शुद्धोपयोग / निश्चय रत्नत्रय की भी इच्छा मत करो। क्योंकि इनकी प्राप्ति भी तभी होगी, जब कोई इच्छा न रहे।

(59) मरण (मौत)

★ जिसका जन्म हुआ है उसका मरण नियम से होता है, मरण होने वालों का जन्म नियामक नहीं है।

★ मृत्यु जीवन की एक सत्य घटना है जो जीवन के किसी भी मोड़ पर कभी भी घटित हो सकती है।

★ मौत को तुम भले ही भूल जाओ किन्तु मौत तुम्हें कभी नहीं भूल सकती अतः मौत को भूलो मत, उसके मूल को उखाड़ कर फेंक दो।

★ मृत्यु का बोध हो जाना ही आत्मबोध है, जब तक मृत्यु का बोध नहीं होता तब तक आत्मबोध नहीं हो सकता।

★ हे आत्मन् ! तुम मृत्यु आने के पहले ही क्यों मर जाते हो ? अभी तक तुम मृत्यु आने के पहले ही मरे थे अतः मौत का अनुभव भी न कर सके।

★ हे आत्मन् ! शरीर और आत्मा का जिन्हें भेद विज्ञान हो गया है वे कभी मौत से नहीं डरते क्योंकि शरीर का छूटना आत्मा की मौत नहीं है।

★ जो धर्म, साधना, संयम, सम्यक्त्व, आत्म प्रबोध व आत्म ध्यान से रहित हैं वे शरीर से युक्त होते हुए भी मुर्दे के समान हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में शरीर और आत्मा में भेद ही नहीं है।

★ जो भव्य जीव सम्यक्त्व, भेद विज्ञान, तत्त्व बोध, संयम साधना व धर्म ध्यान से युक्त हैं वे शरीर से व बाह्य 10 प्राणों से सहित हों या रहित हों वे सदैव अमर रहते हैं।

★ जो प्राणी मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के अंधकार से युक्त हैं, विषय वासनाओं, भोगों में लीन हैं, कषायो व पापों से प्रवृत्त हैं, ऐसे प्राणी शरीर युक्त होते हुए भी मुर्दे के समान हैं तथा पृथ्वी के लिए भारभूत हैं।

★ हे आत्मन् ! संसार में ऐसे कितने ही मनुष्य होते हैं जो जन्म के पहले ही मर जाते हैं, तुमने जन्म लिया है तो तुम ऐसा काम करो जिससे कभी मरो नहीं।

★ हे आत्मन् ! यदि यम दूत बाहर से आते तो उनसे बचने का पुरुषार्थ किया जा सकता था किन्तु मृत्यु बाहर से नहीं आती, वह तो तुम्हारे अंदर ही बैठी है, बाहर दौड़ने से उससे नहीं बच सकोगे, अपने अंदर यानि आत्मा में ही सदा के लिए लीन हो जाओ तो मौत स्वतः ही मर जायेगी।

★ हे आत्मन् ! प्रतिक्षण शरीर का मरण हो रहा है, जैसे दीपक जब से जलना प्रारम्भ होता है तभी से बुझना प्रारम्भ हो जाता है, उसी प्रकार पूर्व मरण के पश्चात् अगले समय से ही दूसरा मरण प्रारम्भ हो जाता है, प्रतिक्षण होने वाले इस मरण को आवीचिमरण कहते हैं।

★ मौत एक लम्बी नींद है और नींद लघु मौत। अतः नित्य सोने के पूर्व मौत का स्मरण करके परमात्मा का व सद्कार्यों का स्मरण करो।

★ हे मौत यदि तू एक बार आये तो तू बुरी न लगे, बार-बार तो जन्म भी हमें अच्छा नहीं लगता। मुझे वह मौत स्वीकार है जिसके बाद पुनः मौत न हो।

★ अनन्त बार के कुमरणों से एक बार का समाधिपूर्वक मरण श्रेष्ठ है क्योंकि जिसका एक बार उत्तम समाधियुत मरण हो जाता है वह निकट भविष्य में जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

★ अधर्म के साथ जीने से धर्म के साथ मरना अति श्रेष्ठ है, धर्मयुक्त मरना मौत की मौत करना है।

★ मौत से वे ही प्राणी घबड़ाते हैं जिनके जीवन का हिसाब गड़-बड़ होता है।

★ धीर का भी मरण होता है, अधीर का भी मरण होता है, जब दोनों को मरना है तो धीरता से क्यों न मरें ?

★ संयमी, सुशील, धर्मात्मा, ज्ञानी, वीर पुरुष—ये भी मरण को प्राप्त होते हैं, तथा असंयमी, कुशील सेवी, पापी, मूर्ख व कायर भी मरण को प्राप्त होते हैं, इसलिए संयमी बन मरना श्रेष्ठ है।

(60) अत्याचार

★ अत्याचार दो शब्दों के मेल से निर्मित हुआ है जिसमें पहला शब्द है अति, दूसरा है आचार।

★ अति का अर्थ होता है सीमा का उल्लंघन, आचार व आचरण का अर्थ है मन, वचन, काय की प्रवृत्ति।

★ मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से सीमा का उल्लंघन, स्वयं की शक्ति से किया जाना या स्वयं के लिए अति करना, स्वयं पर अत्याचार है।

★ अपने मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से दूसरों को अत्यन्त पीडा पहुँचाना, उसकी शक्ति से अधिक कार्य लेना (जो सर्वानुचित है), वह प्रवृत्ति परअत्याचार है।

★ दूसरों की मन-वचन-काय की प्रवृत्ति यदि मुझे पीडित कर रही है, अत्यधिक पीड़ा कारक है तो वह परकृत निज पर अत्याचार है।

★ निरंकुश प्रजा, सम्राट, आगम रहित साधु अत्याचार के जनक होते हैं।

★ अहंकारी शासक जब-जब निरंकुश होता है, तब वह विवेक को खोकर दूसरों के प्रति अत्याचार करता है।

★ अति् में इति का बीज छुपा होता है, अति-आचरण (अत्याचार) अनाचरण की नींव है।

★ पर के लिए किया गया अत्याचार स्वयं के लिए भी (फलस्वरूप) अत्याचार ही है।

★ समतापूर्वक (राग, द्वेष, मोह रहित) कषायवश से रिक्त होकर, समीचीन श्रद्धा, ज्ञान से युक्त, स्वयं के लिए किया अत्याचार मोक्ष का कारण है।

★ अत्याचार की अग्नि से निकला हुआ धुँआ समस्त उज्ज्वल कीर्ति को कलंकित कर देता है।

★ अपने अहं के पोषण व ख्याति के अर्जन हेतु जहाँ अत्याचार किया जाता है वह स्वर्ग भी क्यों न हो तब भी त्याज्य है।

★ अत्याचार बड़े व्यक्ति ही छोटो पर करते हों, ऐसा ही नहीं है, कदाचित् छोटे भी बड़ों पर करते हैं।

★ अत्याचारी की शक्ति वर्तमान में उससे अधिक ही मानी जायेगी जिस पर अत्याचार किया जा रहा है।

★ अत्याचारो को भी अपने पूर्वभव में बद्ध कर्मों का फल मान कर समता से सहन करने वाला पुरुष सुगति का पात्र होता है।

★ अत्याचारी को जब तक अपनी भूल/अपराध का पश्चाताप न हो और उसका त्याग न करे तो उसे दुर्गति से कोई बचा नहीं सकता।

★ हे अत्याचारियों ! आज मूक पशुओं पर ! अबला नारियों पर ! असहाय, अनाथ, दीन-हीन पुरुषों पर ! निर्धन मजदूरों पर अत्याचार करने में तुम्हें दु:ख क्यों नहीं होता। किन्तु हमे तुम पर तरस आता है।

★ क्या तुम्हारा हृदय पत्थर का बना हुआ है जो दूसरों पर अत्याचार करते हुए भी कभी नहीं पिघलता ?

★ वह शासक नि:संदेह दुर्गति व असहनीय दु:खों का भाजक होता है जो दूसरों के प्रति अत्याचार करते समय कर्म सिद्धान्त से नहीं डरता।

★ हे ममता की मूर्ति कहलाने वाली माताओं ! क्या अपने मासूम अंगजों (गर्भस्थ संतानों) की भ्रूण हत्या जैसे अत्याचार कराते समय तुम्हारी रूह नहीं काँपती, दिल नहीं रोता, क्या तुम्हारी ममता का स्वरूप यही है ?

★ यदि गर्भपात के समय तुम्हारा हृदय ऐसा नहीं होता तो तुम मानव समाज के लिए एक कलंक के समान क्यों मानी जातीं ?

★ ओ पशुओं पर छूरी चलाने वाले अत्याचारियों ! उनका खून पीकर क्या तुम सदैव जीवित बने रहोगे ?

(61) अनीति

★ स्व पर कल्याणार्थ, न्यायोचित तरीके से किये गये कार्य ही नीतियाँ कहलाते हैं, सुनीति पूर्वक किया गया कार्य मंगलमय ही होता है।

★ न्याय, अनुशासन, लोक व्यवहार, धर्म, राज्य संविधान आदि के विपरीत किया गया कार्य अनैतिक ही कहलाता है।

★ नीतियों के कई भेद हैं यथा राजनीति, धर्मनीति, लोकनीति, युद्धनीति, राज्य संचालन नीति, अनुशासन नीति।

★ नीतिवान अनुशासक ही अनुशासन में सफलता प्राप्त कर सकता है, यह जन सामान्य में प्रशंसनीय होता है।

★ .... अनैतिक व्यवहार करने वाला यदि दूसरों पर नीतियों को थोपता/लादता है तो वह शासक, . .. दु:ख, अपमान, तिरस्कार, संकट, अवनति को प्राप्त होता है।

★ दुष्ट लोग कूटनीति, झूठ नीति, स्वेच्छाचारिणी प्रवृत्ति करके अपना उत्थान, यश, वैभव, सम्पन्नता चाहते हैं किन्तु इससे उन्हें विपरीत अवस्था ही उपलब्ध होती है।

★ यदि शासकगण नीतियों का ईमानदारी से पालन करने लगें तो शासित भी स्वयं ही नीतियों का पालन करेंगे।

★ अधिकांश शासक स्वयं अनीति, कूटनीति का पालन करते हुए जनता को नीतियों में बांधना चाहते हैं अत: वैरभाव, विवाद, कलह, अशांति, भय, जनक्रांति की स्थिति ही बनी रहती है।

★ अनीति जब चरम सीमा तक पहुँच जाती है तो जनान्दोलन या जनक्रांति का धमाका सा फूटता है।

★ अनीति का अर्थ अनि + इति। अनियत विध्वंस, संहार, अंत अथवा अन् + ईति = ईति की अनिवार्यता।

★ जहाँ अनीति का साम्राज्य होता है वहाँ इति की अग्नि सर्वस्व भस्म करने के लिए मजबूर हो जाती है।

★ अनीति स्वयंभूत है, जो स्वयं द्वारा उत्पादित है वही स्वयं को नष्ट कर देती है।

★ अनीति अपने जनक व जननी की मौत का निमंत्रण है।

★ अनीति से चाही गई सम्पन्नता, बालू की दीवार पर बनाये गये मकान के समान या मेघ निर्मित मनोहर नगर के समान है जो कि जनक्रांति की बाढ़ या जनान्दोलन के तूफान से नष्ट/धराशायी हो जायेंगे।

★ हे अनुशासको ! जब तुम्हें दूसरों के द्वारा अपने प्रति किया गया अनैतिक व्यवहार पसंद नहीं है तो फिर दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार क्यों करते हो ?

मृता नैव मृतास्ते तु, ये नराः धर्म कारिणः।
जीवन्तोअपि मृतास्ते वै, ये नराः पाप कारिणाः ।।सा.स.आ.कुलभद्र

अर्थ—जो मनुष्य धर्म कार्य में रत रहते हुए मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं वे मरने पर भी मृत नहीं माने जाते किन्तु जो मनुष्य पाप कार्य में रत हैं वे जीवित होने पर भी मृत तुल्य हैं।

* * *

अन्तर्वेदना

कुग्रामवासः कुलहीन सेवा।
कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या॥
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या।
विनाग्निमेद प्रदहन्ति कायम्॥

चाणक्य नीति दर्पण-8

अर्थ—खराब ग्राम में निवास, नीच कुल वाले प्रभु की सेवा, खराब भोजन, कर्कशा स्त्री, मूर्ख पुत्र, विधवा पुत्री ये छः बिना अग्नि के ही प्राणी के शरीर को भून डालते हैं।



(62) गिराओ मत—उठाओ

★ गिरना शब्द स्वतः ही भव्य जीवों को कह रहा है गिर-ना अर्थात् गिरो मत, जो गिर जाता है फिर उठना कठिन हो जाता है।

★ हे आत्मन् ! गिरना उतना बुरा नहीं जितना कि गिरकर के न उठना बुरा है, जो गिर कर उठ गये वे महान पुरुष बन गये।

★ जो चलता है वही गिरता है, जो चलता ही नहीं, भूमि पर पहले से ही पड़ा हुआ है, वह क्या गिरेगा ? गिरने के भय से न चलना, गिरने से भी ज्यादा खतरनाक है अतः सदैव चलने का प्रयास सफलता प्रदायी है।

★ जो अपनी ही दृष्टि से गिर गया है उसे अब कौन उठा सकता है, बाहर कहीं गिर गये होते तो कई लोग उठाने में सहयोगी बन जाते।

★ हे आत्मन् ! गिरने वाला जितना पापास्रव करता है, उससे ज्यादा पापास्रव कभी-कभी गिराने वाला कर लेता है अतः कभी किसी को मत गिराओ।

★ जो किसी की दृष्टि से गिर गये, वे कितने ऊँचे भी उठ जायें फिर भी गिरे ही कहलाते हैं क्योंकि आँखों से उठा नहीं सकते—हाथों से उठाया जाता है, वे हाथ आँखों के पास हैं ही नहीं।

★ दूसरों को नीचे गिराना, स्वयं ऊँचा उठना उसी प्रकार है जैसे अपने ही पैरों पर कुल्हाडी पटक लेना, अपने पैर काट कर ही दौड़ना।

★ गिराओ मत, अपितु गिरे हुए लोगों को उठाना सीखो किन्तु दुष्टाशय पुरुष इसका अर्थ यूँ कहते हैं गिराओ, मत उठाओ।

★ हे आत्मन् ! तुम गिराना ही चाहते हो तो अपने अहं को, क्रोध को, विषयेच्छाओं को, पर पदार्थ में व्याप्त मूर्च्छा को, लोभ के पर्वत को गिराओ, जिससे तुम भार मुक्ति का आनन्द ले सको।

★ गिरने वाली चींटी साहस न खोने से अनेक बार के परिश्रम से दीवाल के ऊपर चढ़ने में सफल हो जाती है अतः कभी गिर भी जाओ तो निराश मत हो, ऊपर चढ़ने व आगे बढ़ने के सम्यक् पुरुषार्थ करते रहो।

★ सम्यक्त्व या संयम से गिरते हुए स्वयं को या दूसरों को उठा लेना अथवा गिरने से बचा लेना सम्यक् दृष्टि का स्थितिकरण नाम का अंग है।

★ आज संसार में अधिकांश प्राणी अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि करने हेतु दूसरों को गिराने की कोशिश कर रहे हैं, उन्हें नहीं मालूम कि दूसरों को गिराने का प्रयास स्वयं को ही गिराना है।

★ तुम दुनिया की दृष्टि में भले ही कितने ऊँचे उठ जाओ किन्तु परमात्मा की दृष्टि में या स्वयं की दृष्टि में गिरे हुए हो तो गिरे हुए ही कहलाओगे।

★ दुनिया तो अंधी है, वह कभी-कभी चढ़े हुए को गिरा व गिरे हुए को उठा हुआ भी घोषित कर देती है अतः दुनिया की परवाह मत करो।

★ वर्तमान में उठाने का दिखावा अधिक एवं उठाना कम हो रहा है एवं गिराना अधिक दिखायी देता है।

★ हे आत्मन् ! कुछ लोग यहाँ ऐसे भी हैं जो बाहर से ऐसा लगता है कि वे उठा रहे हैं, उपकारी हैं किन्तु मालूम चलता है कि उन्होंने ही तुम्हें गिरा दिया, अभी भी गिरा रहे हैं।

पुण्यपाप

पुण्य पापादृते नान्यत्सुखे दुःखे च कारणं।

तन्तवो हि लूतायाः कूप पात निरोधिनः ॥ ४८ ॥ १० ॥ क्ष० चू०

अर्थ—जैसे मकड़ी के जाल के तन्तु कुंए में गिरते हुए प्राणी को नहीं बचा सकते उसी प्रकार पुण्य और पाप के बिना कोई भी वस्तु सुख व दुःख में कारण नहीं है।

(63) मन को जीतने का उपाय

★ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों को विषयों से रोकने का प्रयास करना ही मन को जीतने का प्रथम सोपान है।

★ इन्द्रिय के विषयों की अधिकता और संग्रह की प्रवृत्ति होने से मन को वश में कर पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

★ विषय, कषाय, आरम्भ, परिग्रह की वृद्धि ज्यों-ज्यों होती है, त्यों-त्यों मन की भटकन, चंचलता बढ़ती जाती है।

★ राग-द्वेष की वृद्धि होने पर मन को वश करने का प्रयास उस ही प्रकार है, जैसे अग्नि बुझाने के लिए घी, तेल, पेट्रोल, डीज़ल का छिड़काव करना।

★ अति परिचय बढ़ाने की प्रवृत्ति, मन भ्रमण के लिए नये-नये रास्ते खोज लेना है, जो उदासीन प्रवृत्ति वाले हैं वे मन को जल्दी में वशकर लेंगे।

★ पर पदार्थों में ममत्व का त्याग करने की प्रवृत्ति, स्वभाव की ओर अनुगमन, सत्यार्थ भूत-आत्म स्वरूप का अन्वेषण, मन को जीतने का प्रमुख साधन है।

★ इच्छाओं की वृद्धि, परिग्रह (चेतन व अचेतन) की वृद्धि, काम वासनाओं की वृद्धि, तीव्र पाप के उदय में मन को वश में कर पाना असंभव है।

★ चेतन व अचेतन पदार्थों के प्रति जो साक्षी भाव (मध्यस्थ भाव) रखते हैं वे महापुरुष मन को जल्दी जीत लेते हैं।

★ मन जहाँ जा रहा है जाने दो, जो कुछ कर रहा है करने दो, तुम उसके साथ मत जाओ, उसके कार्य में सहयोगी मत बनो तो मन स्वतः ही लौट कर वापिस आ जायेगा।

★ पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना, अच्छे बुरे का निर्णय करना ही राग-द्वेष की परिणति है, यह परिणति मन-भ्रमण का कारण है।

★ मन यदि आत्मा में रमण करता है तो वह मन भव में भ्रमण नहीं करता, भ्रमणशील मन–आत्म रमण नहीं कर पाता है।

★ व्रत, समिति, गुप्तियों का पालन करना भी मन जीतने का समीचीन उपाय है।

★ वचन एवं काय की प्रवृत्ति का निरोध भी मन को जीतने का सफलतम साधन हो सकता है।

★ यदि आपने मन को जीतने का मन बना लिया है, आपने दृढ़ संकल्प कर लिया तो मन को अपने अनुसार चलाने के लिए नये समीचीन मार्गों की खोज करो।

★ सिद्धांत के मनन करने में, प्रथमानुयोग में वर्णित कथाओं को पढ़ने में, अपनी आत्मालोचना करने में, करणानुयोग में वर्णित गणित को हल करने में मन स्थिर हो जाता है।

ज्ञानाभ्यास परो जीवः, त्रिगुप्तेन्द्रिय संवराः।
भवेदेकाग्र चित्तस्य, तस्मात् ज्ञानं परं तपं॥

अर्थ—ज्ञानाभ्यास से युक्त तीन गुप्ति, पंच इन्द्रिय निरोध या संवर करता है, स्वाध्याय से मन एकाग्र होता है, इसलिए ज्ञान/स्वाध्याय को परम तप कहा है।

* * *

स्वाध्याय

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदिय संवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू॥ १०३॥ भ० आ०

अर्थ—विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्र मन होता है॥ १०३॥

(64) निन्दा—प्रशंसा

★ हे आत्मन् ! निन्दा उभय शक्ति युक्त पदार्थ है, यह पतन का हेतु है तो उत्थान का सेतु भी।

★ आत्म निन्दा निःसंदेह मोक्ष मार्ग के सोपान के समान है, जो आत्म निन्दा में संलग्न रहते हैं वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं।

★ जिन्हे पर निन्दा करने मे आनन्द आता है वे अभी धर्म से योजनों दूर खडे है।

★ हे आत्मन् ! पर निन्दा निःसंदेह पापाश्रव का हेतु है, पुण्यास्त्रव को संवर करने वाली है एवं तीव्र अनुभाग व उत्कृष्ट स्थिति बंध के साथ पाप प्रकृतियों का बंध कराने वाली है, संसार सागर मे डुबोने वाली है।

★ हे आत्मन् ! जो प्राणी धर्मात्मा का भेष धारण करके भी सच्चे देव, जिनशास्त्र, जिनधर्मी निर्ग्रन्थ जैन गुरुओं परमेष्ठियों की निन्दा करते हैं वे तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं, उसके पाप के फल से वे नरक व निगोद के दुःख को अवश्य भोगेंगे।

★ हे आत्मन् ! जिन धर्मायतनों की निन्दा करने वाला ही पापी नहीं है अपितु निन्दा सुनने वाला, अनुमोदना करने वाला व उन्हें प्रोत्साहन देने वाला भी पापी है।

★ हे आत्मन् ! निन्दा एक ऐसा रस है जिसके सामने काव्य के नव रस एवं भोजन के षट् रस भी नीरस हो जाते हैं।

★ हे आत्मन् ! निन्दा के माध्यम से पाँचों पापों में प्रवृति हो जाती है, निन्दा करने वाला हिंसक, मिथ्याभाषी, चोर, कुशीलसेवी व परिग्रही है।

★ हे आत्मन् ! जिन धर्मायतनों की निन्दा करने वाला व्यक्ति अपने आपको धर्मात्मा, महान ज्ञानी, त्यागी, तपस्वी व विद्वान समझता है किन्तु वह संसार का निकृष्टतम प्राणी है।

★ हे आत्मन् ! पर निन्दा व आत्म प्रशंसा करने वाला नीच गोत्र का बंध करता है और नीच गोत्र का बंध प्रथम व द्वितीय गुणस्थान में ही होता है। द्वितीय गुणस्थान का काल अल्प है (अधिकतम 6 आवली) अतः निन्दा करने वाला निःसंदेह मिथ्यादृष्टि, निकृष्ट तीव्र पापात्मा है, ऐसे जीव निःसंदेह दुर्गति के पात्र हैं।

★ हे आत्मन् ! जो सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु व जिन धर्म में मिथ्या दोषारोपण लगाते हैं उनके समान पापी संसार में अन्यत्र खोजना दुर्लभ है।

★ हे आत्मन् ! दूसरे की निन्दा करके उसकी कीर्ति यश का लोप करना, वध करना, प्राणी वध से भी अधिक घातक है।

★ हे आत्मन् ! जो साधक आत्म प्रशंसा व पर निंदा में सहभागी बन जाते हैं और उस कार्य में दूसरों को प्रेरणा भी देते हैं वे यथार्थ में धर्म के लुटेरे हैं, उन्होंने अभी धर्म का सही स्वरूप नहीं समझा।

★ हे आत्मन् ! तू सदैव अपनी दृष्टि स्व की ओर ही रख। स्व की ओर दृष्टिपात करने से ही कल्याण संभव है, परापेक्षी दृष्टि दुख का ही हेतु होती है।

★ हे आत्मन् ! यथार्थ साधु वही है जो साधर्मी साधकों की प्रशंसा एवं अपनी निंदा सुनकर भी आनन्दित होता है, जो इसके विपरीत है वह साधुनुमा तो हो सकता है किन्तु साधुमना नहीं। किन्तु कल्याण साधुनुमा बनने से नहीं अपितु साधुमना होने से ही होता है।

★ हे आत्मन् ! दोषग्राही प्राणी सदैव दूसरों के दोष ही देखते हैं। उन्हें दूसरे के गुण नहीं दिखते क्योंकि उनकी आँखों में दोषों का चश्मा लगा है, बिना उतारे गुणग्राही नहीं बन सकते।

★ हे आत्मन् ! जो छिद्रान्वेषी है, दोष दृष्टा है, वह कभी अपने गुणों को प्रकट नहीं कर पाता, वह तो गुलाब वाटिका से भी गुलाब नहीं, काँटें ही चुनता है।

★ हे आत्मन् ! दोषग्राही प्राणी शूकर, चील, कौआ, मक्खी, जोंक आदि जैसी उपाधियों के योग्य एवं तद्रूप गति पाने का पात्र होता है भले आकार सज्जनों जैसा हो।

★ हे आत्मन् ! प्रशंसा आत्ममारक मीठा जहर है, इसको पीते समय बड़ा आनन्द आता है किन्तु बाद में बड़ा दुःखदायी है।

★ संगीत, नव रसों एवं भोजनों के षट्रसों में जो आनन्द नहीं आता वह आनन्द प्रशंसा सुनने के इच्छुक को प्रशंसा सुनने में आता है।

★ हे आत्मन् ! आत्म प्रशंसा पतन की सीढ़ी है, जिसका पतन होना होता है वह आत्म प्रशंसा करता है।

★ हे आत्मन् ! तुम सदैव गुणी महापुरुषों की प्रशंसा में ही संलग्न रहो जिससे उन जैसे गुण तुम भी पा सको।

★ हे आत्मन् ! गुणी जनों के गुणों की प्रशंसा करना भी भक्ति, स्तुति, वन्दना, अर्चना व पूजा है।

★ हे आत्मन् ! महापुरुषों की/पूज्य पुरुषों की प्रशंसा नहीं करना, नहीं सुनना, सम्यक्त्व मलिनता की निशानी है।

★ हे आत्मन् ! सच्चे साधक का लक्षण भी यही है कि जो दूसरों के गुणों की प्रशंसा सुनकर मुस्कराये, आनन्द से सराबोर हो जाये एवं अपनी प्रशंसा सुनने में सकुचाये या शर्माये।

★ हे आत्मन् ! स्व प्रशंसा के इच्छुक को सदैव निन्दा ही मिलती है। एवं जो पर की प्रशंसा करता है तो उसकी भी प्रशंसा नियम से होती है, दूसरों को शीतल पानी के छींटे डलाने से स्वयं को शीतलता मिलती है, दूसरों को जलाने हेतु आग के गोले फेंकने पर वे गोले स्वयं को ही पड़ते हैं, स्वयं ही जल जाते हैं, जो ऊपर की ओर मुँह करके थूकता है, तो उसका थूक उसी के ऊपर गिरता है, दूसरों की निन्दा करने से स्वयं की ही निन्दा होती है।

★ हे आत्मन् ! सज्जनता सज्जनों जैसा आकार बनाने से नहीं, सज्जनों जैसा आचार पाने से होती है अतः तू सदैव सज्जनों जैसे आचरण में ही संलग्न रह।

★ हे आत्मन् ! गुरुओ की दृष्टि शिष्यों/साधकों के दोष दूर करने की होती है, वे शिष्यों के दोष उनका अपमान करने के लिए नहीं अपितु सम्माननीय बनाने के लिए बताते हैं। उस समय उनके स्वयं की मान

की पुष्टि नहीं शिष्य के संयम की रक्षा एवं वृद्धि का ही भाव रहता है।

★ हे आत्मन् ! कुछ लोगों को स्वाध्याय, सामायिक आदि कार्यों में तो नींद आ जाती है किन्तु निन्दा करते व सुनते समय नहीं आती। ठीक है, सभी अपनी सजातीय का पक्ष लेते हैं अतः निन्दा के कार्य में नींद भी व्यवधान नहीं डालती है। नींद आँख बन्द करके सुलाती है, निन्दा आँख कान खोलकर भी अन्दर से सुलाती है। अतः तू नींद व परनिन्दा से सदैव दूर रहने का प्रयास कर।

★ हे आत्मन् ! जिसे स्वप्रशंसा व परनिंदा में आनन्द आता है वह कभी पर प्रशंसा व आत्म निन्दा को सहन नहीं कर सकता। जो-जो आत्म प्रशंसा में फूलता नहीं है वह कभी आत्म निन्दा सुनने पर भी अपने स्वभाव को भूलता नहीं है।

★ हे आत्मन् ! अपनी निन्दा व दूसरों की प्रशंसा करना एवं सुनना सबसे बड़ी तपस्या व साधना है।

★ हे आत्मन् ! आत्म निन्दा व पर प्रशंसा को करके भी अपने मान की पुष्टि एवं माया की तुष्टि-संतुष्टि की जा सकती है। अतः आत्म निन्दा भी निश्छल भाव से एवं सरल हृदय से आत्म विशुद्धि के लिए ही करना चाहिए तभी सार्थक है अन्यथा ......।

नृपस्य चित्तं कृपणस्यं वित्तं, मनोरथं दुर्जन मानवानां।
स्त्रियस्य चरित्रं, पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्याः॥

अर्थ—राजा के मन को, कंजूस के धन को, दुर्जन मनुष्यों के मनोरथ को, स्त्रियों के चरित्र को, मनुष्य के भाग्य को देव भी नहीं जानते तब मनुष्यों की *क्या कथा? अर्थात्* मनुष्य नहीं जान सकते।

(65) नव ग्रहों का पिता

★ अशुभ कर्मों को ग्रहण करने के लिए परिग्रह चुम्बक के समान है, जैसे चुम्बक लोहे की वस्तुओं को अपनी ओर खींच लेती है वैसे ही परिग्रह पापों को अपनी ओर खींच लेता है।

★ परिग्रह एक ऐसा पाप है जिसमें समस्त पापों के दर्शन एक साथ हो सकते हैं।

★ परिग्रह नरक का द्वार एवं दुःखों का बीज है, परिग्रह की बस ऐसी नॉन स्टाप बस है जो सीधे नरक में जाकर ही रुकती है।

★ संसार में अभी तक 9 ग्रह ही सुनने-पढ़ने व देखने में आते हैं किन्तु परिग्रह एक ऐसा ग्रह है जिसमें 9 ग्रहों का समावेश हो जाता है।

★ सूर्य, चन्द्र, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि ग्रह तो किसी एक राशि को ही ग्रसते हैं, प्राणियों को एक ही ओर से कष्ट देते हैं किन्तु जो दसवां ग्रह है वह चारों ओर से दुख देता है।

★ शनि, मंगलादि ग्रह तो कभी सुख तो कभी दुख देते हैं किन्तु परिग्रह का ग्रह सदैव ही दुख का ही कारण है, वह कभी भी सुख का कारण नहीं होता।

★ परिग्रह की जंग जिस आत्मा में लग जाती है वह आत्मा देव शास्त्र गुरु के पास जाकर भी कुन्दन नहीं बन पाता। जैसे जंग सहित लोहा-पारस के स्पर्श से भी स्वर्ण नहीं बनता है।

★ व्यसन ही महापाप कहलाते हैं, पाप पतन का कारण है, दुःखों की जननी है किन्तु व्यसनों का जनक परिग्रह ही है।

★ जिनके लिए अर्थादि परिग्रह व्यर्थ हो जाते हैं उन्हीं के लिए परमार्थ का मार्ग प्राप्त हो सकता है, जिन्हें अर्थादि परिग्रह सार्थक दिख रहा है वे कभी परम अर्थ रूप परमार्थ नहीं पा सकते।

★ परिग्रह का संचय करने वाला धर्म का संचय नहीं कर पाता, परिग्रह व धर्म दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं, जहाँ परिग्रह है वहाँ निश्चय से धर्म का सद्भाव नहीं, यदि निश्चय धर्म प्राप्त करना है तो परिग्रह को छोड़ना ही पड़ेगा।

★ परिग्रह अनर्थों का मूल है, जब तक ये मूल रहेगा तब तक अनर्थों का वृक्ष सूख नहीं सकता अपितु वह सदैव हरा-भरा रहेगा और अपने अनर्थ रूपी फल सदैव देता रहेगा।

★ अनर्थों के मूल परिग्रह को उखाड़ कर फेंके बिना अनर्थों से मुक्ति नहीं मिल सकती। हम अनर्थ रूपी फलों से बचना चाहते हैं किन्तु उस वृक्ष को उखाड़ कर फेंकना नहीं चाहते।

★ परिग्रह रूपी जड़ जब तक हरी है, जीवित है तब तक अनर्थ रूपी वृक्ष की शाखाओं के काटने से कोई लाभ नहीं हो सकता, बेशरम की तरह वे अनर्थ सदैव दिन दूने रात चौगुने वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं।

★ परिग्रह अशान्ति रूपी वृक्ष के लिए खाद और पानी के समान है, जब तक अशान्ति रूपी वृक्ष को जल व खाद मिलता रहेगा तब तक अशान्ति मिटेगी नहीं अपितु परिग्रह वृद्धि होने से अशान्ति भी वृद्धि को प्राप्त होती है जैसे चन्द्रमा की वृद्धि से समुद्र के जल की वृद्धि स्वाभाविक ही रहती है।

★ यदि तू अशांति के मूल परिग्रह को उखाड़ने में असमर्थ है तो तुझे शांति प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है।

★ परिग्रह सहित व्यक्ति कभी भी निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे अग्नि में शीतलता, आकाश में मूर्तिपना, सिद्धों में कर्मों का बन्धन, अचेतन द्रव्यों में ज्ञानोपयोग, वायु में स्थिरता का होना असंभव है, उसी प्रकार आरम्भ और परिग्रह से सहित प्राणी के निर्विकल्प ध्यान असंभव है।

★ परिग्रह में आसक्त प्राणी संयम का पालन नहीं कर सकता और जो संयमी हैं वे परिग्रह में आसक्त नहीं होते अपितु उससे विरक्त ही रहते हैं।

★ परिग्रह का संचय बिना हिंसा झूठ व चोरी के नहीं होता तथा उसके होने पर कुशील, हिंसा, चोरी भी नियम से होती है।

★ राग, द्वेष परिग्रह के दो पैर हैं जिससे संसार में भ्रमण होता है। राग, द्वेष ही भाव हिंसा हैं जहाँ भाव हिंसा है, वहाँ द्रव्य हिंसा भी संभावित है।

★ परिग्रह प्राप्ति का ध्यान करना आर्त ध्यान है, नष्ट होने पर इष्ट वियोग नामक आर्त ध्यान है, प्राप्ति का ध्यान निदान आर्त ध्यान है तथा प्राप्ति होने पर आनन्द होना रौद्र ध्यान है।

★ हे आत्मन् ! परिग्रह शब्द दो शब्दों के मेल से बना है इसमें पहला शब्द है 'परि' यानि—चारो ओर से, दूसरा शब्द है 'ग्रह' यानि ग्रसे या ग्रहण करे। अतः परिग्रह का अर्थ हुआ जो चारो ओर से दुख को ग्रहण करे या आत्मा को ग्रसे वह है परिग्रह।

★ हे आत्मन् ! बाह्यपरिग्रह 10 प्रकार का होता है और दिशायें भी दस होती हैं अत. जो दस दिशाओं से दुख दे वह परिग्रह है।

★ हे आत्मन् ! लगता है दस प्रकार के धर्म को नष्ट करने के लिए ही यह परिग्रह नाम का शत्रु आत्मा पर आक्रमण करता है।

★ हे आत्मन् ! परिग्रह एक भार है जो आत्मा पर लदा हुआ है जिससे आत्मा दबी हुई असहनीय कष्ट पा रही है। जैसे किसी पत्थर से दबा अंकुर। यदि पत्थर न उठायेंगे तो अंकुर मर जाता है, वैसे ही आत्मा भी पल-पल मे मर रही है।

★ हे आत्मन् ! जो सम्पूर्ण परिग्रह (अंतरंग-बहिरंग) से रहित हैं वे कभी जन्म, जरा, मृत्यु के दु:खों को प्राप्त नहीं होते। जो परिग्रह से लदे हैं वे ही जन्म, जरा, मृत्यु के दु.खों को भोगते हैं।

★ हे आत्मन् ! बाह्य परिग्रह ही छोड़ना पर्याप्त नहीं है अपितु जीवन की सफलता व संयम की परिपूर्णता अंतरंग परिग्रह छोड़ने पर ही संभव है, जब तक अंतरंग मे रंचमात्र भी परिग्रह है तब तक मोक्ष असंभव है।

★ हे आत्मन् ! परिग्रह के भार से दबा आदमी अधो गति की ओर ही जाता है, उर्ध्व गति में नहीं जाता इसलिए बहुआरम्भ परिग्रही नरक व निगोद अवस्था को प्राप्त होते हैं।

★ हे आत्मन् ! जिसके पास जितना अधिक परिग्रह होगा वह उतना ही अधिक डूबेगा, जिसके पास जितना कम परिग्रह होगा वह उतनी ही उर्ध्व अवस्था को प्राप्त होगा।

★ हे आत्मन् ! चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी यदि नरक में जाते हैं तो मात्र परिग्रह के कारण ही जाते हैं। क्योंकि दीक्षा लेने वाले तो नियम से स्वर्ग या मोक्ष ही जाते हैं।

★ हे आत्मन् ! परिग्रह स्वभाव की ओर गमन करने में सबसे बड़ा बाधक है, आत्मा का परम शत्रु है।

★ हे आत्मन् ! तेरा स्वभाव मात्र चैतन्यमय, ज्ञाता, दृष्टारूप है, यदि तिल तुष मात्र परिग्रह को भी तू अपना स्वभाव मानता है तो तू मिथ्या दृष्टि है अतः तिल तुष मात्र परिग्रह भी तेरा स्वभाव नहीं, तू तो अकिंचन स्वभावी है। किंचित पुद्गल भी तेरा नहीं हो सकता।

★ हे आत्मन् ! 14 प्रकार अंतरंग एवं 10 प्रकार के बहिरंग परिग्रह छोड़े बिना 14 गुणस्थान पाना असंभव है।

★ हे आत्मन् ! परिग्रह के मुख्य रूप से 2 भेद होते हैं—(1) चेतन परिग्रह (2) अचेतन परिग्रह। कुछ लोग अचेतन परिग्रह को ही परिग्रह मानते है, चेतन को नहीं। किन्तु हे आत्मन् चेतन परिग्रह भी अचेतन परिग्रह के समान दुःखदायी व दुर्गति का कारण है, जितना अचेतन के प्रति मोह होता है उससे कई गुना मोह चेतन के प्रति भी हो सकता है। अपनी स्वकीय चेतना के सिवाय पर चेतन को अपना मानना, अपनत्व भाव रखना भी दुःख का जनक है अतः चेतन अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह से पूर्ण विरक्त होने का प्रयास कर।

★ हे आत्मन् ! वस्तुयें रखना ही परिग्रह नहीं है, वस्तुयें छोड़ देने पर भी परिग्रही हो सकते हैं क्योंकि परिग्रह का अर्थ होता है पर पदार्थों के प्रति मूर्च्छा भाव, ममत्व परिणाम या अपनत्व की भावना या मेरे पन का व्यवहार। अतः वस्तुओं के साथ-साथ उनसे मोह छोड़ना भी अनिवार्य है। अन्यथा कल्याण असंभव है।

★ हे आत्मन् ! बिना पदार्थों के छोड़े ममत्व नहीं छूट सकता। जो वस्तु को बुद्धिपूर्वक पकड़ता है तो निःसंदेह उसका उसके प्रति ममत्व/मूर्च्छाभाव रहता ही है।

★ पर वस्तुओं के त्याग कर देने पर ममत्व त्याग होना संभावित है, अनिवार्य नहीं। किन्तु ममत्व/मूर्च्छा भाव का त्याग हो जाने पर वस्तु नियम से छूट जाती है क्योंकि मूर्च्छा भाव का त्याग कार्य है, वस्तु का छोड़ना कारण है, अतः कारण पहले होता है, कार्य बाद में। व्यवहार निश्चय की तरह या सम्यग्दर्शन या सम्यग्चारित्र की तरह।

★ हे आत्मन् ! पहले बाह्य परिग्रह को छोड़ा जाता है तत्पश्चात् अंतरंग परिग्रह। इस बात को आबाल वृद्ध व बाल गोपाल सभी जानते हैं कि बिना शर्ट उतारे बनियान या बिना जूता उतारे मोजा या बिना बाहरी छिलका उतारे मूंगफली निकालना असंभव है, उसी प्रकार बिना बाह्य परिग्रह त्याग के अंतरंग त्याग असंभव है।

★ हे आत्मन् ! जो बाह्य परिग्रह छोड़े बिना अंतरंग परिग्रह छोड़ने की बात करते हैं, वे नितान्त मूर्ख हैं, उनकी वार्तायें पिशाच ग्रहीत व्यक्ति या शराबी की तरह निरर्थक प्रलाप हैं क्योंकि बुद्धिमान ऐसा कभी नहीं कह सकता कि कार्य के पश्चात् कारण होता है अपितु बुद्धिमान/विवेकी तो यही मानते हैं कि बिना कारण कभी कार्य नहीं होता।

परिग्रह

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुरास्स।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संग सत्तस्स॥ १११८॥ भ० आ०

अर्थ—जैसे तुष सहित चावल का तुष दूर किये बिना, उसके अन्तर्मल का शोधन करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार बाह्य परिग्रह का त्याग किये बिना अन्तरंग परिग्रह का त्याग शक्य नहीं है।

(66) सम्मान

★ हे आत्मन् ! सम्मान शब्द दो शब्दों से मिलकर बनता है। प्रथम शब्द है सम जो कि द्वितीय मान शब्द का विशेषण है। सम का अर्थ होता है समीचीन एवं मान का अर्थ होता है सहित, युक्त या तद्वस्तु का धारक। जैसे श्रीमान, श्रीयुत् या श्री/लक्ष्मी धारक, अतः मान शब्द का अर्थ होता है समीचीनता से युक्त या सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी या सम्यक् चारित्र वाला। जिसका जीवन समीचीनता से युक्त है वही सम्माननीय-सम्मान के योग्य कहलाता है। अतः अपने जीवन को समीचीन बनाने का अहर्निश प्रयास करते रहो। समस्त असमीचीनता को दूर करने का सफलतम पुरुषार्थ करो।

★ हे आत्मन् ! मान एक कषाय है जिसके पोषण के लिए प्राणी पागल जैसा हो रहा है, वह निशदिन उसकी पूर्ति में ही लगा रहता है। इस बात को भूल गया है कि कषाय आत्मा के लिए अहित कारक होती है, आत्मा को कसती है, कृषती है, संसार सागर में भटकाती है किन्तु सम्मान का भूखा प्राणी मान की पुष्टि में आज संलग्न है। बड़ा खेद होता है कि प्राज्ञ पुरुषों ने जिस मान को महाविष रूप कहा है, अज्ञानी प्राणी उसी के पान करने में आज मस्त है।

★ हे आत्मन् ! मान-सम्मान या अपमान ये सब क्षणिक अवस्थायें हैं, सदैव स्थाई रहने वाली नहीं हैं फिर भी प्राणी इनके प्रति राग, द्वेष, मोह, अपेक्षा, आसक्ति भाव से पापास्रव कर रहा है, यदि यह समता या साम्य भाव रखे तो संसार सागर से पार ही हो जाये।

★ हे आत्मन् ! सम्मान के भूखे प्राणियों को सदैव अपमान ही मिलता है क्योंकि वे सम्मान के भूखे हैं अर्थात् वे समीचीनता से रहित हैं। अतः बाहर से समीचीनता चाहते हैं किन्तु बाहर की समीचीनता कल्याण करने में असमर्थ है।

★ हे आत्मन् ! जो आज मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, ख्याति व लोक पूजा के पीछे दौड़ रहा है, सत्य को तिलांजलि दे चुका है, ऐसा प्राणी निःसंदेह मिथ्यादृष्टि है एवं अनंत-संसारी है।

★ हे आत्मन् ! विषय व कषाय आत्मा का अहित करने वाले हैं, इनके पीछे मत दौड़। जब तक मान-सम्मान नहीं मिलता तब तक बड़ा मोहक लगता है, मिलने के उपरान्त उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

★ हे आत्मन् ! अब साधक भी मान-सम्मान की चाह में दौड़ रहा है, उसे तो दूसरे को उस दिशा से रोक, सही राह देना चाहिए। यदि वही दौडने लगेगा तो सही राह कौन दिखायेगा ?

★ हे आत्मन् ! तुम स्वयं समीचीन बन जाओगे तो सारा संसार स्वतः ही तुम्हारा आदर सत्कार करेगा। और आप अपने समस्त अनन्त ज्ञानादि गुणों को पा सकोगे। संसार के बंधनों से मुक्ति भी मिल जायेगी यदि जीवन समीचीन बना लिया तो ......।

★ हे आत्मन् ! यदि तेरा जीवन समीचीन नहीं हुआ तो बाहर से भले ही तेरा आदर सत्कार भी हो जाये तो भी उसमें तेरा क्या लाभ। बाहर का मान-सम्मान, यश, पूजा, प्रतिष्ठा आत्मशान्ति नहीं दे सकते, अतः तुम अपना जीवन इसी तरह लोक ख्याति व मान-सम्मान से दूर रहते हुए पावन बनाते रहो।

★ हे आत्मन् ! चंद क्षणों के आनन्द के लिए अपनी आत्मा को गड्ढे में क्यों धकेलता है ? क्या ये तेरा मान-सम्मान, तेरे साथ जायेगा ? तेरा यह भव सुधार पायेगा, तुझे दुःखों से बचा पायेगा। यदि नहीं तो उस दौड़ को छोड़।

यो मदान्धो न जानाति, हिताहित विवेकताम्।
स पूज्येषु मदं कृत्वा नरो भवति गर्दभः॥ 17 ॥128॥ स.श्लो.सं.

अर्थ—जो मदान्ध मनुष्य हित-अहित का विवेक नहीं जानता, वह पूज्य पुरुषों के विषय में मद करने के प्रभाव से मरकर परभव में गधा होता है।

(67) समता

★ हे आत्मन् ! समता शब्द सम भाव से सिद्ध हुआ है, समभाव को ही समता/साम्य भाव कहते हैं। सम का अर्थ होता है—बराबर या एक जैसा। बराबर या समरूप परिणाम बनाये रखना ही समता है।

★ हे आत्मन् ! समता भाव आत्मा का गुण है, इस गुण के प्राप्त होते ही आत्मा में अनन्त गुणों की उत्पत्ति की संभावना सफलीभूत हो जाती है, बिना समता के सब व्यर्थ है।

★ हे आत्मन् ! समता संयम का प्राण है, बिना समता के संयम बाहरी आवरण के समान या खोखले वृक्ष की छाल के समान है।

★ हे आत्मन् ! तुम सदैव समता भाव में ही रहो। समता का अर्थ—शत्रु-मित्र, काँच-कंचन, निन्दा-स्तुति, जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, प्रेम-ग्लानि, राग-द्वेष, सम्मान-अपमान तिरस्कार, सभी के प्रति समान भाव रखना है।

★ हे आत्मन् ! समता का अर्थ है साक्षी भाव रखना अर्थात् किसी भी अच्छे बुरे का निर्णय नहीं करना। दोनों के प्रति एक जैसे भाव, जैसा दर्पण का व्यवहार होता है। वह अच्छे-बुरे सभी पदार्थों को एक सा झलकाता है, ज्ञान के समान। वैसे ही सभी के प्रति एक जैसा भाव ही पूर्ण समता भाव कहलाता है।

★ हे आत्मन् ! समता—पृथ्वी, आकाश, धर्म, अधर्म, कर्म के समान हो। ये द्रव्य कभी किसी से राग-द्वेष नहीं करते, सभी के प्रति एक जैसा व्यवहार करते हैं। ऐसी समता ही साक्षात सिद्धत्व का कारण है। ये समता हमारा शुद्ध स्वभाव है जिसकी पूर्णता सिद्धशिला में होती है। अंशतः अप्रमत्तादि गुणस्थान में।

★ हे आत्मन् ! समता ही संयमी का प्राण है, साधुओं की चेतना शक्ति है, इसके बिना संयमी, साधक मृतक के समान है। यदि साधु में समता

नहीं है तो उसकी साधुता पूर्णतः परमार्थ का कारण नहीं है।

★ हे आत्मन् ! श्रावक के लिए जितना अनिवार्य पाँच परमेष्ठी की पूजन है, इसके बिना श्रावक-श्रावक नहीं हो सकता ठीक उसी तरह समता के बिना साधु साधक / संयमी नहीं हो सकता।

★ हे आत्मन् ! कदाचित् साम्य भाव में अतिचारादि दोष लग सकते हैं किन्तु सदैव दोषपूर्ण प्रवृत्ति करना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् बुद्धिपूर्वक निष्प्रयोजन बार-बार सदोष प्रवृत्ति करना उसके अभाव का हेतु है।

★ हे आत्मन् ! समता ही श्रेष्ठ संयम है, तप है, ध्यान है, आराधना है, पूजा है, स्तुति है, वन्दना है, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय सब कुछ वही है। यदि वह समता नहीं तो कुछ नहीं, अतः सदैव समता स्वभाव में निरन्तर लीन रहने का प्रयास करते रहो।

★ हे आत्मन् ! साम्य भाव, समता भाव, साक्षी भाव, निरीहता, निष्पृहता, राग-द्वेष का अभाव, ये सब ही समता भाव कहलाता है। ये सब एकार्थवाची हैं।

जीविय मरणे लाहालाहे, संजोग विप्पजोगेय।
बंधुरिह सुह दुक्खादो, समदा सामाइयं णाम॥

अर्थ—जीवन-मरण में, लाभ-हानि में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में, सुख-दुःख में समता भाव रखने का नाम ही सामायिक है।

* * *

नमश्चर न कश्चित्स्याद्विपश्चिदविपश्चितोः।
विनिश्चलशुचोर्भेदो यतश्चन कुतश्चन॥ ७/५७

अर्थ—विद्वज्जन विपत्ति आने पर भी धैर्य धारण करते हैं और विशेष लाभ होने पर भी गर्व नहीं करते हैं। अविद्वान, मूर्ख लोग अल्प आपत्ति से ही अधीर हो जाते हैं और अल्प लाभ में ही फूल जाते हैं। विद्वान और अविद्वान में यही अन्तर है।

(68) धर्म

★ जो संसारी प्राणियों को दुखों से निकाल कर सच्चे सुख मे पहुँचा दे, वही धर्म कहलाता है।

★ जो दु:खों को सुख में बदल दे वही धर्म कहलाता है, वह तन में नहीं चेतन में उत्पन्न होता है।

★ धर्म बाह्य प्रदर्शन में नहीं अपितु आत्मा के दर्शन करने में होता है, जो प्रदर्शन मे मस्त हैं वे धर्म से अभी काफी दूर हैं।

★ धर्म जीवन की बला नहीं अपितु स्वभावमय जीवन जीने की कला है। यह चर्चा से नहीं, चर्या से प्राप्त होता है।

★ धर्म चौराहे का नारा नहीं, जीवन की धारा है, जिन्होंने चौराहे के नारे मात्र को ही धर्म मान लिया है, उसी में संतुष्ट हैं, वे जीवन की धारा को कैसे बदल सकेंगे ?

★ धर्म श्रद्धा का मरण नहीं अपितु विश्वास का व्याकरण है। इसका प्रारम्भ मुर्दा दर्पण में नहीं अपितु समीचीन श्रद्धा व समर्पण के साथ होता है, जो सम्यक्त्व रहित हैं वे धर्म से विमुख हैं।

★ जिसके जीवन में धर्म का बीज अंकुरित हो चुका है वह कभी कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु की उपासना नहीं कर सकता।

★ धर्मात्मा के प्राणों का नाम ही धर्म है, धर्म से रहित धर्मात्मा मुर्दे के समान है, धर्मात्मा के बिना धर्म बिना बीज के वृक्ष के समान है।

★ धर्म उस पुल का नाम है जिसके ऊपर चलकर यह आत्मा परमात्मा के रूप को प्राप्त कर लेती है, धर्म के पुल का प्रारम्भ संसार व अन्त मोक्ष है।

★ धर्म प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है, स्वभाव की प्राप्ति का कारण भी उपचार से धर्म कहा जाता है। उपचार कथन को यथार्थ मानना भी भूल है।

★ साधन कभी साध्य का विरोधी नहीं होता। जो साधना या साधकों के विरोधी हैं वे जीवन में कभी साध्य को प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि बिना मार्ग के मंजिल नहीं मिलती।

★ धर्म सत्ता में नहीं, अपितु समता में होता है, जो सत्ता के इच्छुक हैं वे अभी धर्म से कोसों दूर हैं।

★ धर्म-पंथ, सम्प्रदाय, आम्नाय, संस्था या रूढ़ियों में नहीं अपितु आत्म स्वभाव को व उनके साधनों को प्राप्त करने में है। सत्ता, संस्था व पंथ धर्म से भटकाने वाले हैं।

★ धर्म भीड़ में नहीं अपने नीड़ में प्राप्त होता है। जो भीड़ में रहता हुआ भी अपने नीड़ को नहीं भूले वह धर्मात्मा है तथा जो नीड़ के द्वार पर भी भीड़ इकट्ठी कर ले वह धर्म से दूर है।

★ धर्म से आत्मघात नहीं अपितु धर्म को आत्मसात करना है। जो आत्मघात या परघात के इच्छुक हैं, उन्होने अभी धर्म को आत्मसात नहीं किया।

★ किसी के गुणों का घात करना या यश कीर्ति का घात करना भी आत्मा के समान स्वयं के गुणों का घातक है, परगुण घातकी भी महापातकी है।

★ जिसे धर्म व धर्मात्मा से वात्सल्य नहीं है अपितु जो धर्म से घृणा करता है व धर्मात्मा को देख भूखे श्वान सा गुर्राता है वह धर्म का सबसे बड़ा दुश्मन है।

★ धर्म वधिक का फरसा नहीं अपितु मानवता का मदरसा है। जिसमें मानवता/इंसानियत नहीं वह मानवाकार पशु ही है।

★ धर्म ओढ़ने से नहीं विभावों को छोड़ने से प्राप्त होता है, जो विभावों को छोड़े बिना धर्म/स्वभाव ओढ़ना चाहते हैं वो अपनी आत्मा को ठग रहे हैं।

★ धर्म खिलवाड़ की नहीं कल्याण की वस्तु है, जो धर्म के साथ खिलवाड़ करते हैं, धर्म भी उनके साथ खिलवाड़ करता है, उनका कल्याण नहीं करता। धर्म उन्हीं का कल्याण करता है जो कल्याण करना चाहते हैं।

★ धर्म और धर्मात्माओं को देखने के लिए धर्म के नेत्र चाहिए, चर्म के नेत्रों से न तो धर्म दिखता है न धर्मात्मा। चर्म के नेत्र तो मात्र चर्म को ही देख सकते हैं।

★ संसार में धर्म से बढ़कर संसारी जीव का कोई भी हितकारी मित्र नहीं और अधर्म से बढ़कर कोई शत्रु नहीं, जो धर्म को छोड़कर बाहरी व्यक्तियों को अपना हितकारी मित्र मानते हैं वे अपने साथ बहुत बड़ा धोखा दे रहे हैं, उन्हें कालान्तर में इस भूल के लिए पछताना पड़ेगा।

★ धर्म विषय भोगों के आवरण में नहीं अपितु वह तो जीवन/चेतना के जागरण से प्राप्त होता है। जो आवरण को बिना त्यागे धर्म चाहते हैं वो मूंगफली के बाह्य छिलका हटाये बिना अन्दर का लाल छिलका हटाना चाहते हैं।

★ धर्म शब्दों के कोश में नहीं, जीवन के होश मे आने का नाम है। जीवन के होश/धर्म की प्राप्ति रोष जोश कोश से नहीं अपितु आत्म संतोष से प्राप्त होती है।

★ धर्मात्मा स्वमति या स्वपक्ष का पोषक नहीं अपितु वह सन्मति/सुमति या सुपक्ष/सत्पक्ष का पोषक होता है, जो सत्पक्ष या सन्मति का विरोध करके अपने मनोभाव या विचार में दुराग्रही होता है वह सत्य धर्म से कोसों दूर है।

धर्म

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा॥ ७७६ ॥ भ० आ०

अर्थ—जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवों में व्यवहार करो, अर्थात् किसी को दुःख मत दो॥ ७७६ ॥

(69) सम्यक् चारित्र

★ सम्यक् चारित्र मंजिल को प्राप्त कराने वाले गतिशील कदम हैं, बिना सम्यक् चारित्र के मोक्ष महल की प्राप्ति असंभव है।

★ सम्यक् चारित्र एक जीवन्त दर्पण है, जिसमें झांक कर हम देख सकते हैं अपने आत्मा के चेहरे की मलीनता।

★ सम्यक् चारित्र में "सम्यक्" शब्द अंक के समान है तथा चारित्र शून्य के समान है। अंक के साथ जो शून्य होते हैं वे बहुत महत्त्वशाली होते हैं।

★ यदि दर्पण गन्दा है तो अपने चेहरे को निर्मल नहीं कर सकते। चेहरे को निर्मल/बेदाग करने के लिए दर्पण को निर्मल करना अत्यन्त आवश्यक है।

★ यदि चारित्र समल है तो आत्मा नियम से समल ही रहेगी, वह कभी निर्मल नहीं बन सकती।

★ गंदे दर्पण में आत्मा गंदी ही दिखेगी चाहे वह निर्मल हो या समल।

★ जिनके पास दर्पण नहीं है वे लोग कहते हैं कि हमारी आत्मा तो निर्मल है किन्तु जिनके पास दर्पण है उनको ही अपनी समल आत्मा का अहसास हो सकता है तथा वे ही अपनी आत्मा को निर्मल बना सकते हैं।

★ मात्र ज्ञान/जानकारी से वस्तु का अनुभव नहीं होता, अनुभव उसके उपयोग/उपभोग से ही होता है।

★ जिस प्रकार पानी का नाम लेने से प्यास नहीं बुझती उसी प्रकार बिना सम्यक् चारित्र को अंगीकार किये आत्मा का अनुभव नहीं होता।

★ पुष्प की कीमत उसकी सुगन्ध से होती है, मात्र सुन्दरता से नहीं, उसी प्रकार मानव की कीमत सच्चरित्र से होती है, मात्र ज्ञान से नहीं।

★ मिठाई का नाम लेने से या उसका समीचीन ज्ञान होने से उसका स्वाद नहीं आता उसी प्रकार सम्यक् चारित्र का या आत्मा का नाम लेने से या समीचीन ज्ञान से आत्मा का अनुभव/अनुभूति नहीं होती।

★ मिठाई का स्वाद लेने के लिए स्वयं ही मिठाई को खाना पड़ता है, किसी दूसरे के द्वारा खाये जाने पर स्वाद स्वयं को नहीं आ सकता उसी प्रकार आत्मा का अनुभव करने के लिए स्वयं ही सम्यक् चारित्र को अंगीकार करना पड़ता है, दूसरे के द्वारा सम्यक् चारित्र अंगीकार करने से स्वयं को कोई लाभ नहीं है।

शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान सः पुरुषः विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां, न नाम मात्रेण करोत्यरोगम्।।

अर्थ—मात्र शास्त्रों को पढ़कर मूर्ख होते हैं, किन्तु जो पुरुष क्रियावान होता है वही विद्वान है। रोगी व्यक्ति औषधि का विचार करने से या नाम लेने से क्या आरोग्यता का प्राप्त कर सकेगा? अर्थात् कभी नहीं। (बिना चारित्र के मात्र शब्द ज्ञान का ढेर लगाना व्यर्थ है।)

* * *

इन्द्रियविषय

बोधिलाभात्परा पुंसां भूतिः का वा जगत्त्रये।
किम्पाक फल सङ्काशैः किं परैरुदयच्छलैः॥ ६/३॥

अर्थ—तीनों लोकों में पुरुषों को सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की प्राप्ति से उत्कृष्ट और कौन-सा ऐश्वर्य है ? विषफल के समान प्राप्त काल में छलने वाले धन सम्पत्ति आदि और इन्द्रिय विषयादिक से क्या फल ?

(70) आचरण

★ जिसके चरणों के समीप जाकर बैठोगे, वैसा आचरण प्राप्त होगा, जैसा आचरण चाहते हो तदनुकु ल गुरु के पास बैठो।

★ बिना आचरण के ज्ञान निरर्थक ही नहीं अपितु कभी-कभी तो वह अनर्थ कारी भी हो सकता है।

★ आचरण लक्ष्य को प्राप्त कराने वाला गतिशील वाहन है, ज्ञान तो मार्ग की जानकारी मात्र है।

★ बहुत सी विधाएँ सीख कर भी आचरण में न ला सके वह उसी वैद्य के समान है, जो औषधि जानता तो है किन्तु अस्वस्थ होने पर भी स्वयं प्रयोग नहीं करता।

★ आचरण करने पर हमें उन बातों का भी ज्ञान हो जाता है जिन्हे जिंदगी भर पुस्तकों के पढ़ने से भी प्राप्त नहीं कर सकते।

★ आचरण की कसौटी पर कसा / परखा हुआ ज्ञान ही सत्य ज्ञान है, बिना आचरण के ज्ञान का शब्द कोश कागजी है, जो कभी जल सकता है, गल सकता है, सड़ सकता है, उड़ सकता है।

★ बिना आचरण के पुस्तकीय ज्ञान मात्र शब्दों का ढेर है, जिसे मस्तिष्क में इकट्ठा करके मस्तिष्क को शब्द कोष बना लिया है, शब्द-ज्ञान नहीं, ज्ञान का कारण है।

★ आचरण में ढाला हुआ ज्ञान ही जीवन्त ज्ञान है, वही ज्ञान चेतना का एक गुण है जो चेतना में ही धारण किया जाता है।

★ मुर्दा ज्ञान में कभी चेतना की अनुभूति नहीं होती, जिज्ञासा की अनुभूति तो आचरण के धरातल पर ही संभव है।

★ अपने आचरण में सुदृढ़ रहो "कोई क्या कहेगा इसकी परवाह मत करो" कोई कुछ भी कहे फिर भी अपने आचरण में शिथिल मत हो। निर्मल आचरण के सामने मनुष्य तो क्या देवता भी झुक जाते हैं।

★ मिट्टी की ऊबड़-खाबड़ दीवाल पर ही गंदगी चिपकती है, संगमरमर टाइल्स, या पालिस की हुई दीवाल पर नहीं।

★ बिना आचरण के ज्ञान की शुद्धि नहीं होती है, आचरण हीन ज्ञान गंदे और अनछने पानी की तरह रोगोत्पादक होता है।

★ यदि तुम किसी को उसकी गलती का अहसास कराना चाहते हो तो स्वयं उस क्रिया को निर्दोष रीति से उसके सामने करो, कहने की अपेक्षा करना श्रेष्ठ होता है।

★ जो व्यक्ति कर नहीं सकता वही कहता है, करने वाले कहते बहुत कम हैं, करते बहुत ज्यादा है। करने वाला यथार्थ है, न करने वालों की अपेक्षा से।

★ न करने वाले हजार व्यक्तियों की अपेक्षा एक करने वाला बहुत श्रेष्ठ है, करने वाला ही प्राज्ञ पुरुष है, धर्मात्मा है, महात्मा है, वही धन्य पुरुष है।

★ करोड़ो गधों की अपेक्षा पवनञ्जय नामक एक अश्वरत्न अच्छा है और अनेक भेड़ियों से एक अष्टापद अच्छा है, इसी प्रकार आचरणहीन व्यक्ति से आचरणवान बहुत अच्छा है।

★ अनुभव ज्ञान के सामने पुस्तकीय ज्ञान एक अंग के बराबर है, अनुभव ज्ञान बिना आचरण के प्राप्त नहीं होता। जो ज्ञान करोड़ों शास्त्रों के पढ़ने पर नहीं मिलता वह आचरण से मिल जाता है।

★ पुस्तक / शास्त्र पढ़कर आदर्श, सिद्धांत, नीति, विवेक, नियम, संयम आदि की ऊँची-ऊँची बातें तो की जा सकती हैं। किन्तु उन्हें बिना आचरण के प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

★ जैसे उल्लू को करोड़ों सूर्यों से, ग्वाले को दूसरे की गायें चराने से, धोबी को दूसरे के कपड़े धोने से, या किसान को बिना बीज बोये खेत जोतने से कोई लाभ नहीं होता उसी प्रकार आचरणहीन ज्ञान व्यर्थ है।

★ जब हम शास्त्र पढ़ते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि हम सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व देश रक्षा व धर्म के लिए शहीद हो सकते हैं किन्तु जब हम उस स्थिति पर आते हैं तो उनके लिए प्राण तो क्या कुछ भी त्याग नहीं कर पाते, उल्टे, निंदा, उपहास, या अवहेलना ही करते हैं।

(71) सुकवि

★ कवि वह जागरूक, सम सामाजिक विद्वान व्यक्ति है जो स्व बुद्धि विवेक से शब्दों को कविता रूपी हार में ऐसे पिरोता है, जिसे सुन कर समाज एक नई दिशा प्राप्त कर सके।

★ कवि एक वह बुल-बुल है, जहाँ जाता है एकांत में शब्दों का संकलन कर बनाई हुई कविताओं की मधुर ध्वनि से वातावरण को आनन्द मय बना देता है।

★ अच्छा कवि बनने के लिए आवश्यक है प्रसन्नता, सहनशीलता, वाणी मे मधुरता, लोक व्यवहारिकता, विनोदी स्वभाव एवं शास्त्रों का ज्ञान।

★ कवि एक ऐसा सशक्त प्राणी है जो अपनी कविता के माध्यम से नपुंसकों में वीरता, विषयासक्तों में विरक्ति, निर्दयी प्राणियों में वात्सल्य, अनासक्तों मे प्रेम, भौतिक वादियों में आध्यात्मिकता, उदासीन व्यक्तियों में हास्य का भाव भी जाग्रत कर देता है।

★ जिस कवि को अपनी कविता से असीमानंदानुभूति न हो तब तक वह कवि बनने लायक नहीं है और न उसे कवि बनना ही चाहिए।

★ जो अपनी कविता मे सत्य, संयम, शांति, साहस, सेवा भाव की प्रेरणा देने वाला सौंदर्य बिखेर दे वही वास्तव में कवि है अन्यथा अनावश्यक चिल्लाने वाले तो हर गली में मिल जायेंगे।

★ एक अच्छे कवि को सदाचारी, निष्प्रमादी, खुश मिजाज एवं श्रोता की रुचि को समझने की शक्ति युक्त होना चाहिए, जो कवि सभा की रुचि नहीं समझ पाता या सभा को आकर्षित नहीं कर सकता वह सफल कवि नहीं हो सकता।

★ आदर्श कवि वह होता है जो अपनी कविता में अहिंसा, सम्यक्त्व, सत्य, सदाचार, संयम, कर्त्तव्य, निष्ठा, अपरिग्रह, धर्म, दया, मैत्री, बोधि, प्रमोद, वात्सल्य, क्षमा, परोपकार, सरलता, भाईचारा आदि गुणों की ओर

प्रेरित करे भले ही उसे सुनने को कम व्यक्ति इच्छुक हैं।

★ एकांत में कवि के हृदय से निसृत प्रेम के साथ लिखे हुए शब्द (जिसे कविता कहते हैं) कवि की लेखनी रूपी हार में पिरोये जाकर जब किसी मंच पर प्रस्तुत किये जाते हैं तो सारा जन समुदाय आकर्षित हो जाता है।

★ कवि अपनी कविता में उत्कृष्ट शब्द, भाव, शैली, अलंकार आदि का प्रयोग करता है किन्तु जीवन रूपी कविता में तो उसे परमोत्कृष्ट सदाचार, सत्य, अहिंसा एवं संयम का प्रयोग आवश्यक है।

★ कवि का उत्साह तभी बढ़ता है जब उसे प्रोत्साहन दिया जाता है यद्यपि उसे भी अपनी कविता सुनाये बिना चैन नहीं पड़ता, फिर वह उन श्रोताओं को अपनी कविता न सुनाए जो यह भी न कह सके कि "बहुत अच्छा"(श्रोता भी अच्छी कविता हो तभी अच्छा कहे केवल चापलूसी में नहीं)

★ कवि एक वह माध्यम है जो अपनी कविता के माध्यम से श्रोतागणों के मन को उस घटना स्थल तक ले जाता है जहाँ ले जाना चाहता है।

★ उनको कभी आदर्श कवि नहीं कह सकते जो धूम्रपान, शराब आदि का नशा करके फूहड़ गीत, व्यंग्य, अश्लील गाने या वासना युक्त गजलें सामूहिक धार्मिक सभा मंच पर सुनाते हैं। वे तो कवि के नाम पर कलंक का टीका लगाने वाले कुकवि ही हैं।

स्वदेशे पूज्यते राजा, स्वग्रामे पूज्यते प्रभुः।
स्वगृहे पूज्यते मूर्खो, ज्ञानी सर्वत्र पूज्यते॥ नी.श.

अर्थ—राजा अपने देश में, मुखिया अपने ग्राम में, मूर्ख अपने घर में पूज्यता को प्राप्त होता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष सर्वत्र ही पूज्य होता है।

(72) युद्धों का टालना

★ संकट के समय धैर्य रखना आधी लड़ाई जीतने के समान है, युद्ध को टालकर शत्रु से विश्वास / दृढ़ मित्रता कर लेना राजाओं की श्रेष्ठतम नीति है।

★ युद्ध करने की अपेक्षा उसे टालना श्रेष्ठ है किन्तु जहाँ तपस्वी, धर्मात्मा व संयमी जनों की साधना व शीलवती नारियों के शील को नष्ट किया जा रहा है तो युद्ध करना ही हित कर है, भले ही शत्रु सबल क्यों न हो।

★ कभी-कभी अहिंसा की रक्षा के लिए भी, न चाहते हुए भी हिंसा हो जाती है तथापि अहिंसा ही सर्वोपरि धर्म है।

★ युद्ध का प्रारम्भ सहन शीलता के अभाव में होता है तथा अंत में पश्चात्ताप के साथ ही यह भाव आता है "इसे टाला जा सकता था"।

★ प्राय: युद्ध करने के बाद उसकी समीक्षा करते समय यही निष्कर्ष सामने आता है कि युद्ध में जो हानि है उसके सामने उपलब्धि कुछ भी नहीं है।

★ युद्ध का सहारा वे ही प्राणी लेते हैं जिनके पास साम, दाम एवं भेद की नीति बौनी पड़ जाती है।

★ यदि युद्ध के बाद तुम्हें स्वर्ग का राज्य भी मिले तो भी किसी अपेक्षा से युद्ध टालना ही प्रशंसनीय है।

★ वही मार्ग सर्वश्रेष्ठ होता है जिसमें आत्महित के साथ-साथ दूसरों के सुख शांति अमन चैन का भी ख्याल रहे।

★ जिस देश में निरंतर गृह युद्ध या पड़ौसी देशों से युद्ध होते रहते हैं उसे मेरी दृष्टि में समृद्ध नहीं कह सकते।

★ जिस देश की प्रजा सदैव कर्तव्य पालन, धर्माराधना व संयम साधना में संलग्न हो प्रभु अर्चना को सर्वाधिक महत्व देती है, वहाँ युद्धों की कल्पना नहीं की जा सकती।

★ जहाँ के व्यक्ति आत्म संतुष्टि के साथ सम्मान से जीते हैं तथा जिनकी सदैव परोपकार की भावना व साधना चलती रहती है उस देश में कभी युद्ध नहीं होंगे।

★ युद्ध का नाम ही अपने आप में अशोभनीय है जिसे सुनकर प्रथम बार तो आत्मा कांप ही जाती है फिर वह युद्ध प्रिय कैसे हो सकता है ?

★ कोई भी धर्म कभी युद्ध नहीं चाहता, युद्ध तो मानव अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करता है, जब उसे स्वार्थ पूर्ति, भोग लिप्सा के लिए कोई बहाना नहीं मिलता तो वह धर्म की आड़ ले लेता है।

★ कभी भी युद्ध करके धर्म की रक्षा नहीं हो सकती, युद्ध तो तभी शुरू होता है जब धर्म भावना मरणासन्न हो जाती है।

★ युद्ध करके प्रचुर नरसंहार करना, जीवन को रक्त रंजित कर खून की नदी बहा कर आनंदित होना एवं अपनी रक्षा करते हुए किसी की मृत्यु हो जाना, इन दोनों बातों में महान अंतर है।

★ मानव के अंदर से जब-जब देवत्व कूच कर जाता है, दानवत्व भर जाता है, तब-तब यह मानव नर संहार करने को उतारु हो जाता है।

★ यदि युद्ध करना अच्छा है तो देवों में, संतों में व भगवंतों में होना चाहिए, नारकी जीवों या राक्षसों में नहीं।

★ जब हम अपनी सम्पत्ति नष्ट होने पर या आत्मीयजनों की मृत्यु पर दु:खित होते हैं तो क्या जिसको तुमने मारा है, उनके आत्मीयजन उसके बिना दु:खी नहीं होंगे ?

★ ग्रीष्म काल की धूप में व्यक्ति वृक्ष की छाया में ही बैठना चाहता है। जब किसी भी प्रकार की छाया नहीं मिलती तब उसे धूप में बैठना पड़ता है उसी प्रकार आर्य पुरुष शांति से ही अपना काम निकालते हैं, जब किसी भी प्रकार शांति से काम नहीं बनता तब युद्ध करके आत्म गौरव / स्वाभिमान की रक्षा करनी पड़ती है।

(73) आस्तिक्य

★ अस्ति का अर्थ होता है "है"—अस्ति पने को उद्घोषित करने वाला है अस्तित्व।

★ अस्ति का धारण करने वाला है आस्तिक तथा आस्तिकता या अस्तित्व जिसमें पाया जाये वह है अस्तित्व वाला या आस्तिक।

★ अपने अस्तित्व को स्वीकार करने वाला ही आस्तिक है और उसी के जीवन में स्वास्तिक कार्यकारी है।

★ स्व-पर के अस्तित्व पर ज्यों का त्यों श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का आस्तिक्य लक्षण है।

★ यह प्राणी अभी तक अनंतानंत परमात्माओं पर तो विश्वास करता आया है, करता है किन्तु अपनी आत्मा के वास्तविक अस्तित्व को आज तक स्वीकार नहीं कर सका।

★ परमात्मा को सृष्टि का कर्ता मानने वाला आस्तिक नहीं अपितु अपनी आत्मा को अपना कर्ता भोक्ता मानने वाला आस्तिक है।

★ "आस्तिक व्यक्ति अपनी आत्मा (प्रत्येक आत्मा) में परमात्मा बनने की शक्ति है" इस बात को स्वीकार करता है तथा उस शक्ति को प्रकट करके कभी परमात्मा बन भी जाता है।

★ नास्तिक व्यक्ति भी अपने आप में आस्तिक है, अपने आप में या अपने सिद्धान्त में आस्तिक हुए बिना नास्तिक भी नहीं बन सकता।

★ पूरे विश्व में "नास्ति" नाम की वस्तु या द्रव्य नहीं है अतः उस नास्ति का कर्ता नास्तिक्य भी कोई नहीं है।

★ जो व्यक्ति जैसा सोचता है वह कालान्तर में वैसा ही हो जाता है, यदि आस्तिकवादी अपने आपको परमात्मा का बीज मानता है या परमात्मा का भूत मानता है और परमात्मा को अपना भविष्य मानता है तो वह नियम से एक दिन उस परमात्मा के पद को भी प्राप्त हो जाता है।

★ संसार के पदार्थ व्यवहारापेक्षा एक-दूसरे के आश्रित हैं अर्थात् एक पदार्थ का अस्तित्व दूसरे पर टिका हुआ है किन्तु निश्चय से कोई द्रव्य किसी के आश्रित नहीं है स्वाश्रित हैं।

★ जब तुम हो, तो तुम अपने अस्तित्व को स्वीकार क्यों नहीं करते? यदि आप अपने अस्तित्त्व को स्वीकार करते ही हो तो फिर तुम नास्तिक नहीं हो सकते।

★ आस्तिकता व नास्तिकता के पक्ष या विपक्ष में युक्ति व तर्क देना एक अलग बात है तथा आस्तिकता व नास्तिकता की उससे पृथक ही वस्तु स्थिति है।

★ कौन आस्तिक है? कौन नास्तिक है? इनकी चिन्ता या खोज क्यों करते हो? इन सबकी समीक्षा करने से पूर्व आवश्यक यह है कि पहले तुम अपने आप को जानो कि तुम आस्तिक हो या नास्तिक।

★ हे भव्य जीव ! तू पुद्गल पिण्ड के साथ सहवास करके अपने स्वरूप को भूलकर अपने आपको पुद्गल क्यों मान रहा है? तू शाश्वत ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मा है इसको ही जान, पहचान, श्रद्धान कर तभी तेरा कल्याण संभव है।

★ आज जैन दर्शन को खतरा नास्तिकों से नहीं अपितु झूठे आस्तिकों से है क्योंकि उन्होंने आस्तिकता का लिबास पहन लिया है वास्तव में वे अस्तिक नहीं हैं।

★ नास्तिक रूपी बाहरी शत्रुओं से बचाव करना आसान है। किन्तु जो अंदर में सुरक्षा कर्मी के रूप में बैठकर अदृश्य रूप में घात कर रहा हो तो उससे बचने का तो कोई उपाय अब हो ही नहीं सकता।

★ प्रशम संवेग अनुकम्पा अस्तिक्य ये व्यवहार सम्यग्दृष्टि के बाह्य लक्षण हैं, इसके बिना व्यवहार सम्यक्त्व नहीं होता तथा निश्चय के लिए व्यवहार सम्यक्त्व कारण है अतः कारण के अभाव में कार्य रूपी निश्चय सम्यक्त्व तो असंभव ही है।

(74) प्रशम भाव

★ शम शब्द का अर्थ है शमन करना या दबाना अतः प्रशम शब्द का अर्थ हुआ उत्कृष्ट / प्रकृष्ट रूप से दबाना।

★ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मिथ्यात्वादि को दबाने से ही प्रशम भावों का जन्म होता है।

★ प्रशम भाव सम्यक्त्व के संरक्षक सद्बोध में संवर्धक एवं संयम के उत्पादक होते हैं।

★ प्रशम भाव में आत्म शांति की अनुभूति होती है कषायोद्रेक तो संक्लेशता अशांति, कलह व दु:खों का ही उत्पादक होता है।

★ प्रशम परिणामों से युक्त योगी सदैव अपने निर्ग्रंथमय शरीर से बिना बोले ही आत्म कल्याण का उपेदश देते हैं जिसे प्रशम भाव वाले सद्गृहस्थ ही सुन व समझ पाते हैं।

★ जिसके पास प्रशम भाव है, उसे आत्म शांति को प्राप्त करने के अन्य उपायों से क्या प्रयोजन ? और जब प्रशम भाव ही नहीं है, तब भी सब उपाय निष्प्रयोजनीय हैं।

★ प्रशम भाव निश्चल जल के समान आत्मा की परम शांत दशा है जिस प्रकार निश्चल जल में अपना चेहरा देख सकते हैं। उसी प्रकार प्रशम भाव के होने पर ही आत्मानुभूति हो सकती है।

★ प्रशम भाव से युक्त मानव ही अहिंसा धर्म का परिपालन कर सकते हैं, वे ही सत्यवादी व निष्पृही हो सकते हैं।

★ जिस देश की प्रजा प्रशम भाव युक्त हो एवं राजा प्रजा वत्सल तथा न्याय प्रिय हो तो वहाँ युद्ध की संभावनाऐं कम रहती हैं यदि कदाचित् वहाँ युद्ध होता भी है तो धर्म की रक्षा व प्राणी मात्र के हित के लिए है।

★ प्रशम भाव बैर भाव की गांठ बंधने ही नहीं देता तथा मित्रता में भी वृद्धि करने वाला है प्रशम भाव वाला व्यक्ति लोक प्रिय व प्रशंसनीय होता है।

★ जिसने आत्मीय गुणों का रसास्वादन कर लिया है एवं कषायों के कटु फल को भी भोग लिया है वह प्रशम भावों के बिना नहीं रह सकता।

★ प्रशम भाव धर्मात्मा का लक्षण व मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है।

★ प्रशम भाव रूपी झोली में आत्मा के सर्व गुणों का निवास है। यह एक ऐसी उपजाऊ भूमि या खाद है जिसके माध्यम से चैतन्य गुणों को संरक्षित किया जा सकता है।

★ यदि तुम्हारा धन नष्ट हो गया है, तो चिन्ता मत करो, फिर कमा सकते हो, स्वास्थ्य बिगड़ जाये तो भी विशेष घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है किन्तु अपने प्रशम भावों / विशुद्ध भावों को कभी नष्ट नहीं होने देना चाहिए।

★ कषायों का उद्रेक हमारा स्वभाव नहीं है किन्तु प्रशम भाव स्वभाव को प्रकट करने का सहकारी कारण है।

★ प्रशम भाव वाला व्यक्ति ख्याति, पूजा, लाभ, पद प्रतिष्ठा, आदि में भी अलिप्त रहता है वह अपने आप से, आत्मीय गुणों से इतना संतुष्ट होता है कि उसे बाहर की किसी वस्तु की चाह नहीं होती।

★ प्रशम भाव वाले महानुभाव के लिए अपने प्रशम भाव का प्रचार-प्रसार या विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं वह पुष्प की खुशबू की तरह सर्वविदित हो जाता है।

★ प्रशम भाव वाला व्यक्ति अपने प्रशम भाव का न तो दंभ ही करता है और न ही किसी पर एहसान। उसकी चेष्टा परान्पेक्षी नहीं अपितु स्वान्मुखी होती है।

सत्येन शुद्धयते वाणी, मनो ज्ञानेन शुद्धयति।
गुरु शुश्रुषया कायः, शुद्धिरेष सनातनः ।।सा. स.

अर्थ—सत्य वचन से वाणी शुद्ध होती है, ज्ञान से मन की शुद्धि होती है, गुरु की सेवा-शुश्रुषा से शरीर की शुद्धि होती है, यह शुद्धि की सनातन विधि है।

(75) प्रमोद भावना

★ प्रमोद का अर्थ है प्रकृष्ट मोद ! मोद का अर्थ है आनन्द, प्रमोद का अर्थ है, प्रकृष्ट आनन्द / प्रसन्नता, हर्ष, आल्हाद।

★ जैसे लड्डू आनन्द देने वाला होता है, उसी प्रकार प्रमोद भाव को आनन्द का हेतु समझो।

★ प्रमोद भावना का आशय है। आनन्द के क्षणों की पुनरावृत्ति करण या बार-बार चिन्तन करना। जिससे आत्मा आनन्द से भर उठे।

★ प्रमोद भाव की जागृति गुणी जनों के सानिध्य में होती है, गुणों को पाकर, गुणज्ञ-पुरुषों को पाकर एवं गुणधरों को पाकर गुणार्थी का हृदय कमल खिल उठता है।

★ सम्यक् दृष्टि प्राणीमात्र में मैत्री, दुखित जनों में करुणा, विपरीत आचरण व स्वभाव वालों के प्रति माध्यस्थ एवं गुणी पुरुष व गुणों में प्रमोद भाव को धारण करने वाला होता है।

★ प्रमाद और प्रमोद शब्दों को देखने पर मात्र एक मात्रा का अंतर दिखायी देता है, किन्तु दोनों के अर्थ में महान अन्तर है एक भव कारण है तो दूसरा शिव का साधन है।

★ जिसका मन कषायों से या इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होने से मुदित होता है वह दीर्घ संसारी है तथा जिसका हृदय धर्म, व धर्मात्माओं को देखकर मुदित हो वह अल्प संसारी (निकट भव्य) है।

★ जो तुमसे समीचीन श्रद्धा, ज्ञान, संयम, समता, विनय, संतोष, ध्यान, क्षमा, त्याग, तपस्या, आदि में आगे हैं, उनकी विनय करने में मत चूको।

★ अपने से अधिक गुणवान पुरुषों को देखकर प्रमुदित होने से पाप का संवर एवं सातिशय पुण्य का आस्रव होता है। तथा परिणामों में निर्मलता की वृद्धि होती है।

★ किसी का साधर्मी, गुणवान व पूज्य महापुरुषों को देखकर मुदित /प्रसन्न होना उन महापुरुषों के प्रति अहसान करना नहीं है अपितु यह गुणों को प्राप्त करने की एक कला है।

★ जो पुरुष धर्माचरण, संयम व ज्ञानादि गुणों के धारक पुरुषों को देखकर प्रमुदित नहीं होता, उसकी शारीरिक व वाचनिक विनय भी अधूरी है।

★ "गुणी जनों को देखकर प्रमोद भाव का जन्म" कषाय की मंदता, मिथ्यात्व की उपशमता, परिणामों की सरलता, सहजता व सम्यक्त्व की उद्‌गमता से ही होता है।

★ गुणवानों, धर्माचार्यों, संयमी महापुरुषों, आगम वेत्ताओं व निस्वार्थ समाज सेवकों को देखकर प्रसन्न न होने का आशय है उनका अपमान करना।

★ जिस प्रकार बछड़ा अपनी माँ गाय को, दरिद्री धन को, क्षुधातुर भोजन को, पिपासु पानक द्रव्यों को, अंधा आँखों को, कमल सूर्य को, कुमुदिनी चन्द्रमा को, विरहिणी अपने पति को, मयूर मेघों को पाकर प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व धर्मात्माओं को देखकर प्रसन्नचित्त हो जाते हैं।

★ जिस प्रकार माँ को पुत्र की मृत्यु पर, पिता को कुल कलंकित करने वाले पुत्र से, व्यवसायी को व्यापार की धन हानि से, किसान को समय चूकने पर, प्रेयसी को प्रिय विरह पर, भक्त को इष्ट वियोग या आराधना न करने पर, मयूर को मेघ निकलने पर, चकवी को संध्या काल में, जो दुःख होता है, वही दुःख संवेगी या वैरागी श्रावक को गुरु के वियोग होने पर या उनकी यथायोग्य विनय न कर पाने पर होता है।

★ मैं उस काम में व्यस्त था आपको देखकर भी या आपके मिलने पर भी, केवल प्रसन्न / हर्षित / मुदित भी नहीं हो सका ऐसी बहाने बाजी सम्यग्दृष्टि नहीं करता। जो इस प्रकार धार्मिक कर्तव्यों की चोरी करता है उसका सम्यक्त्व ही शंकास्पद है।

★ आज तुम्हें देखकर मैं प्रमुदित हुआ जिससे कल मुझे देखकर तुम भी प्रमुदित / आनंदित हो सको, ऐसी भावना से प्रमुदित / हर्षित होना प्रमोद भाव नहीं है।

★ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण सम्बन्धी सत्ताईस विषयों में हिंसानन्दी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहसंरक्षणानंदी इन चार रौद्र ध्यानों में, स्त्री कथा, भोजन कथा, चोर कथा व राज्य कथा इन चार विकथाओं में तथा क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायों व नोकषायों में प्रमुदित या आनंदित होना मिथ्यादृष्टि की पहचान है सम्यग्दृष्टि तो आत्मीय गुणों को पाकर ही संतुष्ट/हर्षित/आनन्दित व प्रमुदित होता है।

जिनेन्द्र पूजा गुरुपर्यूपास्ति, सत्वानुकम्पा शुभपात्र दानम्।
गुणानुरागः श्रुति रागमस्य, नृ जन्म वृक्षस्य फलान्यामूनि॥

अर्थ—जिनेन्द्र पूजा, गुरु उपासना, जीव दया, सुपात्र दान, गुणों के प्रति अनुराग और शास्त्र श्रवण ये मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के षट्फल हैं।

* * *

त्वन्नुतेः पूत वागस्यि त्वत् स्मृतेः पूत मानसः।
त्वन्नतेः पूत देहोऽस्यि धन्योऽस्म्यद्य त्वद्वीक्षणात्॥

भावार्थ— जिनेन्द्र देव की स्तुति से वचन, स्मरण से मन और नमस्कार करने से यह शरीर पवित्र होता है। प्रभु दर्शन सम्पूर्ण जीवन को धन्यतम बना देता है। समुद्र की लहरें, मेघ की जलधाराएँ, नभांगण के तारे जैसे गिने नहीं जा सकते वैसे ही वीतराग प्रभू के मुखावलोकन से संचित पुण्य संसारी जीव की बुद्धि द्वारा नहीं गिना जा सकता।

* * *

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ
सदाममात्मा विदधातु देव॥

अर्थ—हे देव ! सम्पूर्ण प्राणियों में मेरा मैत्री भाव हो, गुणीजनों में प्रमोद भाव हो, दुःखी प्राणियों में कारुण्य भाव हो तथा विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मेरी आत्मा सदैव माध्यस्थ भाव को धारण करे।

(76) कारुण्य भावना

★ सम्यक् दृष्टि जीव का हृदय दया, करुणा, प्रेम, वात्सल्य, अहिंसा व सरलता से लबालब भरा होता है। वह किसी दुखी संतप्त मानव या प्राणी मात्र को देखकर उसी प्रकार पिघल जाता है, जिस प्रकार सूर्य को देखकर नवनीत / घी।

★ जिसके नेत्रों में करुणा का जल नहीं है; ऐसा व्यक्ति नेत्रधारी होते हुए भी अंधों से बदतर है।

★ करुणा धर्मात्मा पुरुषों की चेष्टा है। यह चेष्टा अधर्मी व पापियों में क्यो दृष्टिगोचर होगी ?

★ कारुण्य भाव की सरिता उसी आत्मगिरि से प्रवाहित हो सकती है, जो आत्मा सम्यक्त्व रूपी जल स्रोतों से युक्त है।

★ बिना कारुण्य भाव के करुणा, दया, अहिंसा, रहम, परोपकार, प्रेम, मैत्री, वात्सल्य ये शब्द वार्तालाप के विषय होते हैं। ये वचन की शोभा बढ़ाने वाले शब्द मात्र हैं; चेतना मे क्रियान्वित नहीं हो सकते।

★ कारुण्य भाव रूपी सूर्योदय के बिना दया, करुणा, परोपकार रूपी प्रकाश असंभव है।

★ जो कारुण्य भाव से रहित होता हुआ भी स्वयं को सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कहता है, वह मिथ्यादृष्टियों में शिरोमणि है।

★ जिस हृदय रूपी सरोवर में करुणा रूपी निर्मल जल भरा है, वहाँ विषय-वासना रूपी कीचड़ एवं पाप प्रवृत्ति रूप बदबू नहीं होती।

★ करुणा रूपी निर्मल जल से परिपूर्ण मानसरोवर में ही मन रूपी हंस विचरण करता है, गुण रूपी सरोज विकसित होते हैं एवं आनन्द रूपी सुरभि / सुगंध वहाँ बहती है।

★ जो मनुष्य करुणा भाव से रहित हैं, उन्हे भी मनुष्य कहना मनुष्य जाति का अपमान करना है, क्योंकि कारुण्य रहित तो नारकी होते हैं।

★ निर्दयी पुरुषों को कितना भी उपदेश दो, सब व्यर्थ है। तब तक कि उनके मन मे दया उद्गमित न हो जाए।

★ जिस धर्मात्मा के हृदय में प्राणी मात्र के प्रति करुणा नहीं है तो उसे धर्मात्मा कहना अनुपयुक्त है; क्योंकि करुणा से रहित कोई धर्मात्मा नहीं होता, जैसे—ज्ञान-दर्शन से रहित चेतना नहीं होती।

★ यदि सम्पूर्ण विश्व में सार्वभौमिक, सर्वजनीन, सार्वकालिक पूज्य, प्राणी मात्र का कल्याण करने वाली देवी है, तो वह है करुणा। उसके बिना अन्य देवी देवताओं की पूजा एक ढोंग या प्रदर्शन है।

★ निर्दयी व्यक्तियों की उपासना से संसार का कोई भी देवता संतुष्ट नहीं होता, यदि कोई सतुष्ट होता भी है, तो वह है नारकी और उसका भावी साथी (नारकी)।

★ कारुण्य भाव के बिना न तो आत्म-विशुद्धि संभव है और न ही आत्म शांति। कल्याण का मार्ग तो उससे विपरीत ही है।

★ कारुण्य भाव से रहित सम्यक् दृष्टि व्यक्ति न तो सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और न ही सम्यक् दृष्टि करुणा से रहित हो सकता है।

★ जिस के हृदय में करुणा का लेश नहीं है, उसका कोई भी व्यक्ति, परिवार के सदस्य भी विश्वास नहीं करते। करुणा रहित व्यक्ति की भूल कर भी संगति नहीं करनी चाहिए।

★ गुणो के सागर में गुण रूपी जल की वृद्धि, बिना चन्द्रमा रूपी सम्यक्त्व के असंभव है तथा सम्यक्त्व रूपी चन्द्रमा शुक्ल पक्ष रूपी करुणा के होने पर ही वर्धमान अवस्था में उदित होता है।

(77) माध्यस्थ भावना

★ सम्यक् दृष्टि की चार भावनाओं मे माध्यस्थ भावना चौथी भावना है। इसका अर्थ द्वेष भाव नहीं; अपितु तटस्थ हो जाना है।

★ धर्म से विपरीत चलने वालो को पहले कारुण्य बुद्धि से समझाने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए, यदि वह न समझे तो अपनी सुरक्षा करते हुए तटस्थ हो जाना चाहिए।

★ यदि कोई व्यक्ति समीचीन धर्म से या सत्य मार्ग से भटक गया हो और दूसरो को भी भ्रमित करने में संलग्न हो, तो ऐसे व्यक्ति को समीचीन मार्ग अवश्य ही दिखाना चाहिए। यदि वह समीचीन मार्ग स्वीकार न कर मिथ्यामार्ग को ही समीचीन मान बैठा है और तुम्हें भी उसी मार्ग के लिए प्रेरित करे तो ऐसे व्यक्ति से माध्यस्थ भाव रख लेना चाहिए।

★ राग-द्वेष का मध्य केन्द्र ही माध्यस्थ भाव कहलाता है अर्थात् राग-द्वेष के स्तंभों से मुक्त हो मध्य में स्थिर हो जाना ही माध्यस्थ भाव है।

★ समीचीन धर्म के विरोधी, निंदक, संहारक, विध्वंसक, असत्य-पोषक, मिथ्याभाषी, विषयाभिलाषी एवं आत्महित भावना से रहित / शून्य जो व्यक्ति हैं, उनकी संगति न करना, उनकी मिथ्या मान्यताओं का पोषण न करना, अपने आत्महित में संलग्न हो जाना साधर्मी का माध्यस्थ भाव है।

★ माध्यस्थ भाव संक्लेशता, बैर, क्रोध, कषायावेश, ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष, अरति-रति का परिहारक होता है। माध्यस्थ भावना भाने से स्व-पर हित भी संभव है।

★ माध्यस्थ भाव से अपने चित्त में उत्पन्न होने वाली संक्लेशता एवं राग-द्वेषभावादि अशुद्धि का नाश होने से स्वोपकार हो जाता है एवं माध्यस्थता से दूसरा भी व्यक्ति अपनी गलती सुधार कर सन्मार्ग में चल सकता है, यह परोपकार हो गया।

★ माध्यस्थ भाव का अर्थ चेतना की परिणति मध्यम बनाये रखने से है, न राग की ओर झुकना, न द्वेष की ओर मुड़ना।

★ माध्यस्थ भाव का आशय है—साक्षी भाव। सामने वाला अच्छा करे या बुरा, दोनों परिस्थितियो में सम परिणामों का रहना।

★ कीचड में पत्थर फेकने पर उसके छींटे स्वयं पर ही उचट कर आयेंगे अतः कीचड़ से (विपरीत वृत्ति व दुष्टाशय वाले व्यक्तियों से) बचकर चलना ही श्रेयस्कर है।

★ जैसे सूर्य चन्द्रमादि ज्योतिष देवविमानों का प्रकाश चोरी करने वाले व पूजा करने वाले दोनों के घरों में समान रूप से पहुँचता है, किसी को वे हस्तक्षेप नहीं करते। वैसे ही अन्य पुरुषों को हस्तक्षेप न कर अपनी प्रवृत्ति को माध्यस्थ बना लेना ही धर्मात्मा के लिए श्रेयस्कर है।

★ माध्यस्थ भावना युक्त व्यक्ति के प्रति बैर भाव रखने वाला व्यक्ति तीव्र कषायी ही समझना चाहिए। माध्यस्थ भावना वाले व्यक्ति के साथ भी बैर बांधे रखना अपना ही घात करना है।

★ विपरीत वृत्ति वालों से कोई भी अपेक्षा मत रखो, न जाने कब उनकी भावनाओं मे कषायावेश आ जाए। उनकी दुष्वृत्ति से तुम्हारी धर्ममय भावना ही आहत होगी।

★ जिन्हें सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति आस्था नही है, ऐसे विपरीत वृत्तिवान व्यक्तियों का कभी विश्वास मत करो।

★ जो धर्म, धर्मात्मा या धर्मायतन को धोखा देता है या प्रवंचना के भाव रखता है, वह अपनी आत्मा को ठगने वाला है (मिथ्यादृष्टि है) ऐसे व्यक्तियों से उदासीन / माध्यस्थ भाव रखने में ही श्रेष्ठता है।

★ माध्यस्थ भाव सम्यक् दृष्टि जीवों का एक ऐसा गुण है, जिससे बैर भाव, कषाय की गांठ व शल्य नहीं पनपती तथा भविष्य में मित्रता के द्वार भी खुले रहते हैं।

★ माध्यस्थ भाव रूपी कवच धारण करने से विपरीत वृत्तिवान रूपी विषधरों के विष का असर नहीं होता।

★ राग-द्वेष के प्रति झुकाव से रहित माध्यस्थ भाव, जो कि परिणामों का संतुलन बनाये रखता है, वही आत्म-शांति व मोक्ष का हेतु है।

(78) सद्‌गृहस्थ

★ स्त्री आदि परिग्रह से युक्त गृह में निवास करने वाले गृहस्थ कहलाते हैं, किन्तु सद्‌गृहस्थ वे हैं जो सत्कार्य में संलग्न हों।

★ सद्‌गृहस्थपना, श्रावक व श्रमण दोनों धर्मों की रक्षा करने वाली आधारशिला है, जिस पर श्रमण व श्रावक रूपी धर्मों के भार को धारण करने वाले स्तम्भ टिके हैं।

★ जिस गृह में परमात्मा की प्रतिमा, जिनेन्द्र भगवान की वाणी एवं सद्‌गुरुओं के प्रवचनामृतो की चर्चा व श्रावक धर्म की चर्या नहीं होती, परमेष्ठियो के चित्र व चरित्रों को स्थान नहीं दिया जाता वह घर पक्षियों के घोसले से भी बदतर है तथा उसमें रहने वाला मानव पशु तुल्य है।

★ जिस घर में दिगम्बर संतों के चरण न पड़े हों, वह घर श्मशान के समान है तथा उसके निवासी भूत, प्रेत, पिशाचों या मुर्दों के समान हैं।

★ जो गृहस्थ स्वयं भोजन करने से पूर्व किसी भूखे व्यक्ति को, या सत्पात्रों को, धर्मात्माजनों को या साधु श्रमणों को आहार नहीं कराता, उस गृहस्थ के लिए धिक्कार है।

★ जिनेन्द्रदेव की पूजन, अतिथिजनों को आहारादि दान, सत्शास्त्रों का स्वाध्याय, (चिंतन, मनन, पठन, पाठन, श्रमण प्रवचनादि) व्रत-नियम संयम के पालन आदि सत् क्रियाएं होती जहाँ हैं, उस घर की रक्षा करने के लिए व उसके निवासियों की पूजा करने के लिए देव भी तरसते हैं।

★ पूर्वजों की सुकीर्ति की रक्षा, न्यायपूर्वक धनार्जन, कुल मर्यादा का परिपालन, बन्धु जनों में प्रेम, देवार्चन, अतिथि सत्कार, अंत समय में सन्यास धारण करके मुनि सानिध्य में देह त्याग करना ये सद्‌गृहस्थों की आत्मोन्नति के साधन हैं।

★ जो गृहस्थ कभी किसी की निंदा नहीं करता, सदैव पंचपरमेष्ठी की भक्ति करता है, अतिथि व याचकों को कभी खाली हाथ नहीं लौटाता,

स्वपरोपकार में संलग्न है; उस गृहस्थ का वंश कभी निर्बीज नहीं होता।

★ जो गृहस्थ अपने योग्य समस्त धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन ईमानदारी व सत्यता से करता है, उसे अन्याश्रयो से क्या प्रयोजन? उसका कल्याण तो इससे भी संभव है।

★ सद्‌गृहस्थ अनाथो का नाथ, गरीबो का सहायक, धर्मात्माओ का पूरक, गुणीजनों का मित्र, निराश्रयो का आश्रयदाता एवं धर्म का आधार कहा जाता है।

★ जिस गृहस्थी में निर्मल स्नेह, निश्छल विश्वास, दूध-पानी जैसी मित्रता, मधुर संभाषण, विनयाचार, शिष्टाचार के शब्द सुनाई देते हैं, वहीं श्री, सरस्वती, धृति, कीर्ति, आदि देवियों का वास होता है।

★ जो गृहस्थ सप्त व्यसनो, पंच पापो, चार कषायों की तीव्रता एवं विषय वासनाओं से विरक्त है, वह गृहस्थ तो घर मे वैरागी है।

★ जो गृहस्थ सम्यक्त्व व देशव्रतों से युक्त है, सदैव षट् आवश्यक कर्त्तव्यो के पालन करने में तल्लीन रहता है, पंच परमेष्ठी का परम भक्त है, वह परिग्रही, मिथ्यात्वी व विषय-लोलुपी परिव्राजको से लाख गुना अच्छा है।

★ गृहिणी के होने से श्रावक गृहस्थ कहलाता है। गृहिणी के बिना श्रावक के समस्त व्रतो का पालन करना कठिन है। गृहिणी गृहस्थो के व्रत पालन में प्रमुख होती है।

★ जिस दिन इस वसुन्धरा पर से सद्‌गृहस्थों का अभाव हो जाएगा, उस दिन इस पृथ्वी पर न तो श्रमण रहेंगे और न ही श्रावक।

★ वर्तमान में गृहस्थजन अपने कर्त्तव्यों से च्युत होते जा रहे हैं, ऐसे गृहस्थों को देखकर कहा जा सकता है कि आगामी छठवें काल में निरामिष भोजी धर्मात्मा मिलना कठिन ही नहीं अपितु असंभव हो जाएगा।

★ जिस गृहस्थ ने अपने गृहस्थी सम्बन्धी समस्त कर्त्तव्यों का बाल्यावस्था से ही पालन किया है, ऐसा गृहस्थ तारों के मध्य सूर्य व चन्द्रमा के समान प्रधान / श्रेष्ठ हो जाता है।

★ "जो गृहस्थी में रहते हुए अपने कर्त्तव्यों से विमुख हैं धर्मात्मा जनों की, सज्जन पुरुषों की निंदा करते हैं" वे भविष्य के नरकगामी जीव हैं। ऐसा समझना चाहिए।

★ "जो गरीब होने पर भी ईमानदारी से श्रावकोचित समस्त कर्त्तव्यों का यथार्थ पालन करता है", ऐसा गृहस्थ निकट भविष्य में नियम से मोक्ष जाता है।

★ जो गृहस्थ श्रावक के षडावश्यक कर्त्तव्य पालन से रहित है उसे श्रावकोत्तम की उपाधि देना उसी प्रकार हास्यास्पद है जैसे—अंधे को नैन सुख की उपाधि से एवं मिथ्यात्व पोषक, विषय लोलुपी, शिथिलाचारी मुनि को 'अरिहंत' की उपाधि से अलकृत करना।

★ अहिंसा, करुणा, दया, वात्सल्य, भाईचारा, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति, न्यायवान, धर्मार्थी, गुणज्ञ इत्यादि गुणों से युक्त गृहस्थ ही सच्चे सुख को प्राप्त कर सकता है।

★ जो गृहस्थ आमिष भक्षी, अनैतिक, अन्यायी, हिंसा का पोषक, मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम में लिप्त है, उन गृहस्थों द्वारा सच्चे सुख-शांति को प्राप्त करना उसी प्रकार असंभव है—जैसे—अग्नि में शीतलता, बालू से तेल निकालना व जल मंथन से नवनीत की आकांक्षा करना।

निघृणे निदये क्रूरे निर्व्यवस्थे निरङ्कुशे।

पापे पापनिमित्ते च कलत्रे ते कुतः स्पृहा॥ ९/५९॥ क्ष.चू.

अर्थ—घृणित, निर्दय, दुष्ट व्यवस्था रहित, स्वतन्त्र, पापरूप और पाप की कारणभूत स्त्री से प्रेम और उसका विश्वास नहीं रखना चाहिए।

(79) आदर्श सुत-दारा

★ आदर्श पुत्र व जीवन साथी की प्राप्ति होना पूर्व पुण्य का फल ही समझना चाहिए। बिना पुण्य के अनुकूल सुत-दारा नहीं प्राप्त होते।

★ योग्य व आदर्श पुत्र वही है जो माता-पिता की आज्ञा पालन करने में सदैव तत्पर रहता है, पिता की सुकीर्ति सुयश को चारों दिशाओं में विस्तारित करता है।

★ जिस पुत्र से कुल चन्द्रमा की तरह प्रभाभितभूत हो एवं जो स्त्री गंगा की तरह कुल को पावन करने वाली धर्मपरायणा हो, वही सुत-वही दारा आदर्श कहे जा सकते हैं।

★ अनेक कुपुत्रो को जन्म देने की अपेक्षा आदर्शवान एक पुत्र का होना ही पर्याप्त है; क्योंकि हजारों गधो से एक शेर अच्छा है।

★ कुल्टा, कर्कशा, कुलक्षिणी, कुल कलकिनी, कलहप्रिय, पति विश्वासघाती, धर्मद्रोही, आलसी, निर्लज्ज हजारो स्त्रियो की प्राप्ति भी पापोदय से ही होती है।

★ कदाचारिणी, स्वैच्छाचारिणी, वकवादी, अविनयी, दुराशयी स्त्रियाँ यदि चाहे सौन्दर्य की खान ही क्यो न हों, उनसे दूर रहना चाहिए। ऐसी कन्याओं के साथ विवाह ही न करे, अच्छा है ब्रह्मचर्य व्रत की ही साधना करना।

★ यदि तुम्हें विवाह करना ही हो तो आदर्शशीला, धर्मपरायणा, सलज्ज, विवेकशील, सुशील, वात्सल्यपूर्ण, पाप भीरु, प्रसन्नचित्ता, नीरोगी एक कन्या से ही विवाह कर लो; किन्तु उक्त गुणों से रहित हजारों स्त्रियों से भी विवाह नहीं करना चाहिए।

★ पूर्व दिशा से उदित दिवाकर की तरह—धर्मवीर, तेजस्वी, कर्त्तव्य परायण, युगदृष्टा व विश्व के लिए सन्मार्ग दर्शक हो ऐसा एक पुत्र भी अच्छा है, अंधकारप्रिय हजारों उल्लूकों की अपेक्षा से।

★ जिस घर में स्त्रीत्व के सर्व गुणों से युक्त आदर्शशीला स्त्री है, उस घर को स्वर्ग के समान समझना चाहिए तथा इससे विपरीत वृत्ति वाली स्त्री हो तो फिर नरक में व तुम्हारे घर में क्या अंतर है?

★ जो स्त्री तीर्थंकरादि महापुरुषों को, दानवीरों को, संतों को, धर्म रक्षा में समर्पित शूरवीरों को, पंच परमेष्ठी के भक्तों को जन्म देने वाली है, स्वर्ग के देव उसकी स्तुति करते हैं।

★ जिस स्त्री ने पति को, संत पुरुषों को भोजन दिये बिना कभी भोजन नहीं किया, नित्य पतिदेव के चरणों की पूजा की है तथा सदा बड़ों की व पतिदेव की आज्ञा का पालन किया है; उसे अन्य किसी की पूजा करने की आवश्यकता भी क्या है?

★ मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्शशील पुरुष ही सीता जैसी आदर्श नारी व *अनंगलवण व मदानांकुश (लव, कुश)* जैसे पुत्रों को प्राप्त करते हैं।

★ आदर्श दारा वही है, जो प्राणपन से अपने सतीत्व की, यश की व मान-मर्यादा की रक्षा करती है।

★ आदर्श पुत्र वही है, जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति तुम्हारे पिता से पूछे कि 'ऐसा पुत्र तुमने किस पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त किया है?'

★ आदर्शरूपा जीवन साथी तभी प्राप्त होगा जब तुम्हारी वृत्ति रावण, कंस, कमठ जैसी नहीं; अपितु राम, भरत, पाण्डवों जैसी हो।

★ आदर्शोत्तम पुत्र अपने पिता के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह स्वयं पूर्ण रूपेण करता है, अन्य भाइयों की अपेक्षा नहीं करता।

★ आदर्श महिला वही है जो अपने पति व पुत्रों को धर्म की ओर प्रेरित करती रहे तथा स्वयं भी धार्मिक भावना में परिपूर्ण हो।

★ जिस घर में महिलाएं सूर्योदय के बाद तक सोती हैं, बच्चे मध्य रात्रि तक जागते हैं, वृद्ध पुरुष भी वासनायुक्त चल-चित्रों के देखने में लिप्त हों, वहाँ आदर्शों की चर्चा करना भी व्यर्थ है। ऐसे गृह में दारिद्रय, कलह, संक्लेशताएं, वैमनस्यता अपना स्थान जमा लेती है।

(80) मोह क्षय

★ आँख मिचीनी के खेल में 'गोल' छू लेने पर फिर गोल नहीं होना पड़ता, उसी प्रकार जिसने सर्व मोहनीय कर्म का क्षय कर दिया है, वह भव भ्रमण नहीं करता।

★ लोहा पारस को छूकर जब स्वर्ण हो जाता फिर वह कितनी भी लोहे या कूड़े कचरे की संगति करे लोहा नही हो सकता उसी प्रकार एक बार कर्म क्षय करने पर संसार मे भ्रमण नहीं होता।

★ समस्त कर्मो से रहित आत्म प्रदेशो का आकार पूर्ववत् ही रहता है, फिर भी योग रहित होने से वहाँ कर्माश्रव नही होता।

★ मोहनीय कर्म के क्षय होते ही मोक्ष साथ मे आकर खड़ा हो जाता है तथा मोह के क्षय बिना मोक्ष असभव है।

★ आत्मा से साक्षात्कार करने वाला मोहनीय कर्म का शीघ्र क्षय कर देता है किन्तु आत्मा से साक्षात्कार दिगम्बर अवस्था के बिना असंभव है।

★ मोह ही संसार भ्रमण का मूल बीज है बीज के जल जाने पर वृक्ष की स्थित असंभव है।

★ संसार मे परिभ्रमण करने के अनेक उपाय हैं। किन्तु मोक्ष को प्राप्त करने का मात्र एक ही उपाय है वह है कर्मो का क्षय।

★ मोहनीय कर्म के क्षय करने मे निमित्त रूप से कारण है केवली या श्रुत केवली का सानिध्य। इस मोह क्षय के बिना मोक्ष दुर्लभ ही नहीं असम्भव है।

★ मोहनीय कर्म का उपशम व क्षयोपशम भी संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ही कर सकता है इसके विपरीत दशा वाला नहीं। प्रत्येक कार्य सम्पादन करने से पहले उसकी भूमिका की महती आवश्यकता होती है, उसके बिना कार्य का सम्पादन असम्भव है।

★ मोहनीय कर्म का क्षय-संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कर्म भूमिज, वज्रवृषभनाराच संहनन युक्त, मनुष्य ही तीर्थंकर केवली के पाद मूल में कर सकता है इन निमित्तों को प्राप्त करने का प्रयास करो, हो सकता है इन निमित्तों को पाकर नैमित्तिक में भी कार्य हो जाए।

★ नैमित्तिक मे जब भी कार्य होगा निमित्त से ही होगा, बिना निमित्तक के नहीं। कर्मों के निमित्त से ही यह जीव चतुर्गति संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

★ मैं उन समस्त महापुरुषों के चरणों में बार-बार प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मोहनीय कर्म रूपी राजा की सम्पूर्ण सेना को आत्म विशुद्धि के बल से जीत लिया है तथा अनंत चतुष्टय रूपी राज्य को प्राप्त कर लिया है।

★ मनुष्य आकृति से रूपवान, कुरूप, लम्बा, बोना, गोरा, काला और पतला अवश्य दिखायी देता है किन्तु मोहनीय कर्म के क्षय होते ही वह परमात्मा की श्रेणी में समान रूप से आ जाता है।

★ हे महात्मन् ! यदि आपने मोहनीय कर्म को जीत लिया है तो आपको संसार में घबड़ाने की आवश्यकता नहीं, संसार से भयभीत होना व्यर्थ है यदि मोह को ही नहीं जीता तो तुम्हारी साधना की सार्थकता क्या है ?

★ मोही व्यक्ति भी शक्ति रूप से परमात्मा है किन्तु उसकी संगति करना तब तक उचित नहीं हैं जब तक कि तुमने मोहनीय कर्म का नाश नहीं किया है।

★ मोहनीय कर्म का उपशम या क्षयोपशम करने वाला कभी भी संसार के बन्धनों में बंधना नहीं चाहता और न ही बुद्धि पूर्वक भव वर्धक विषय सुखों की चाह ही करता है।

(81) साधक

★ समीचीन दृष्टि व संयम से युक्त होकर धर्म साधना करने वाला ही यथार्थ साधक होता है मोह को जीते बिना साधक में समीचीनता नहीं आती।

★ साधनावस्था में उन मनुष्यों से बहुत दूर रहना चाहिए जो धर्म की, धर्मात्माओं की निंदा करते हैं, साधनाका उपहास करते हैं और तुम्हें असंयम की ओर प्रेरित करते हैं।

★ समीचीन साधक भ्रम में नहीं जीता, वह तो सत्य से साक्षात्कार करने वाला होता है तथा दूसरे प्राणियों के भ्रम को दूर कर सत्य की शुभ प्रेरणा देने वाला होता है।

★ दूध मे घी, तिल में तेल, पत्थर मे अग्नि, काठ में वह्नि जिस प्रकार विद्यमान है। उसी प्रकार इस देह में परमात्मा विद्यमान है। उस परमात्मा से साक्षात्कार करने वाला साधक ही होता है।

★ समीचीन धर्म साधना / संयमाराधना मिश्री की डली की तरह है, उसे जैसे भी, जब भी, जहाँ भी, खाओ मधुर ही होगी, उसी प्रकार समीचीन साधना निष्फल नहीं जाती और न ही कटुक होती है।

★ जिसका मन धवल वस्त्र की तरह निर्मल, निर्मोह, निराग, निस्पृह, निरासक्त है, वही समीचीन साधक है किन्तु जिसका मन विषय वासनाओं, कषायों, पापों में आसक्त है वह साधक नहीं अपितु साधक के लिवास में है।

★ समीचीन साधक ही मोह का क्षय करने में समर्थ होता है, वही मोक्ष मार्ग की साधना कर सकता है। मोही साधक तो सांसारिक विषयों का निदान ही बांध लेते हैं।

★ सच्चा साधक गुरु की बाहरी क्रिया पर लक्ष्य नहीं देता वह तो गुरु की आज्ञा का प्राणपन से पालन करता है, उसी में उसका कल्याण भी है।

★ जिसने एक बार समीचीन साधना का रसास्वादन कर लिया है वे स्वप्न में भी विषयों की आकांक्षा नहीं करते जैसे पतंगा जब एक बार प्रकाश को देख लेता है, फिर वह अंधकार में जाना नहीं चाहता।

★ चींटी गुण का आस्वादन करने के लिए प्राण तक दे देती है, उसी प्रकार समीचीन साधक संयम साधना के लिए प्राण तक दे देते हैं, संयम से स्खलित नहीं होते।

★ सच्चा साधक जितना गुरु को चाहता है उससे भी सहस्र गुणित अधिक गुरु सच्चे साधक को चाहते हैं, इस बात को साधक कभी समझे या न समझे।

★ आज इस कलिकाल में भी अनेक प्रतिकूलताओं के मध्य में रहते हुए भी जो समीचीन साधना में संलग्न हैं, यथार्थ में वे ही सच्चे साधक हैं, अनुकूलताओं में तो सब साधक जैसे प्रतीत होते हैं।

★ साधक भी संसार में रहता है, विराधक भी संसार में रहता है, किन्तु दोनों के सुनने, बोलने, देखने, सोचने, करने, चखने व सूंघने आदि के व्यवहार में महान अंतर होता है।

★ सच्चा साधक दौलत शौहरत व औरत से बहुत दूर रहता है जो इन में आसक्त है उसमें व श्रावक में कोई अंतर नहीं रह जाता।

★ परिग्रहासक्त समस्त पापों में प्रवृत्त हो जाता है, जो निस्पृह है, वह ही समीचीन साधना में प्रवृत्त है, समर्थ है, ऐसे समीचीन साधकों को श्री व स्त्री में आसक्त नहीं होना चाहिए।

★ दुराचारिणी स्त्री माता-पिता परिवार वालों के साथ रहकर भी संसार के सभी काम करती है, किंतु उसका मन जार पुरुष में ही आसक्त रहता है, उसी प्रकार समीचीन साधक संसार में कार्यरत रहता हुआ भी आत्मा के कल्याण में आसक्त रहता है।

★ जिस प्रकार पनिहारी स्त्रियां सिर पर पानी का भरा घड़ा रखा रहने पर भी आपस में चर्चाएं करती हैं, हाथ भी चलाती हैं, किन्तु उनका ध्यान घड़े की स्थिरता में ही रहता है, उसी प्रकार समीचीन साधक बाहर की क्रियाओं को करता हुआ दिखायी देने पर भी आत्मरत ही रहता है।

★ सच्चा साधक समुद्र किनारे पड़ी हुई मृत सीपी रूपी ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा या लौकिक लाभ में आसक्त नहीं होता अपितु वह तो आत्म साधना के सागर में गोता लगाकर आत्मा के गुण रूपी अमूल्य रत्नों को पाकर ही संतुष्ट होता है।

★ सच्चा साधक धर्म की साधना मात्र चित्रों से नहीं चारित्र से भी करता है, जीभ से नहीं जीवन से भी करता है, कथनी से नही करनी से भी करता है। चित्र तो जीर्ण, शीर्ण भी हो सकते हैं, अलमारियो से बाहर भी निकाले जा सकते हैं किन्तु चारित्र नित्य नवीन होता है, उसे बाहर नही निकाला जा सकता, उसकी छाप आत्मा पर ऐसी पड़ती है, जोकि अनेक भवों तक अमिट रहती है।

★ साधक की साधना कभी निष्फल नही जाती उसका फल नियम से मिलता है इतना अवश्य होता है कि आज का फल कभी आज मिल जाता है तो कभी कालान्तर में भी।

चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये, शीतलः साधु समागमः॥

अर्थ—लोक मे चन्दन को शीतल माना जाता है, चन्दन से भी शीतल चन्द्रमा की रश्मियाँ मानी जाती हैं, किन्तु विज्ञ पुरुष साधु समागम को चन्दन व चन्द्रमा से भी शीतल मानते हैं।

* * *

स्वाध्याय से लाभ

आदहिद पइण्णा भाव संवरो णवणव या संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसि गत्तं च॥९९॥ भ० आ०

अर्थ—आत्म हित का ज्ञान होता है, भाव सवर होता है, नवीन-नवीन संवेग होता है, रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है, गुप्तियों की भावना होती है और दूसरों को उपदेश देने की क्षमता होती है॥९९॥ भ० आ०

(82) संत सानिध्य

★ साधु पुरुषो की संगति व उनकी हार्दिक सेवा धर्म मार्ग में प्रवेश करने का सर्वप्रधान अंग है।

★ मरते समय जैसे भाव होते हैं, वैसी गति होती है अथवा जैसी आयु का बंध होता है, मरते समय परिणाम भी वैसे ही हो जाते हैं अतः सदैव संत पुरुषो की संगति पाकर अपने परिणाम निर्मल बनाने का ही सदा पुरुषार्थ करते रहो।

★ संत सानिध्य दु:खों को नष्ट कर सर्व सुखों के द्वार पर भेजने का अनुपम साधन है। बिना संत सानिध्य के आज तक कोई भी समीचीन राह प्राप्त नहीं कर सका।

★ संत सानिध्य में पहुँचते ही जीवन में सरलता, सहजता, नम्रता, सत् श्रद्धा व भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

★ जिस प्रकार मेघ वर्षा व समीचीन मौसम के होने पर बीज अंकुरित हो जाता है, उसी प्रकार संत सानिध्य में पहुँचते ही उनके धर्मोपदेश रूपी वर्षा व संयम तप रूपी मौसम की समीचीनता से आत्मा में धर्म रूपी बीज अंकुरित हो जाता है।

★ मनुष्य तभी तक तर्क वितर्क करता है जब तक संत सानिध्य मे पहुँचकर उसने धर्मामृत का रसास्वादन नहीं किया है।

★ संत सानिध्य में पहुँचते ही अज्ञान का अंधकार व मिथ्यात्व के बादल स्वत: ही नष्ट होने लगते हैं।

★ संत सानिध्य में जाने से ही अपने प्रभु परमात्मा को प्राप्त करने की प्यास बलवती हो जाती है।

★ संत सानिध्य संसार के दुखों से बचाने वाली सघन छाया है, क्षुधा तृप्ति हेतु संयम रूपी भोजन है, पिपासुओं को धर्मामृत व अज्ञानतम में भटके प्राणियों को प्रकाश के समान है।

★ संत सानिध्य में पहुँचने से गौरव, औद्धत्य, अहंकार, ममकार, मोह, मूर्च्छा आदि भाव क्षीण हो जाता है एवं जीवन में सम्यैक्त्व, ज्ञान, आचरण, संतोष व साम्यभाव रूपी वृत्ति का जन्म हो जाता है।

★ साधक जब परमात्मा की भक्ति में संलग्न होता है, उसके पहले वह संत सानिध्य में अपने हृदय को निर्मल, निश्छल व निस्वार्थ श्रद्धा, भक्ति निराकुलता व निश्छल समर्पण से परिपूरित कर लेता है।

साधुनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थ भूता ही साधवाः।
कालेन फलतः तीर्थाः, सद्य साधु समागमः॥

अर्थ—साधुओं का दर्शन पुण्य का कारण है, साधु ही तीर्थभूत हैं, तीर्थ तो कालानुसार ही फलते है, किन्तु समागम शीघ्र ही फलदायी होता है।

* * *

संगति

संततायसि संस्थितस्य पायसोनामापि न श्रूयते।
मुक्ताकार तया तदेव नलिनीपत्र स्थितं दृश्यते।
अतः सागर शुक्ति संपुट गतं तन्मौक्तिकं जायते।
प्रायेणाधममध्यमोत्तम गुणाः संवासतो देहिनाम्॥

अर्थ—संतप्त लोहे पर पड़े हुए पानी का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता, वही पानी कमलिनी के पत्ते पर स्थिर होकर मोती के समान दिखाई देता है और समुद्र के भीतर सीप के पुट में जाकर मोती बन जाता है। ठीक ही है, संगति निमित्त से ही मनुष्यों के गुण प्रायः अधम-मध्यम और उत्तम हो जाते हैं।

(83) सम्यक्त्व

★ सम्यक्त्व का अर्थ है—समीचीनता, समीचीनता को मान लेना ही सम्यक्त्व है।

★ हे आत्मन्! यह सम्यक्त्व आत्मा का निजी गुण है, किन्तु अनादि काल से चेतन इसे पहचान नहीं सका।

★ हमारी आंखों में मिथ्यात्व का काला वर्ण समाहित होने से वस्तु का सही दिग्दर्शन नहीं हो सकता।

★ जिन्हें मिथ्यात्व के प्रति लगाव है, रुचि है, अभीप्सा है, वे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते, जो साहसपूर्वक मिथ्यात्व का वमन कर देते हैं, वे ही सम्यक्त्व पाने के अधिकारी हैं।

★ जीवन की समीचीनता का आस्वादन सम्यक्त्व गुण के होने पर ही होता है, मिथ्यात्व में नहीं, नेत्र की कालिमा दूर किये बिना प्रकाश के प्रति विश्वास असंभव है।

★ अंधकार को ही प्रकाश मानने वाला प्रकाश के बारे में कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। प्रकाश अंधकार के अभाव में ही दिखता है।

★ सम्यक्त्व की प्राप्ति शब्दों के कोलाहल से नहीं, चिन्तन की गहराई में होती है। [illegible]

★ हे आत्मन्! सम्यक्त्व ही चेतना की चेतना है, प्राणों का प्राण है, इसके बिना जीवन मृतवत् है अर्थात् मरा हुआ मुर्दा है।

★ जो आज तक अपने जीवन को नहीं समझ पाये, आत्मा का विश्वास नहीं कर पाये, आत्मा-अनात्मा में भेद नहीं कर पाये, सत् और असत् में अन्तर नहीं कर सके उनका जीना मरने से ज्यादा बद्तर है।

★ सम्यक्त्व का अर्थ है—स्वयं का मालिक बन जाना, जो नौकरों की नौकरी करता रहे उसके पास राज्य वैभव कितना ही हो, उससे उसे क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं।

★ हे आत्मन् ! जो चेतना की धड़कन नहीं पहचान सके, स्वयं को पा ही न सके, स्वयं को न जान सके, आत्मा को आत्मा मान नहीं सके। ऐसे व्यक्ति ने क्या वास्तव में जीवन जान पाया है ? उसकी आत्मा को आत्मा कहें या पुद्‌गलों का ढेर।

★ अंगारे में छिपी अग्नि भी अग्नि है, जिसे उस अग्नि की चिनगारी का ज्ञान हो गया या देव शास्त्र गुरु के माध्यम से श्रद्धान हो गया है उसके पास तो सम्यक्त्व है किन्तु जो राख को ही अग्नि मान रहे हैं या अग्नि को ही राख मान रहे हैं वे अभी सम्यक्त्व से दूर हैं अर्थात् चेतन को चेतन मानना ही सम्यक्त्व है, अचेतन को चेतन मानना या चेतन को अचेतन मानना नहीं।

★ जब तक आत्मा का यथार्थ स्वरूप बताने वाले देव, शास्त्र, गुरु पर विश्वास नहीं हुआ तब तक सम्यक्त्व के गीत तो गा सकते हैं किन्तु सम्यक्त्व को पा नहीं सकते।

★ हे आत्मन् ! सच्चे देव, शास्त्र, गुरु ही सम्यक्त्व की आधारशिला हैं, बिना जिन, श्रुत, मुनि के सम्यक्त्व असंभव है।

★ जिस प्रकार बिना आधार के आधेय नहीं रह सकता, बिना बीज के वृक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना देव, शास्त्र, गुरु की देशना के आत्मा से परिचय नहीं हो सकता अर्थात सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता।

★ हे आत्मन् ! जिस प्रकार धोबी के बिना कपड़े स्वतः साफ नहीं होते। उसी प्रकार बिना गुरु के कर्मों का प्रक्षालन नहीं होता। मिथ्यात्व रूपी मल का प्रक्षालन गुरु कर सकते हैं और मिथ्यात्व मल का प्रक्षालन ही सम्यक्त्व है।

★ बीज भी है, भूमि भी है, मिट्टी भी है, हवा भी है किन्तु जल नहीं है, तब बिना जल के क्या बीज अंकुरित हो सकेगा ? अर्थात् नहीं। उसी प्रकार आत्मा में जब तक देव, शास्त्र, गुरु की यथार्थ देशना रूपी जल नहीं पहुँचेगा तब तक सम्यक्त्व का अंकुर पैदा नहीं हो सकता।

★ हे आत्मन् ! जैसे माली बीज में से अंकुर को खींचता नहीं, तोड़ता नहीं, किन्तु उसमें पानी सींचता है जिससे स्वतः ही उसका आवरण टूट कर वह अंकुरित हो जाता है उसी तरह आत्मा में जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का कारुण्य व वात्सल्य से परिपूर्ण धर्मामृत का सिंचन मिलता है तो स्वतः अहंकार का आवरण टूट जाता है मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और सम्यक्त्व का अंकुर पैदा हो जाता है।

★ हे आत्मन् ! जिस प्रकार बिना माता-पिता के पुत्र पैदा नहीं होता, बिना रसोइन के भोजन तैयार नहीं होता, बिना डाक्टर के इलाज नहीं होता, उसी प्रकार बिना सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के सम्यक्त्व पैदा नहीं होता।

★ हे आत्मन् ! कुछ लोगों का कहना है कि निसर्गज सम्यक्त्व बिना देव शास्त्र गुरु के ही प्राप्त होता है किन्तु तू जरा गहराई से विचार कर। क्या इसमें 5 लब्धियाँ नहीं होती ? यदि होती हैं तो देशना लब्धि बिना देव, शास्त्र, गुरु के कहाँ से मिलेगी ? अर्थात् वहीं से मिलेगी। हाँ यह संभव है कि वर्तमान में देशना प्राप्त न हो किन्तु भूतकाल में देशना उनसे ही मिली होगी।

★ हे आत्मन् ! अधिगमज सम्यक्त्व तो साक्षात् सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के माध्यम से ही होता है किन्तु निसर्गज भी भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से अधिगमज ही है, अधिगमज में देव, शास्त्र, गुरु वर्तमान काल में है, निसर्गज में भूतकाल में थे।

★ हे आत्मन् ! जब आत्मा मिथ्यात्व से सम्यक्त्वाभिमुख होती है तो वहाँ आत्मा की दिशा ही नहीं दशा भी बदल जाती है।

★ हे आत्मन् ! सम्यक्त्व ही सब रत्नों में श्रेष्ठ रत्न है, मोक्षमार्ग के प्रथम द्वार पर लगा साइन बोर्ड है। आत्मा की गति को विपरीत दिशा से समीचीन दिशा की ओर कर देना ही सम्यक्त्व है।

★ चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के प्रति गहरा विश्वास है, सत्ता की स्वीकृति है, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु से सुने हुए आत्मस्वरूप पर विश्वास है। स्वयं का अनुभव नहीं है, यदि है भी तो वह परोक्ष अनुभव है प्रत्यक्ष नहीं।

★ हे आत्मन् ! जैसे जिनालय का शिखर देखकर या बाहर जिनालय शब्द पढ़कर विश्वास हो जाता है कि यह जिनालय है उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में भी सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को देखकर या उनकी वाणी स्वरूप शास्त्र को देखकर भी सहज विश्वास हो जाता है कि आत्मा ऐसी है, ऐसा स्वभाव है / स्वरूप है।

★ हे आत्मन् ! आज श्रमण अवस्था में तेरे पास जो आनन्द अनुभव, प्रतीति, रुचि, विश्वास, संवित्ति है क्या वह गृहस्थावस्था में थी ? अर्थात् नही। उस समय तो सुने हुए आत्म स्वरूप के प्रति विश्वास और प्यास थी किन्तु आज है उसका स्वाद/आनन्द/अनुभूति।

(84) भक्ति

★ हे आत्मन् ! जो भक्त को भगवान बना दे वही भक्ति कहलाती है

★ हे आत्मन् ! भक्ति का अर्थ है परमात्मा को पाने की एक गहरी प्यास और उस प्यास को बुझाने का समीचीन उपाय भी भक्ति ही है।

★ यदि आत्मा की वीणा के तार झंकृत नहीं हुये, अंतरंग से संगीत नहीं फूटा, हृदय कमल विकसित नहीं हुआ तो बाहर की वीणा तोड़ने से, या ढोलक, तबला फोड़ने से, या पुस्तकें पलटने से क्या लाभ ?

★ आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से जुड़ जाना ही भक्ति का सही मूल्यांकन है।

★ हे आत्मन् ! यदि तुमने हृदय के कमलासन पर भगवान को स्थापित कर लिया है तब तो भले ही बाहर में तेरे सामने भगवान नहीं है भक्ति हो जायेगी। यदि तूने अपने हृदय में भगवान् को स्थापित नहीं किया तो बाहर के भगवान कितने भी निकट हो भक्ति नहीं हो सकेगी।

★ हे आत्मन् ! परमात्मा से मिलने की जितनी गहरी प्यास होती है, उतना ही अधिक मिलने पर आनन्द आता है।

★ हे आत्मन् ! पानी व्यक्ति नहीं प्यास पीती है, भोजन व्यक्ति नहीं भूख करती है, व्यक्ति तो माध्यम है, उसी प्रकार भक्ति अन्तर की श्रद्धा से होती है, शरीर, वाणी, मन तो माध्यम हैं।

★ हे आत्मन् ! भक्ति इस संसार सागर से पार होने के लिए अनुपम जहाज सदृश है, जो इसका आश्रय नहीं लेते वे कभी संसार सागर से पार नहीं हो सकते।

★ हे आत्मन् ! भक्ति अंतर आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव कभी हेय नहीं होता, हेय तो विभाव होता है, जो लोग भक्ति को हेय बताते हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं।

★ हे आत्मन् ! भक्ति तो प्रकाश के समान है जहाँ श्रद्धा (सम्यक्त्व) का सूर्य उदय को प्राप्त होगा वहाँ नियम से भक्ति होगी ही। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सूर्य का उदय हो जाये और प्रकाश न हो, उसी तरह श्रद्धा भक्ति की अविनाभावी है।

★ हे आत्मन् ! श्रद्धा का पुष्प यदि असली है तो उसमें से सुगन्धि अवश्य ही आयेगी, यदि पुष्प में सुगन्धि नहीं आ रही है तो समझो वह पुष्प नहीं पुष्प का चित्र है या कागज, मिट्टी, प्लास्टिक, चीनी मिट्टी, लोहा पीतल आदि धातु का बना पुष्प का आकार है।

★ हे आत्मन् ! गंध, पुष्प के चित्र या आकार में से नहीं पुष्प में से ही आती है, वह भी जीवित पुष्प में से, मरे हुए पुष्प में से नहीं। उसी प्रकार भक्ति की सुगन्ध जीवित श्रद्धा में से आती है मृत श्रद्धा में से नहीं।

★ हे आत्मन् ! भक्ति भव कूप में पड़े तुम जैसे पामर के लिए मजबूत रज्जू सदृश है, यदि तू भक्ति की रस्सी का सहारा लेगा तो भव कूप से पार हो सकता है, अन्यथा निकलना असंभव है।

★ हे आत्मन् ! तू भक्ति रूपी रस्सी को बीच में ही छोड़ देगा तो पुनः धडाम से नीचे भवकूप में गिर जायेगा, अतः जब तक तुझे भवकूप का किनारा न मिल जाये तब तक तू भक्ति रूपी रस्सी को पकड़े रह। किनारा आते ही रस्सी स्वतः ही छूट जायेगी छोड़नी नहीं पड़ेगी।

★ हे परमात्मा! जन्म से लेकर आज तक मैंने तुम्हारी जो भक्ति की है, वह आपके लिए नहीं अपने लिए की है, आपने तो मुझे भक्ति के लिए कहा ही नहीं मैं तो स्वयं ही कर रहा हूँ यह मेरी आपके प्रति जो श्रद्धा है वह बलात् (जबरन्) भक्ति करा रही है।

★ हे परमात्मा ! आप यदि मेरी भक्ति का प्रसाद देना ही चाहते हैं, तो मैं आपसे यही माँगता हूँ, कि मेरे मन में निरन्तर आपकी भक्ति बनी रहे।

★ हे परमात्मा ! यद्यपि माँगना, इच्छा करना, चाह करना, अच्छा नहीं, फिर भी जब तक मन है तब तक इच्छा तो पैदा होगी ही, सो मेरी इच्छा है कि मेरे अन्दर जिन भक्ति के सिवा अन्य कोई इच्छा ही पैदा न हो।

★ हे भगवन् ! यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप तो वीतरागी हो, कृतकृत्य हो चुके हो, कभी किसी को न कुछ देते हो, न लेते हो, फिर भी भक्त आपकी भक्ति से सब कुछ पा लेता है, ऐसी आपकी भक्ति की अपूर्व महिमा है।

★ हे भगवन् ! जब तक मेरे पास मेरा मन है तब तक आपके दोनों पद कमल उस हृदय कमल में विराजमान रहें तथा मेरा मन भी आपके पद कमलों का भ्रमर बन सदैव उन्हीं में लीन रहे और मन जब विलीन हो तो आपके पद कमलों में ही समर्पित/विसर्जित हो जाये।

★ हे भगवन् ! मैंने आपसे आपकी भक्ति की ही याचना क्यों की है? क्योंकि यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि जिसके जीवन में आप होते हैं, फिर उसका जीवन आप मय ही हो जाता है।

★ हे भगवन् ! जो भव्य प्राणी आपके नाम का श्रद्धापूर्वक एक बार भी स्मरण करते हैं उनके समस्त दुःख/अशान्ति/अशुभ कर्म स्वतः ही दूर भाग जाते हैं जैसे—सूर्योदय होने पर अंधकार।

★ हे आत्मन् ! भक्ति दुःख रूपी वैतरणी से तिरने के लिए (अत्यन्त मजबूत कभी न डूबने वाली तथा कभी न टूटने वाली एवं नियम से दुःखों की भवरों से पार कराने वाली) अनुपम नौका है, जो इस भक्ति रूपी नौका का सहारा लेते हैं वे नियम से इस दुःखों से भरी वैतरणी से तिर जाते हैं।

★ हे आत्मन् ! भक्ति साबुन के समान है जैसे—साबुन का गंदे कपड़े में समीचीन प्रयोग करने से कपड़े की गंदगी दूर हो जाती है, उसी प्रकार भक्ति रूपी साबुन से आत्मा रूपी वस्त्र की गंदगी दूर हो जाती है और वह आत्मा परमात्मा/निर्मल आत्मा/ शुद्ध आत्मा/ परम पवित्र आत्मा/ सिद्ध आत्मा बन जाती है।

★ हे आत्मन् ! संसार में वे प्राणी ही धन्य हैं जो सदैव जिन भक्ति में अपना चित्त लगाये हैं उन्हीं का जीना सफल है, नर भव सार्थक है, वे ही पूज्य हैं, श्रेष्ठ पुण्यात्मा हैं, जिन भक्ति से रहित पापात्मा तो अनन्तानंत हैं, उनके बारे में क्या कहें। बस यही भावना है उनमें भी

प्रशस्त पुण्य का उदय हो जिससे वे भी जिन-भक्ति करके अपना नरभव सार्थक कर सकें।

★ हे भगवन् ! आपका नाम मात्र स्मरण करने से ही अंतरंग में अपूर्व शान्ति की अनुभूति होती है जैसे क्षुधातुर व्यक्ति को इष्ट मनोज्ञ स्वादिष्ट दिव्य भोजन पाकर जो हर्ष होता है, उससे भी अधिक आनन्द आपके नाम स्मरण से आता है।

★ हे भगवन् ! जब-जब मेरे परिणामो में कलुषता आती है, विशुद्धि का ह्रास होता है तो मैं आपके ही नाम का स्मरण करता हूँ, क्योंकि आपका नाम ही मेरे लिए एक मात्र सहारा है उसे छोड़ आप ही बताओ मैं किसका सहारा लूँ ?

★ हे आत्मन् ! भक्ति मुक्ति का सेतु है, उसी सेतु पर चढ़कर ही मोक्ष महल मे प्रवेश संभव है, अन्यथा असंभव है।

★ हे आत्मन् ! भक्ति के जिनेन्द्र भगवान ने दो भेद कहे हैं—(1) भेद भक्ति (2) अभेद भक्ति। प्रथम अवस्था में भेद भक्ति ही होती है पश्चात् अभेद भक्ति। भेद भक्ति श्रावकों में एवं सविकल्प मुनियों के होती है, अभेद भक्ति निर्विकल्प मुनि पुंगवों के ही होती है।

★ हे आत्मन् ! तू सदैव अभेद भक्ति में लीन रहने को उद्यत रह। यदि अभेद भक्ति में अधिक समय तक नहीं ठहर सके तो पुनः भेद भक्ति का सहारा ले। किन्तु भक्ति से रहित एक समय भी व्यर्थ में मत गवां क्योंकि बीता समय कभी वापस नहीं आता।

★ हे आत्मन् ! जिनेन्द्र देव रूपी सूर्य को देखते ही जिनका हृदय कमल खिल जाता है, वो निकट भव्य हैं, जिनके हृदय कमल जिनेन्द्र देव के निर्मल गुणों को देखकर नहीं खिलते उनका भव्यत्व भजनीय है।

★ हे आत्मन् ! ज्यों बछड़ा दीर्घकालीन बिछुड़ी अपनी माँ (गाय) को पाकर जितना प्रमुदित/आनन्दित/आह्लादित होता है उससे अधिक आनन्द सम्यक्दृष्टि को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को पाकर होता है।

(85) गुरु

★ गुरु शब्द का अर्थ है, अज्ञान रूपी अंधकार का विनाशक जहाँ गुरु रूपी सम्यक् सूर्य विराजमान है, वहाँ अंधकार का टिकना असंभव है।

★ गुरु कुंभकार के समान होते हैं, जैसे कुम्भकार मृण्मय घट के दोषों को निकालता है, अन्दर हाथ पसार कर बाहर से चोट मारता है, उसी प्रकार गुरु देव भी शिष्य को करुणा व वात्सल्य युक्त हाथ का सहारा देते हैं एवं कठोर अनुशासन की चोट भी मारते हैं, जिससे शिष्य निर्दोषता एवं सर्व गुणों से सहित अवस्था पा लेते हैं।

★ गुरु का सानिध्य सघन छाया व सुमधुर फलों युक्त वृक्ष के समान है, जो जीव गुरु के सानिध्य में आ जाता है, वह स्वयंमेव ही शीतल छाया को व सुमधुर फलों को प्राप्त कर लेता है।

★ गुरु की छत्र छाया में शिवपथ पर गमन करने वाले शिष्य को काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, शिथिलता, मिथ्यात्व आदि शत्रु नहीं सताते।

★ गुरु शब्द दो अक्षरों से मिलकर बना है प्रथम 'गु' अक्षर है जिसका अर्थ है-गुण। 'रु' का अर्थ 'रुह', 'आत्मा' अतः जो आत्मा के गुणों को प्रकट करने वाला है वह गुरु है।

★ गुरुदेव ही शिष्य के बुझे हुए दीप को प्रज्वलित कर सकते हैं।

★ गुरु ही मोक्षमार्ग में चलने एवं चलाने में सहायक हैं, बिना गुरु के मोक्ष मार्ग में गमन असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

★ गुरुदेव शिष्य के अन्दर परमात्मा बनने की प्यास जगाते हैं क्योंकि बिना प्यास के परमात्म पद का अमृत कभी प्राप्त नहीं होता।

★ सच्चे गुरुदेव परम हितैषी वैद्य के समान होते है, संसार में भले ही सभी से झूठ बोल देना किन्तु कभी भी गुरु के सामने झूठ नहीं बोलना। यदि वैद्य के सामने झूठ बोलोगे, सत्य बात नहीं बतलाओगे तो बिना मौत

की मौत मारे जाओगे, और यदि गुरु से सत्यता को छुपाओगे तो अनन्त काल के लिए आत्म पतन के मार्ग में चले जाओगे।

★ यद्यपि किसी के समाने झूठ नहीं बोलना चाहिए किन्तु फिर भी आप पूर्ण सत्य बोलने में समर्थ नहीं है, झूठ बोलते ही हो तो वकील, डाक्टर एवं गुरु से कभी झूठ नहीं बोलें।

★ रोग को छुपाने वाले रोगी को वैद्य स्वस्थ नहीं कर सकता, उसी प्रकार गुरु भी उस शिष्य का कल्याण नहीं कर सकते जो शिष्य अपने दोषों को छुपाता है, गुरु के सामने शुद्ध आलोचना नहीं करता है।

★ संसार में चन्दन का लेप, चन्द्रमा की शीतल सुधांशु एवं जल को शीतल बताया जाता है किन्तु इनको शीतल वे ही कहते है जिन्होंने गुरु सानिध्य को अभी प्राप्त नहीं किया है क्योंकि गुरु सानिध्य से शीतल वस्तु संसार में कुछ भी नही है।

★ गुरु के चरण सानिध्य रूपी कवच जिनके पास है, दुष्कृर्म दुःख, अशान्ति, कलह, भय, राग-द्वेष, मोहादि शत्रु उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते।

★ जिसके हृदय में गुरु के वचन रूपी सम्यग्ज्ञान के सूर्य का उदय नहीं हुआ है, उसके जीवन का मिथ्यात्व रूपी अंधकार दूर नहीं होता और जिसके हृदय में गुरु के वचन स्थिर हैं उनके हृदय में अज्ञान रूपी अंधकार कभी नहीं टिकता है।

★ गुरुदेव नाविक के समान होते हैं जैसे नाविक नाव के माध्यम से संसारी प्राणियों को नदी को पार कराता है, उसी प्रकार गुरुदेव जिनवाणी रूपी नौका के माध्यम से संसार सागर को पार कराते हैं।

★ जिस प्रकार नाविक के बिना नौका कार्यकारी नहीं होती उसी प्रकार गुरुदेव के बिना जिनवाणी का अर्थ समझने में हम संसारी प्राणी असमर्थ हैं।

★ नाविक के बिना नौका चलाने या तैरने की विधि नहीं सीख सकते उसी प्रकार गुरुदेव के बिना मोक्षमार्ग में चल पाना अत्यन्त कठिन है।

★ गुरुदेव का चरण सानिध्य संसार की समस्त दुःखद शक्तियों से भव्य जीवों की रक्षा करता है।

★ गुरु ड्राइवर के समान होते हैं जैसे ड्राइवर (चालक) वाहन का चलाना एवं उसे नियंत्रण करना सिखाते हैं उसी प्रकार गुरुदेव भी आत्म वाहन को चलाना व आत्म नियन्त्रण आत्मानुशासन करना सिखाते हैं।

★ गुरुदेव ही आत्मा में प्रकाश करने के लिए सम्यक्ज्ञान का दीपक जलाने की, मिथ्यात्व व कषायरूपी माचिस व (काड़ी) की रगड़ करने की/ मिथ्यात्व व कषायों को दबाने की/जलाने की कला सिखाते हैं।

★ महत्त्व माचिस या काड़ी या बल्ब ट्यूबलाइट व स्विच बोर्ड का तभी है, जब हम उसका सदुपयोग करना सीख लें। गुरुदेव हमें आत्मा के अन्दर सम्यक् श्रद्धा ज्ञान व चरित्र का बल्ब जलाने की विधि सिखाते हैं। बिना ज्ञान के साधना निष्फल है।

★ यद्यपि ताला और चाबी दोनों हमारे पास हैं, किन्तु हम ताला खोलने की/कर्मों की जंजीरे तोड़ने की विधि से अनभिज्ञ हैं। गुरुदेव ही हमें कर्मों की जंजीरें तोड़ने की कला सिखाते हैं/विधि बताते हैं।

★ गुरुदेव ट्रेन में लगे बंफर के समान होते हैं, जैसे बंफर हमें यात्रा में लगने वाले धक्कों से बचाते हैं वैसे ही गुरु भी हमें संसार के धक्कों से बचाते हैं। गुरुदेव ही हमें निष्कंटक, निर्द्वन्द, स्वच्छ, सीधा व सरल सुख शान्ति का मार्ग दर्शाते हैं।

★ जिस प्रकार नदी-किनारे पहुँचने से शीतल, मंद, सुगन्धित समीर शारीरिक श्रम, थकान, संताप को दूर करती है, उसी प्रकार गुरु के समीप पहुँचने पर स्वतः भव भ्रमण की थकान भवाताप/खेद/क्लेश/भ्रान्ति/क्लान्ति स्वतः ही दूर हो जाती है।

★ जिस प्रकार पुष्प वाटिका के पास पहुँचते ही वहाँ की सुगन्ध व सौरभ से नासा संतोष को प्राप्त होती है। उसी प्रकार गुरुदेव के पास पहुँचने से आत्मा संयम/चारित्र/वैराग्य सम्यक्ज्ञान/श्रद्धा/तप/त्याग/ध्यान/योग/साधना आदि की सुगन्धि/सौरभ से परम संतोष/परमानन्द अपूर्वाल्हाद/अनुपम शान्ति/यथार्थ की अनुभूति को प्राप्त होती है।

★ गुरु के प्रशस्त मार्ग दर्शन आशीष व साक्षात चरण सान्निध्य से कंटकाकीर्ण/दुर्गम/दुस्तर/दीर्घ मार्ग भी पुष्पित/सुगम/सहज/सरल/लघु आराम से सुखपूर्वक तय करने योग्य हो जाता है।

★ गुरुदेव भव्य जीवों की मोह निद्रा को तोड़ने में समर्थ हैं, उनके बिना मोह नींद टूटना असंभव है।

★ गुरुदेव के चरणों में समीचीन श्रद्धा, ज्ञान, वैराग्य युक्त प्राणी वह अलौकिक आनन्द, अनुपम शान्ति, अभूतपूर्व सुख को प्राप्त करता है, जिसे पाकर वह चक्रवर्ती का वैभव, भौतिक सुख व तीन लोक की सम्पत्ति को भी ठुकराने में वह समर्थ हो जाता है।

★ गुरु के बिना प्राणियों का जीवन मुर्दे के समान ही कहलाता है। जीवन में जब तक सच्चे गुरु का चरण सान्निध्य या हृदय में सच्चे देव, शास्त्र गुरु के चरण विराजमान नहीं होते तब तक जीवन प्रारम्भ नहीं होता।

★ गुरुदेव अपने रहस्य पूर्ण अनुभवो एवं समीचीन दिशा निर्देशक संकेतों से भव्य जीवों को अन्तर्दृष्टि परमब्रह्म/परमेश्वर/परमात्मा से मिलने की ओर प्रेरित करते हैं।

शिष्यानुग्रह कर्ता यो दुरितेन्धन पावकः।
पंचेन्द्रिय महायोग, विरतो विश्व वन्दितः॥

अर्थ— जो शिष्य का अनुग्रह/उपकार करते हों, पाप रूपी ईंधन के लिए अग्नि स्वरूप हों, एवं इन्द्रियों के भोगों से विरक्त हों वे ही विश्व वंद्य गुरु हैं।

✱ ✱ ✱

गुरु भक्ति संजमेण य तरन्ति संसार सायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठ कम्मं जम्मं मरणं ण पावन्ति॥

अर्थ— जो संयम से युक्त होकर गुरु भक्ति करता है वह घोर संसार सागर को पार कर अष्ट कर्मों को नष्ट कर देता है एवं जन्म मरण की परम्परा को प्राप्त नहीं होता है

(86) भेद-विज्ञान

★ भेद का अर्थ होता है—अभिन्नवत्, दो भिन्न द्रव्यों/पदार्थों के मिश्रण को अलग-अलग करना। जैसे दूध में से घी व छाछ को अलग-अलग करना या दो अभिन्न मित्रों को अलग-अलग करना, वैसे ही आत्मा और पुद्गल को अलग-अलग करना।

★ विज्ञान का अर्थ है किसी भी विषय का क्रमबद्ध नियमित व यथार्थ ज्ञान। अथवा विशिष्ट ज्ञान का नाम है विज्ञान अथवा विशद्/प्रत्यक्ष ज्ञान का नाम है विज्ञान।

★ भेद विज्ञान का संयुक्त रूप में अर्थ हुआ—आत्मा व अनात्मा के भेद का ज्ञान। जब तक आत्मा व अनात्मा में भेद का ज्ञान नहीं हुआ तब तक सारा ज्ञान अज्ञान ही है।

★ हे आत्मन् ! चेतन ज्ञान दर्शन से युक्त, स्वभाव से अमूर्तिक, अस्पर्शी, अगंध, अवर्ण, अरस, अरूप है और अचेतन का स्वभाव चेतन से बिल्कुल विपरीत है।

★ हे ज्ञायक स्वभावी आत्मन् ! तू तो ज्ञान दर्शन से युक्त है, फिर पुद्गल के टुकड़ों को अपने गले क्यों लगाता है, क्या तुझे ये भी भान नहीं है कि यह अचेतन पुद्गल कभी चेतन रूप नहीं हो सकता।

★ हे आत्मन् ! पौद्गलिक पदार्थों में तू अनादि काल से रति भाव/मोह भाव/आत्म भाव बनाये रहा, यह पर पदार्थों के प्रति आसक्ति भाव ही एक मात्र दुख का कारण है, पर से मोह हटा तो सुख का खजाना तुझे निज में ही मिल जायेगा।

★ भेद विज्ञान की श्रद्धा ही सम्यक्त्व है, वही ज्ञान है, उसी में लीन होना ही चारित्र है।

★ पर पदार्थों में रागभाव धारण कर तू कभी दुःखी होता है तो कभी सुख का अनुभव करता है किन्तु पर पदार्थ एकान्ततः कभी भी दुःख या सुख का कारण नहीं है यह तेरी भूल है तू पर पदार्थों से राग छोड़। तभी सुख का मार्ग प्रारम्भ होगा।

★ हे आत्मन् ! जिन पदार्थों से तेरी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है जो तेरा अनुकरण नहीं करते हैं, उन पदार्थों में तू अनिष्टपने की कल्पना करके द्वेष भाव धारण करता है किन्तु वास्तविकता यह है कि पर पदार्थ नहीं तेरा आत्म परिणाम या उसका फल कर्म का उदय रूप परिणति एवं उसमें इष्टानिष्ट की कल्पना ही दुःख का हेतु है, तू उसे छोड़ जिससे शाश्वत् सुख को प्राप्त कर सके।

★ हे मीत ! तू शास्त्र, डायरी, पेन, पिच्छी, कमण्डल, चटाई/संस्तर, वसतिका या स्वादिष्ट आहार, भक्तों में राग-भाव करता रहा, उन्हें अपने साथ एकमेक मानता रहा। उनके संयोग पर प्रसन्न व वियोग पर खेद खिन्न भी हुआ। जरा सोच ! क्या ये पुद्गल स्कन्ध कभी तेरे हो सकते हैं। भूतकाल में वे तेरे नहीं थे। भविष्य मे भी तेरे नहीं रहेंगे....। वर्तमान काल में भी तेरे नहीं हैं।

★ हे आत्मन् ! पर पदार्थों को भी तू अपने अनुसार परिणमन कराना चाहता है, किन्तु पर पदार्थों का परिणमन कभी तेरे अनुसार नहीं होगा अतः तू पर को पर मानकर उन्हे अंतरंग से छोड़ दे।

★ हे विवेकशील आत्मन् ! पर पदार्थों को बाहर से छोड़ना तो आसान है, किन्तु मात्र बाहर से छोड़ने वाला भेद विज्ञानी नहीं है अपितु जो अन्दर व बाहर दोनों ओर से छोड़ देता है वही सच्चा भेद विज्ञानी है।

★ हे मीत ! यह शरीर जो गर्भ से ही तेरे साथ है इसे तू अपना मानता रहा किन्तु यह शरीर भी तेरा नहीं है। शरीर को अपना मानना ही संसार का कारण है, जब तक शरीर और आत्मा में एकत्व बुद्धि को दूरकर भेद विज्ञान को प्राप्त नहीं करोगे, तब तक तुम्हें सम्यक्त्व नहीं मिलेगा।

★ भेद विज्ञान भी बिना देव शास्त्र गुरु के नहीं होता। अतः देव शास्त्र गुरु ही भेद विज्ञान कराने में निमित्त हैं, बिना निमित्त के नैमित्तिक कार्य नहीं होता।

(87) यश-अपयश

★ हे आत्मन् ! यशः कीर्ति व अयशः कीर्ति ये दोनों नाम कर्म की प्रकृति हैं, किसी भी प्रकृति का उदय स्थाई नहीं रहता, न जाने कब किस प्रकृति का उदय हो जाये, अतः कभी भी किसी भी कर्म के उदय में फूलना नहीं चाहिए।

★ यशः कीर्ति कर्म का बंध पूर्व काल में की गई आत्म-निन्दा एवं गुणी जनों की प्रशंसा से हुआ है इसके विपरीत कार्य करने से अयशः कीर्ति का बंध होता है।

★ हे आत्मन् ! सदैव आत्म हित के कार्य में प्रवृत्त रहो। आप यश, अपयश की चिन्ता मत करो क्योंकि यशः कीर्ति प्रकृति से कल्याण होना नियामक नहीं है तथा अयशः कीर्ति के उदय में कल्याण न हो ऐसा भी नियम नहीं बना सकते।

★ हे आत्मन् ! पूर्व काल में कई महापुरुष ऐसे हुऐ जिनकी दुनिया ने निन्दा की, अपमान किया व उपसर्गादि किये किन्तु वे अपने मार्ग से च्युत नहीं हुए और कालान्तर में कल्याण को प्राप्त हुए।

★ हे आत्मन् ! कर्मोदय की अवस्था क्षणिक/अनित्य है। आज जिसका यशकीर्ति कर्म का उदय है कल उसका अयशकीर्ति कर्म का भी हो सकता है।

★ हे आत्मन् ! तू अयशः कीर्ति कर्म के उदय से क्यों घबराता है, क्या अयशकीर्ति कर्म के उदय वाले मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए ?

★ हे आत्मन् ! जब तक तुझे यश की चाह एवं अपयश से बचने का भी विकल्प है तब तक तू निजात्म में नहीं रम सकेगा।

★ हे आत्मन् ! देख वारिषेण, शिवभूति, सीता, द्रोपदी, सोमासती, अंजना, सुदर्शन सेठ, अंजन चोर, विद्युच्चर चोर आदि महापुरुष व सतियों की

निन्दा या अयश संसार में व्याप्त हुआ पुनः वे अगले ही क्षण यशकीर्ति की अवस्था को प्राप्त हुये।

★ हे आत्मन् ! यश की चाह करने से यशः कीर्ति कर्म का उदय नहीं होता। यश, ख्याति, पूजालाभ, पद, प्रतिष्ठा आदि की चाह भी अशुभ है और इससे अयशकीर्ति कर्म का ही बंध होगा, अतः परम विरक्त भाव से साधना कर इसी में कल्याण है।

★ हे आत्मन् ! पूर्वकाल में कई ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने दुर्धर तप एवं कठोरतम साधना की। जो सिद्धान्त के पारगामी एवं चारित्र शिरोमणि थे, किन्तु फिर भी उनका यश संसार में नहीं फैला। दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति रहे जिनके सामान्य कार्य की प्रसिद्धि भी आज विश्व में व्याप्त है।

★ हे आत्मन् ! जो प्राणी आज विख्यात है वह कल कुख्याति भी हो सकता है तथा कुख्यात प्राणी विख्यात भी हो सकता है। कब किस कर्म का उदय हो जाये, कह नहीं सकते। आज के विशुद्धतम परिणाम पूर्व के अयशकीर्ति कर्म को यशकीर्ति में एवं अशुद्ध तम परिणाम यशकीर्ति प्रकृति को अयशकीर्ति में परिवर्तित भी कर सकते हैं। अतः सदैव विशुद्ध परिणाम रहें, जो संवर व निर्जरा के कारण हों।

★ हे आत्मन् ! आत्मा का कल्याण अपने विशुद्ध, विशुद्धतर व विशुद्धतम परिणामों पर आधारित है, उसके लिए यशकीर्ति आदि कर्म के उदय की कोई आवश्यकता नहीं है।

> **उच्चै गोत्रं प्रणते भोगो दानादुपासनात्पूजा।**
> **भक्ते: सुन्दर रूपं स्तवनात्कीर्ति तपोनिधिषु ॥115॥ र.श्रा.**
>
> **अर्थ**— तप ही जिसका धन है, ऐसे तपोनिधियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र, दान देने से भोग सामग्री, उपासना से प्रतिष्ठा, भक्ति से सुन्दर रूप, स्तवन से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

(88) निश्छल मुस्कान

★ मुस्कान एक ऐसी चुम्बकीय शक्ति है, जिससे प्राणी बरबस ही आकर्षित हो जाते हैं, अन्तर में कषाय की गांठ भी नहीं बंध पाती।

★ मुस्कराने में कुछ खर्च भी नहीं होता है, किन्तु इससे लाभ अनेकों होते हैं, जो इसे पा लेता है, वह मालामाल हो जाता है, देने वाला कभी दरिद्र नहीं होता।

★ विश्व में कोई मनुष्य इतना धनी खोजना कठिन है, जिसका बिना मुस्कराहट के काम चल जाये, वह अवश्य ही दिन में कभी न कभी मुस्करायेगा, भले ही स्वप्नों में मुस्कराये, अन्यथा वह पागल हो जायेगा।

★ संसार में इतना दरिद्री खोजना भी कठिन है जिसके पास मुस्कराहट रूपी धन न हो, यह धन सभी को प्राप्त है, किन्तु यह उसके स्वविवेक पर निर्भर है कि वह उसका कितना सदुपयोग करता है।

★ नित्य ही मंद-मंद व मधुर मुस्कराने वाला व्यक्ति प्रायः स्वस्थ ही रहता है, उसके चेहरे पर सदैव आनन्द की रेखायें दृष्टिगोचर होती हैं।

★ मधुर मुस्कान मन के विकल्पों को दूर करने की अचूक औषधि है, मन के विकल्पों के अभाव हो जाने से ब्रेनहेमरेज, हार्ट अटैक, डायबिटीज जैसे भयानक रोगों से मुक्ति मिल जाती है।

★ प्रेमभरी निश्छल, मधुर मुस्कान को देखकर शत्रु के मन में भी मित्र बनने के परिणाम हो जाते हैं, क्रोध, मान, क्रूरता भरी दृष्टि से सगे भी शत्रु बन जाते हैं।

★ मुस्कराहट एक क्षण में उत्पन्न होती है, परन्तु मधुर स्मृति हमेशा के लिए छोड़ देती है, वह आपकी निश्छल मुस्कान भरे चेहरे का जब स्मरण करेगा, आनन्द से सराबोर हो जायेगा।

★ निश्छल मुस्कराहट व हार्दिक प्रसन्नता के साथ ही परिणामों विशुद्धि संभव है, धर्मध्यानादि शुभ कार्यों में मन की एकाग्रता भी हो सकती है कषायवश तो प्रायः पापास्रव व दुर्ध्यानादि का ही कारण होता है।

★ मुस्कराहट थके के लिए विश्राम है, रोगी के लिए औषधि है, हतोत्साहित के लिए दिन के प्रकाश के समान शुभ प्रेरणा है, संकीर्णता के केन्द्र में जीने वाले के लिए मुक्ताकाश के पंछी के आनन्द के समान है।

★ मुस्कराहट आपत्ति, विपत्तियों का प्रतिकार है, कष्टों व दुःखों से जूझने वालों के लिए सुखद संबोधन है, अपनी क्षेम कुशल बताने व दूसरे की पूछने के लिए यह शिष्टाचार है, यह अतिथि स्वागत करने की सर्वोत्तम विधि है, बिना मुस्कान सब मुर्दे के समान हैं।

★ मुस्कराहट परिवार में सुख उत्पन्न करती है, व्यापार में ख्याति बढ़ाती है, राजनेताओं को लोकप्रिय बनाती है एवं अनुशासकों के चरणों में जनता को/अनुशासितों को समर्पित करा देती है।

★ मधुर व निश्छल मुस्कान पैसे देकर खरीदी नहीं जा सकती, भीख में माँगी नहीं जा सकती, उधार नहीं ली जा सकती और न ही चोरी-डाका या दबाव से मिल सकती है यह तो सरलता व वात्सल्यता से लबालब भरे हृदय सरोवर की शीतल हवा है जो सहजोत्पन्न ही होती है तभी शुभ है।

★ हंसना कभी-कभी शिष्टाचार के विरुद्ध भी हो सकता है, हानिकर भी हो सकता है किन्तु मुस्कान कभी अहितकारी नहीं होती यदि वह निश्छल, मधुर एवं हृदय से उत्पन्न हुई है तो।

★ लोकोपचार वश बनावटी मुस्कराहट करने से उसमें मधुरता नहीं कड़वाहट आ जाती है, इस मुस्कान की भाषा एव रहस्य को पशु-पक्षी भी जानते हैं, मनुष्य जानता है या नहीं, वह स्वयं सोचे ....।

★ यदि आप चाहते हैं कि मुझसे मिलने वाले व्यक्ति, हार्दिक प्रेम, विनय व आदर से मिलें तो आप भी उनसे मधुर मुस्कान से मिलकर हार्दिक स्वागत करें।

★ आपकी मुस्कराहट ही आपको संघर्षों मे सहायता दे सकती है, मुस्कराने वालों के लिए अनेकों सहयोगी बन जाते हैं किन्तु रुआँसे (उदास) चेहरे वालों से घर वाले भी कतरायेंगे।

★ हे आत्मन् ! आप ऐसे मत मुस्कराइये कि आपकी मुस्कराहट को कोई छीन ले और आपको जिन्दगी भर रोना पड़े।

(89) मधुर भाषण

★ चंदन की शीतलता एवं मिश्री की मधुरता से अधिक शीतल व मधुरता युक्त संत जनों के हित, मित, प्रिय वचन होते हैं।

★ मधुर भाषण एक ऐसी अमृत वर्षा है जिसके माध्यम से क्रोधाग्नि एवं विषाद, शोक, संताप स्वतः ही शांत हो जाते हैं।

★ मधुर भाषण शत्रु को मित्र व मित्रों को आत्मीय बनाने का कारण तो है ही, इसके साथ ही स्वयं के लिए भी आत्मशांति व सुख का स्रोत है।

★ हे प्रभो ! संसार में वे प्राणी कितने दरिद्र हैं, जो दूसरों के स्वागत में दो मधुर शब्द भी नहीं बोल सकते, उनसे और कुछ भी उम्मीद करना व्यर्थ एवं निराशाजनक ही है।

★ कोई तुम्हें तीन लोक की सम्पत्ति भी दान में क्यों न दे दे किन्तु वह मधुर भाषण से अधिक सुखकर नहीं हो सकती, अतः मधुर शब्दो के बिना अन्य कुछ ग्रहण करना भी अनुचित ही है।

★ मधुर भाषण का आशय यह नहीं कि अन्दर में छल-कपट भाव को छिपाकर ऊपर मधुर बोलना जैसे कि 'मुख में राम बगल में छुरी।'

★ मधुर वचनालाप का आशय है कि हृदय की सरलता, शरीर की सहजता से युक्त होकर मधुर वचनों का प्रयोग करना।

"मन में होय सो वचन उच्चरिये, वचन होय सो तन सो करिये।"

★ मधुर भाषण स्व पर की शांति के साथ-साथ गुणों का आकर बनने की कला है, इसके माध्यम से विनम्रता, सहजता, प्रेम, मैत्री, वात्सल्य, सदाचार, संयम, साहस, धैर्य, मन की निर्मलता, गुण ग्राहकता इत्यादि गुण स्वतः प्राप्त हो सकते हैं।

★ मधुर वचन बोलने का आशय असत्य बोलना नहीं किन्तु सत्य को ही सुसंस्कारित, सीमित शब्दों में, मर्यादा के अनुसार बोलना है।

★ अभद्र, कटु, निंदा व आलोचनात्मक तीखे शब्द जो बाणों के समान चुभने वाले होते हैं वे तुम्हें पसंद नहीं, तो दूसरे को भी क्या पसंद होंगे ?

★ कड़वे वचन व खोटा पैसा कोई भी ग्रहण करना नहीं चाहता, जिसको भी दिये जायें वह तुरन्त वापिस कर देता है, अतः किसी को मत दो जिससे तुम्हें पुनः वापिस मिले।

★ आर्य पुरुष वचनों के माध्यम से ही सज्जनता व दुर्जनता की पहचान कर लेते हैं, रूपरंग की महत्ता नहीं, वचनालाप ही हमारी अंतः स्थिति का ज्ञान करा देता है। जैसे—कांसे व रांगा की पहचान, कोयल व कौए की पहचान ध्वनि से ही हो जाती है।

★ मधुर भाषण एक ऐसा वशीकरण मंत्र है, जिससे विश्व को भी अपने वश में किया जा सकता है एवं कटुक, निंदित व व्यर्थ के शब्द बोलना अपने शत्रु पैदा करना है।

★ मधुर शब्दों का तिरस्कार कर जो कडवे शब्दों का प्रयोग करते हैं वे उसी वैद्य के समान हैं जो मधुर अनेकों औषधियों को छोड़कर कड़वी औषधि देता है, जो काम मधुर औषधि से न हो तब कड़वी औषधि देना श्रेष्ठ है किन्तु कड़वी देकर मधुरता का अपमान अनुचित है।

★ सज्जन का अपमान करके दुर्जनों का सम्मान सज्जन नहीं दुर्जन ही करेगा, सज्जन का तिरस्कार करने वाला सज्जनता को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रिय वाक्य प्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति मानवाः।
तस्मात् तदैव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रता॥

अर्थ— प्रिय वाक्य सभी मानवों को संतोष प्रदान करते हैं, इसलिए सदा प्रिय वाक्य ही बोलना चाहिए, वचनों में दरिद्रता क्यों ?

(90) मानवता

★ मानवता से जो सहित हैं वे ही सच्चे मानव हैं, जिनमें मानवता नहीं वे तो नाममात्र के मानव हैं, जैसे—कागज की नाव।

★ जिस प्राणी के अन्दर दूसरे प्राणी के सुख-दुःख को अनुभव करने की शक्ति नहीं ऐसे प्राणी संवेदन शून्य मानवाकार पशु ही हैं।

★ वे मानव लाख गुने अच्छे हैं, जिनके नेत्रों में दूसरे प्राणियों को दुःखी देखकर दो आंसू ढुलक जाते हैं, वे मानव तो पत्थर की मूर्ति ही हैं जिनकी आँखे नम भी नहीं होती।

★ आज विश्व में मानवों की नहीं किन्तु मानवता की कमी है, प्रतिदिन मानवो की संख्या तो बढ़ रही है किन्तु मानवता का ह्रास ही हो रहा है, यह एक चिंताजनक/शोचनीय बात है।

★ मनुष्य की रक्षा करने वाला वह बन्दर उसी मनुष्य से श्रेष्ठ था जिसने उसे धोखे से, अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए, शेर के सामने धकेल दिया था।

★ जैसे उष्णता से युक्त होने पर अग्नि संज्ञा सार्थक है, जीवत्व से सहित ही जीव हो सकते हैं, उसी प्रकार मानवता सहित ही मानव होता है।

★ यदि तुमने अपने उपकारी के साथ ही उपकार किया है, तो इतना मात्र करने से आप मानवता से युक्त नहीं हो गये, यह तो स्वार्थमय व्यवहार हो गया, किन्तु मानवता तो प्रत्येक प्राणी का उपकार करने का संकेत देती है।

★ यदि कोई व्यक्ति किसी मानवता शून्य मानव की हत्या करता है तो वह हत्यारा कहलाता है और अदालत से उसे कठोरतम दण्ड दिया जाता है। क्या कभी आपने मानवता के हत्यारों को दण्ड देने का सोचा ? यदि नहीं तो क्यों नहीं ? क्या मानवता का संहार मानव संहार से बढ़कर नहीं है ?

★ मानवता से युक्त मानव ही दूसरे व्यक्ति की मानवता को जान सकता है, जो दानवता में जीने वाला है, उसे तो सब दानव सरीखे ही दिखते हैं, यह सत्य ही है कि "शैतानो" की बस्ती में भगवान नहीं बसते। भगवान को देखने की क्षमता भी भक्तो के पास/भावी भगवानों के पास ही होती है।

★ मानवता या मानवपन पाकर ही मानव पनप सकता है। इतिहास साक्षी है कि मानवपन पाकर ही मानव पनपा था।

स्थान भृष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत्॥

अर्थ— दाँत, केश, नख और मनुष्य आदि अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाते हैं, तो वे शोभा नहीं देते, अस्तु इस तत्व को भली भांति समझकर बुद्धिमान पुरूष को अपना स्थान कर्तव्य धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

* * *

रागो दोसो मोहो कसाय पेसुण्ण संकिले सो य।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो या॥११४॥ भ० आ०
जंपण परिभव णियडि परिवाद रिपु रोग सोग धण णासो।
विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खवहा दोसा॥११५॥भ० आ०

अर्थ— राग, द्वेष, मोह, कषाय, पैशून्यता-चुगली करना, संक्लेशता, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया-दूसरे के गुणों को न सह पाना, चोरी, कलह, वृथा बकवाद, तिरस्कार, ठगना, बंचना, पीठ के पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धन नाश, इत्यादि सब दुःखदायी दोष विषयासक्त व्यक्ति में सुलभ होते हैं।

(91) दृग-दृष्टि-दृष्टा

★ चाम की आँखें चाम पर ही टिकी रहती हैं और वे वासना को पैदा करने वाली ही होती हैं। हमें शिवधन पाना है तो राम की आँखें अनिवार्य हैं, धर्म के नेत्रों के बिना धर्म दृष्टिगोचर नहीं हो सकता।

★ यथार्थ नेत्र वे ही हैं जिनसे सदैव करुणा का जल छलकता है, जिसके नेत्र दीन दुखियो को देखकर द्रवित नहीं होते, वे नेत्र धर्म के नहीं, पाषाण से भी बदतर अधर्म के ही हैं।

★ जो निःस्वार्थ प्राणियों का उपकार करते हैं, जिनके पास धर्मात्मा की परख होती है, जो धर्म को उपलब्ध कर चुके हैं, वे ही नेत्र वास्तव में नेत्र हैं।

★ जो बाहर से अंधे हैं और सत् श्रद्धा व ज्ञान के नेत्रों से युक्त हैं, उन्हें अंधा नहीं कहना चाहिए, वास्तव में अंधे तो वे ही हैं जिनके अन्दर के नेत्र अभी तक बंद हैं।

★ एक अंधे ने आँखो वाले उन बालकों से कहा (जो अंधों को परेशान करते थे, उनकी लाठी को छुपा देते थे) "बच्चों तुम आँखों का सदुपयोग करो अन्यथा मेरे जैसे अंधे हो जाओगे, तो दो नेत्रों को तरसोगे।"

★ आज तुम्हें अपने चर्म नेत्रों का मूल्य मालूम नहीं, इसलिए इनका दुरुपयोग कर रहे हो, जब नेत्रहीन हो जाओगे तब क्या कर पाओगे ?

★ अपने पास नेत्र नहीं तो सारी सृष्टि शून्य के समान ही प्रतिभासित होती है, सृष्टि की कीमत सृष्टि के होने से नहीं, मेरे नेत्रों के होने से है।

★ जब दृष्टि बदल जाती है, तो सृष्टि भी स्वतः ही बदल जाती है।

★ हमारा कल्याण सृष्टि के बदलने या न बदलने से नहीं अपितु हमारा कल्याण तो अपनी दृष्टि के बदलने से ही संभव है।

★ वे प्राणी धन्य हैं, जिनके पास समीचीन श्रद्धा व ज्ञान के नेत्र हैं तथा निर्मल करुणा के नीर से परिपूर्ण दृष्टि है। किसी भी प्राणी को रोते देख वह करुणा का नीर बरसा जाता है।

★ दृग वे ही सार्थक होते हैं, जिनमें दृष्टि हो, दृष्टि से शून्य दृग होना न होने के समान ही है।

★ वे दृष्टा महापुरुष धन्य हैं, जिन्होंने स्वयं को ही दृश्य बनाया है, स्वयं की दृष्टि से स्वयं को देख चुके हैं क्योंकि स्वयं को देखे बिना सारे जग को देखना भी व्यर्थ है।

★ दृग व दृष्टि से रहित पुरुष दृष्टा नहीं हो सकता और दृष्टा बने बिना ज्ञाता बन पाना असंभव ही है, सर्वस्व का दृष्टा ही सर्वस्व का ज्ञाता हो सकता है।

★ जो सर्वदृष्टा है वह नियम से सर्वज्ञाता / सर्वज्ञ होता है, जो निजज्ञ नहीं बना वह कभी सर्वज्ञ बन नहीं सकता, अत: स्व के दृष्टा व स्व के ज्ञाता बनना ही श्रेयस्कर है।

★ नेत्रो को प्राप्त करना यद्यपि दुर्लभ है किन्तु इससे भी अधिक दुर्लभतम है, उन नेत्रों का सदुपयोग कर लेना अर्थात् सर्वदृष्टा के नेत्रों में धूल नहीं झोंकना।

★ चर्म के नेत्र तो चतुरिन्द्रिय से लेकर संज्ञी, पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों के पास हैं किन्तु धर्म के नेत्र तो विरलो के ही पास होते हैं।

आप्तागम मुनींद्राणां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम्।
शंकादि दोष निष्क्रांत गुणाष्टक विभूषितं॥

अर्थ—आप्त, आगम और मुनिराजों का शंकादि दोषों से रहित तथा निशंकिकतादि गुणों से सहित जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है।

(92) साम्यभाव

★ इष्ट व अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष का परिहार करना ही समता भाव है।

★ जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, कंचन-कांच, महल-श्मशान, निदक-प्रशंसक, घातक-प्राणदायक, दोनों परस्पर विरोधी पदार्थों में समभाव रखना समता है।

★ समता-श्रमणों का मूल गुण है, समता से रहित मुनित्व, काष्ठ के हाथी, कागज के घोड़े व मानचित्र के नदी, सागर पर्वत एवं जिन पूजा व गुरु उपासना से रहित जैन के समान है।

★ समता से रहित श्रमण यदि वर्षों अनशन तप करें, निर्जन वनों में, गिरि गुफा, कंदराओं में वास करें, जीवन भर मौन व्रत धारण करें फिर भी श्रमणपना सार्थक नहीं होता।

★ जो मुनि समत्व भाव की साधना करते हैं, पर पदार्थ के प्रति बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष का त्याग कर चुके हैं, नित्य शुद्धोपयोग में लीन रह आत्मा के रसास्वादन में निमग्न हैं वे उत्तम समाधि को प्राप्त कर पाते हैं।

★ अच्छे-बुरे की कल्पना ही राग-द्वेष की जननी है, राग-द्वेष के उत्पन्न होते ही समता उसी प्रकार भाग जाती है जैसे सूर्योदय होते ही अंधकार भाग जाता है।

★ समता भाव को प्राप्त करने के लिए हे आत्मन् ! तुम पदार्थों में अच्छे बुरे की कल्पना व इष्टानिष्ट की बुद्धि को छोड़ो।

★ संसार में विद्यमान अनंतानंत द्रव्य एकान्ततः न तो अच्छे हैं और न ही बुरे अपितु वे जैसे हैं वैसे ही हैं। हम कभी उन्हें इष्ट मान लेते हैं तो कभी अनिष्ट।

★ पर पदार्थ के प्रति हमारी जैसी दृष्टि होती है, पदार्थ हमें वैसा ही दिखता है, अतः पदार्थ जैसा है वैसा ही देखने का नाम है समत्व परिणाम।

★ हे निर्णय सागर ! निर्णायक बुद्धि ही राग-द्वेष की जननी है, निर्णय का अर्थ है अच्छे-बुरे का फैसला। अतः निर्णायक बुद्धि का त्याग किये बिना समता को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

★ हे आत्मन् ! धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश व काल द्रव्य की तरह तू भी यदि साक्षी भाव में जिये तो तू भी अतिशीघ्र आकाशादि द्रव्य की तरह अपनी शुद्ध दशा को पा सकता है।

★ समता परिणाम से रहित श्रमण चेतना से रहित मनुष्य के समान है अर्थात् समता रूपी चेतना जब तक साधु के अंदर है तब तक ही उसे जीवित मानना चाहिए।

★ हे आत्मन् ! श्रमणपने को प्राप्त कर यदि तुम ही समता भाव धारण न करोगे तो क्या समता भाव को श्रावक धारण करेगा ?

★ पर पदार्थ की आसक्ति से युक्त होकर अनशन करने की अपेक्षा समता भाव पूर्वक आहार ग्रहण करना हजार गुना बेहतर है।

★ हे आत्मन् ! समता भाव को प्राप्त करने के लिए तुम स्व पर की चेष्टाओ के ज्ञाता दृष्टा बनो, भोक्ता नहीं क्योंकि कर्तृत्व व भोक्तृत्व बुद्धि अहं की या विषाद की जनक है और अहं या विषाद रूप परिणाम भी राग-द्वेष के ही रूप हैं।

★ हे आत्मन् ! निजात्मा में निर्झरित परमानंद के झरने में यदि अवगाहन करना है तो तुम्हें ज्ञाता-दृष्टा बनकर ही रहना चाहिए। संचालक, निर्माता या निर्णायक नहीं।

★ हे आत्मन् ! जब तक निजात्मा में विद्यमान परम आह्लाद स्वरूप स्वाभाविक आनन्द के सागर में डुबकी नहीं लगाएगा तब तक तुझे राग-द्वेष की शीत व उष्णता नियम से संतापित करेगी।

★ राग-द्वेष के खट्टे-मीठे-चरपरे-कषायले या कड़वे पदार्थों से बचना है तो निजात्मा के परम सुख में लीन हो आत्म रस को पी।

★ हे आत्मन् ! समता एक ऐसा गुण है जिसके सामने संसार के सब शत्रु स्वतः ही मित्रवत् इष्ट बन जाते हैं, मोही प्राणी में अनासक्त भाव पैदा हो जाता है।

★ हे आत्मन् ! सातिशय पुण्योदय एवं तीव्र पापोदय में समता धारण करने वाले श्रमणराज ही परम समाधि को प्राप्त कर निज स्वभाव को लख पाते हैं अतः सातिशय पुण्य व तीव्र पापोदय को भी क्षणिक मान समता धारण कर।

★ जो तीव्रपापोदय में कूलता नहीं है, सातिशय पुण्योदय में फूलता नहीं है तथा कभी भी आत्म स्वभाव को भूलता नहीं, वह संसार के झूले में भी झूलता नहीं है।

सद्दृष्टि ज्ञानवान प्राणी निर्ममत्वेन संयमी।
तपस्वी च भवेत्तस्मान् निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥

अर्थ— निर्मम भाव से प्राणी सम्यग् दृष्टि ज्ञानवान् संयमी और तपस्वी होता है अतः निर्ममत्व भाव का चिन्तवन करना चाहिए।

* * *

निर्ममत्वं परं तत्त्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखम्।
शीलं खरोधनं तस्मान् निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥

अर्थ— निर्ममत्व परम तत्व है, ध्यान है, व्रत है, सुख है, शील है, और इन्द्रिय निरोध है, अतः निर्ममत्व का चिन्तन करना चाहिए।

* * *

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिट्ठवेदिय अकंपं।
सुह संकप्प पयारं च कुणदि सज्झाय सण्णिहिदं॥१४१॥ भ० आ०

अर्थ— इस प्रकार दुष्ट मन को जो रागादि से निवारण करता है, और निश्चल रूप से श्रद्धान रूप परिणामादि में स्थापित करता है। तथा शुभ संकल्पों में मन को प्रवृत्त करता है, और स्वाध्याय में मन को लगाता है, उसके सामण्ण-समता भाव होता है।

(93) भोग-विलास

★ पंचेन्द्रियों के विषयों में आकण्ठ डूबे रहना, आसक्ति से भोगना नरकों के दुःखों को आमंत्रण देना है।

★ भोग उसे कहते हैं जो इन्द्रिय के विषय भूत पदार्थ एक बार ही सेवन किये जा सकें, जो पदार्थ पुनः पुनः सेवन किया जा सके उसे उपभोग कहते हैं।

★ विलासिता पूर्ण जीवन प्रमाद का जनक है, इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाला एवं पुरुषार्थ का घातक होता है।

★ भोगों के माध्यम से जीव विराधना, धर्म की आसादना नियम से होती है तथा भोगों को नहीं योगों को भुक्त बना देते हैं।

★ भोगों से विरक्त पुरुष ही जिनाराधना, संयम साधना, कर्म विराधना करने में समर्थ हो पाते है, पंचेन्द्रिय विषयों में भोगासक्ति भी पाप ही है।

★ भोग ही भव रोगों की जननी होती है, विलास-विनाश की जड़ है विलासी जीवन, विकासी और विश्वासी जीवन नहीं बन पाता।

★ यदि संसार भ्रमण का कारण और दुःखों का मूल हेतु जानना चाहते हो तो वे हैं मनोहर भोग एवं तत्त्व ज्ञान विनाशक विलास।

★ जो मानव आज भोग विलासों में लीन हैं वे दया धर्म से विहीन हैं, मोक्षमार्ग में दीन हो गये, दुःखों में ही अनंतकाल के लिए विलीन हो गये।

★ हे मानव ! जिस पुण्य के उदय से तुमने आज अनुकूल सामग्री प्राप्त की है, आज उसी पुण्य की विराधना कर रहे हो ? जरा सोचो ? पाप का फल भोगते समय रोओगे।

★ भोग विलास नरक में प्रवेश कराने वाला एक आकर्षक द्वार है, जो इस द्वार को देखकर आसक्त हो गये वे दीर्घकाल तक के लिए नरकों में सो गए।

★ जो प्राणी वस्तु के लेबल को देखकर वस्तु खरीदता है वह प्राय: धोखा खा जाता है क्योंकि घटिया वस्तु पर ही अच्छा लेबल लगाया जाता है, अच्छी वस्तु पर लेबल की आवश्यकता नहीं होती।

★ उसी प्रकार भोग-विलास नरक पहुँचाने का आकर्षक लेबल है, जो इनके जाल में फंसे, वे ही नरकों के बिलों में धंसे, कर्मों के बंधनों में कसे।

★ भोगी व विलासी मानव पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता क्योंकि यदि वह दयालु, अहिंसक, करुणाशील होता तो दूसरों को दु:खी देखकर भोगो में आसक्त नहीं हो सकता।

★ हे मानव ! तुम्हें ये इन्द्रियाँ भोग-विलास के लिए नहीं, योग विकास और विश्वास के लिए मिली हैं, इनका दुरुपयोग मत करो अन्यथा एकेन्द्रिय, साधारणवनस्पति कायिक (निगोदिया) जीवों में जन्म लेना पड़ेगा।

★ अपने आपको त्यागी/वैरागी/धर्मात्मा/साधक/संत/परोपकारी/दयालु/समाज सेवक/धर्मोद्धारक कहने वाला व्यक्ति भोगी विलासी जीवन नहीं जी सकता यदि भोगी विलासी है तो वह मिथ्याभाषी राजनेता है।

★ हे मूढ़ ! तू इन क्षणिक पौद्गलिक पदार्थों को पाकर क्यों अपना जीवन व्यर्थ गंवाता है ? इन भोगों से किसी को भी तृप्ति नहीं हुई, देवगति के सागरों पर्यंत रहने वाले भोगों से तू तृप्त नहीं हुआ तो इन क्षणिक भोगों से कैसे तृप्त हो सकेगा ?

★ हे भोले प्राणी! तू इन काँच के टुकड़ों के समान भोगों में लीन होकर चिंतामणि रत्न के समान बहुमूल्य जीवन के क्षणों को क्यों गंवा रहा है ?

★ भोग विलासिता में ही यदि सच्चा सुख होता तो तुम्हें अब तक मिल जाना चाहिए किन्तु नहीं मिला। वह सच्चा सुख तो समझो इसमें है ही नहीं, यदि होता तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती जैसे महापुरुष विपुल भोग सामग्री छोड़ दिगम्बर/फकीर क्यों बनते ?

★ हे भोगी मानव ! तू सोचता है कि तू भोगों को भोग रहा है किन्तु तेरी यह सोच मिथ्या है क्योंकि भोगों को तू नहीं भोग सकता वे ही तुझे भोग लेते हैं जिससे युवा से वृद्ध हो जाता है और वृद्ध से मृत्यु अवस्था को प्राप्त करता है।

(94) बाल्यावस्था

★ बाल्यावस्था उस गीली मिट्टी के समान है जिसके हम जैसे चाहें वैसे खिलौने बना सकते हैं।

★ बाल्यावस्था पूरे जीवन काल की श्रेष्ठतम अवस्था है, यदि बाल्यावस्था का कभी अंत नहीं होता तो प्राणी कभी मोक्ष की कामना नहीं करते।

★ बाल्यावस्था अनंत संभावनाओं का पिण्ड है, उसमें जैसा पुरुषार्थ करो वैसा ही कार्य सिद्ध होता है, जिस ओर चल दो उसी ओर की मंजिल प्राप्त हो जाती है।

★ बाल्यावस्था उपजाऊ भूमि के समान है उसमें जैसा चाहो वैसा बीज बो दो, तदनुरूप फल ही आपको प्राप्त होंगे।

★ बाल्यावस्था कोरी स्लेट/कापी, कैसिट, कैमरे की रील, विभिन्न रंग व ब्रुश, सामान्य पाषाण, छैनी, हथोड़ा युक्त अवस्था के समान है जैसा चाहो लिखो, रिकार्ड करो, चित्र खींचो, तस्वीर बनाओ, मूर्ति बना लो, यह सब तुम्हारे पुरुषार्थ व माता-पिता आदि के संस्कारों पर निर्भर है।

★ हे बालको ! देव तुल्य बाल्यावस्था को व्यर्थ ही बरबाद मत करो, तुम्हारा चित्त जिस प्रकार का निर्मल आज बना हुआ है, सदैव वैसा ही बनाये रखने का प्रयास करना।

★ यदि मानव का हृदय सदैव बाल्यावस्था जैसा निर्मल, सरल, सहज, शांत, अनासक्त बना रहे, तो पुनः साधना करने की, परमात्मा को खोजने की, धर्माराधना की कोई आवश्यकता नहीं है।

★ हे मानव ! यदि तू अपना हृदय बाल्यावस्था जैसा शुद्ध नहीं बना सकता तो धर्माराधना करना, संयम साधना करना, पूजा-पाठ, त्याग-तपस्या करना सर्व व्यर्थवत् ही है।

★ जिसकी बाल्यावस्था बिगड़ गई उसका प्राय: सारा जीवन ही बिगड़ जाता है और जीवन भर वह दु:खों का सामना करता रहता है। प्रारम्भ का मार्ग खराब/बीज खराब/पौधा खराब तो फल/अंत भी खराब रहेगा।

★ जीवन गणित के सवाल की तरह होता है, उसमें जीवन के सवाल को हल करते समय यदि प्रारम्भ में ही गलती हो गयी तो वह अंत में सवाल गलत ही रहेगा अत: प्रारम्भ से ही सावधान रहो अन्यथा पूरा श्रम व्यर्थ हो जायेगा।

★ बाल्यावस्था बीज/पौधे के समान है, यदि बीज/पौधा विष रूप है तो उसके पुष्प व फल भी विषमय ही होंगे, अत: बाल्यावस्था को अमृत बीज बनाने का सद् प्रयास करो।

★ जो बाल्यावस्था में सद्ज्ञान, धर्म संस्कारों का, युवावस्था में धन, यश का, वृद्धावस्था में धर्म, संयम, साधना का अर्जन नहीं करते वे अंत में सिर धुन-धुन कर मर जाते हैं।

पक्षिका पक्षतोऽप्यच्छे मांसाच्छादान चर्मणि।
लावण्यं भ्रान्तिरित्येतन्मूढेभ्यो वक्ति वार्धकम्॥ ६९॥ क्ष० चू०

अर्थ— मांस मज्जा को ढकने वाले, मक्खियों के पंख से भी पतले स्वच्छ चमड़े में सुन्दता मानना भ्रम भरी मूर्खता है। इस बात को बुढ़ापा सूचित करता है।

✳ ✳ ✳

त्यज्यते रज्यमानेन राज्येनान्येन वा जनः।
भज्यते त्यज्यमानेन तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम्॥ ६९॥ क्ष० चू०

अर्थ— राज्य, वैभव, स्त्री-पुत्रादि इष्ट पदार्थ मनुष्य को चाहने मात्र से प्राप्त नहीं होते। जो इन इष्ट पदार्थों का त्याग करे, उनके प्रति रागभाव छोड़े तो वे अपेक्षित वस्तुएं त्यागी को सहज ही प्राप्त होती हैं। अत: भेद विज्ञानियों को त्यागभाव स्वीकार करना चाहिए।



(95) संघर्ष

★ संघर्षमय जीवन का अंत भी हर्षमय हो सकता है यदि उन संघर्षों को भी हम समता व धैर्यता से सहन करें तो ......।

★ जो पुरुष संघर्षों से घबरा जाता है ऐसा व्यक्ति महान उपलब्धियों को प्राप्त नहीं कर सकता।

★ संघर्ष ही जीवन है, संघर्ष एक कसौटी है जिस पर जीवन रूपी सोने को कसा/तराशा जाता है, संघर्ष की परीक्षा दिये बिना सफलता असंभव है।

★ संघर्ष रूपी अग्नि मे जलने की सामर्थ्य महापुरुषों में ही हो सकती है, अधम पुरुष तो उससे घबराते हैं, कदाचित् उस संघर्ष अग्नि में गिर पड़े तो जल कर भस्म/खाक हो जाते हैं।

★ अधम पुरुष असत्य के लिए ही जीवन भर संघर्षों में जूझते रहते हैं, तुम महान पुरुष होकर भी सत्य के लिए संघर्षों से क्यों घबराते हो ?

★ हे मीत ! क्या तुम्हें अपने आप पर विश्वास नहीं जो तू संघर्षों से घबराता है। यदि अपनी सत्यता, ईमानदारी, शुद्धता पर विश्वास है तो संघर्ष की अग्नि में कूदने से मत डरो।

★ प्रकृष्ट हर्ष और विषमतम संघर्षों का सामना महापुरुष ही कर सकते हैं क्योंकि चन्द्रमा की तरह वृद्धि व ह्रास की अवस्था महापुरुषों की ही होती है, क्षुद्र तारों जैसे सामान्य पुरुषों की नहीं।

★ ऋषभदेव, भरत, बाहुबलि, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, राम, युधिष्ठर, अर्जुन, सुकौशल, भीम, विभीषण, लव-कुश, ... आदि महापुरुषों ने संघर्षों की अग्नि मे भी समता का शीतल झरना बहाते रहने से ही भगवत्ता/परमात्मपने को प्राप्त किया।

★ वर्तमान काल में भी देखो जिन संत/महापुरुषों ने जितना अधिक संघर्षों का सामना किया वे उतनी ही अधिक पूज्यता को, आत्मोत्थान को प्राप्त हुए हैं।

★ यदि तुम्हारा आयु कर्म पूर्ण हो चुका है तो असत्य का सहारा लेकर भी दीर्घ काल तक जीवित नहीं रह सकोगे और आयु कर्म शेष है तो सत्य का सहारा लेने पर भी कोई नहीं मार सकता, अतएव असत्य की अपेक्षा सत्य का सहारा लेना श्रेयस्कर है।

★ संघर्षों से घबराने वाला निश्चित रूप से असत्यार्थी, बेईमान, कपटी, स्वार्थी व धूर्त होता है, इसके विपरीत स्वभाव वाले व्यक्ति तो संघर्षों को आमंत्रण देकर बुलाते हैं।

★ असत्य का पक्ष लेकर चिरकाल तक जीने की अपेक्षा सत्य के लिए संघर्ष की होली में जलना श्रेष्ठतम है। सत्य के लिए किया गया कार्य युद्ध, धर्म युद्ध एवं संग्राम राम का पैगाम बन जाता है।

★ असत्यार्थी, बेईमान व स्वार्थी व्यक्ति सत्य को दबाना चाहता है, प्रकट करने का साहस नहीं करता, सत्यार्थी प्राण देकर भी सत्य को प्रकट करने का सफल पुरुषार्थ करता है।

★ सत्य के लिए संघर्ष करने वाला पुरुष ही आदर्शोत्तम पुरुष है, उसके पसीने की प्रत्येक बूंद, शरीर का प्रत्येक परमाणु, मनोगत विचार भी वंदनीय व सत्य के प्रेरक ही होते हैं।

सम्पदा महता मेव, महतामेव चापदा।
वर्द्धते क्षीयते चन्द्रो, न तारागण क्वचित्॥

अर्थ— सम्पत्ति महान पुरुषों को ही प्राप्ति होती है और विपत्ति भी महान पुरुषों को ही प्राप्त होती है क्योंकि चन्द्रमा ही बढता है और चन्द्रमा ही क्षीण होता है, किन्तु तारो का समूह न कभी बढ़ता है और न कभी घटता है।

* * *

सज्जनास्तु सतां पूर्वं समावर्ज्याः प्रयत्नतः
किं लोके लोष्टवत्प्राप्यं श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः॥ २/५०॥ क्ष० चू०

अर्थ— कंकड़-पत्थर अथवा मिट्टी के ढेले के समान दुनिया में मूल्यवान और प्रशंसनीय रत्न प्रयत्न के बिना नहीं मिलते। अतः सज्जनों को प्रयत्नपूर्वक सज्जनों का समागम और सम्मान करना चाहिए।



(96) सफलता का रहस्य

★ जो व्यक्ति पूज्य पुरुषों के प्रति श्रद्धा, समर्पण, भक्ति, बड़ों के प्रति आदर सम्मान, समान वय वालों के प्रति प्रेम व मैत्री तथा छोटों के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह जीवन में कभी असफल नहीं होता।

★ जो प्राणी श्रद्धा, लगन, साहस व धैर्यता के साथ प्रारम्भ किये कार्य में निरंतर संलग्न रहता है तो सफलता सदैव उसके कदम चूमने को लालायित रहती है।

★ बड़ों के द्वारा दिया गया प्रोत्साहन, भाग्य की अनुकूलता एवं स्वयं के अंदर का उल्लास सफलता के शिखर तक पहुँचाने वाले सोपान हैं।

★ जो दूसरों की सफलता को देखकर आनंदित होते हैं एवं दूसरों के शुभ कार्य मे सहयोगी बन सफलता की कामना करते हैं उन लोगों के स्वागत के लिए सफलता सदैव पलक पाँवड़े बिछाये बाट जोहती है।

★ दूसरों के शुभ कार्यों में बाधक बन जाना अपने हाथों अपने कार्य की सफलता का गला घोंटना है।

★ उत्तम विचार, विवेकशील बुद्धि, निरंतर उद्यम शीलता, साहस व धैर्य सफलता के आधार स्तम्भ हैं।

★ असफलता निराशा की जनक नहीं अपितु सफलता पाने की शुभ प्रेरणा है, किन्तु उन्हीं के लिए जो हिम्मत नहीं हारते हैं।

★ जो अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का समभाव से सामना करते हैं, शूलों का मार्ग पाकर लक्ष्य को भूलते नहीं एवं फूलों की सेज पाकर फूलते नहीं वे ही मंजिल को पाने में सफल हो जाते हैं।

★ मन की प्रसन्नता, हृदय की शुद्धता, वचनों की मधुरता, शरीर की सहजोत्पन्न शुभ चेष्टा भी शुभ कार्य की सफलता में सहकारी होती है।

★ अपनों के प्रति मोह, दूसरों के प्रति ईर्ष्या, विषम विचारधारा वालों के प्रति वैर भाव, विषयों की आसक्ति, किसी प्रकार का अतिलोभ, मन की चंचलता, हृदय का कपट भाव, छोटी-छोटी बातों पर क्रोधित होना, अहंकार के पोषण का सदैव प्रयास जो पुरुष करते हैं वे अपने हाथों ही सफलता की हत्या कर देते हैं।

पुस्तकं प्रज्ञयाधीतं, नाधीतं गुरु सन्निधौ।
सभा मध्ये न शोभंते, जार गर्भः इव स्त्रियः॥

अर्थ— जो व्यक्ति गुरु के सानिध्य में शास्त्र नही पढ़ता, किन्तु स्वयं की बुद्धि से (स्वेच्छानुसार अर्थ निकालकर) शास्त्र पढ़ता है, वह व्यक्ति विद्वानों की सभा में उसी प्रकार शोभा को प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार सतीयों के बीच में जार पुरुष से गर्भ धारण करने वाली महिला।

* * *

प्रतिमायां शैल बुद्धिः गुरु बुद्धि च मानसः।
मंत्राणां सदाक्षरः स्याद्, नराणां नरके स्थितिः॥

अर्थ— जिन मनुष्यों की बुद्धि जिनेन्द्र की मूर्ति में सामान्य पत्थर, निर्ग्रंथ गुरुओं में सामान्य मनुष्य एवं णमोकारादि महामंत्रों में सामान्य अक्षर की है, उन मनुष्यों ने नरक आयु का बन्ध कर लिया है। ऐसा समझना चाहिए।

* * *

तत्त्वज्ञान विहीनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम्।
न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः॥ ६/१८॥

अर्थ— यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित जीवों के मुनिधर्म भी निष्फल है। निश्चय से चावलादि के बिना अन्य बटलोई, जल, अग्नि आदि साधनों द्वारा अन्नपाक रूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

(97) प्रायश्चित

- ★ स्वयंकृत अपराध का बोध हो जाना एवं भविष्य में ऐसा कार्य न करने का सकल्प लेना ही सच्चा प्रायश्चित है।
- ★ जो स्वय अपराधी है, आत्मशुद्धि हेतु प्रायश्चित भी नहीं लिया एवं पुनः अपराधों की पुनरावृत्ति करने में संलग्न है ऐसे पुरुष से प्रायश्चित लेना न लेने से भी अधिक हानिकारक है।
- ★ प्रमादवश, कषायवश या अज्ञानतावश हुए अपराध को मिथ्या करने हेतु किया गया सम्यक् पश्चात्ताप भी प्रायश्चित ही है।
- ★ प्रायश्चित का अर्थ है अपराधोपरान्त निज चित्त की शुद्धि के लिए किया गया सम्यक् कार्य का संकल्प/नियम/पुरुषार्थ।
- ★ प्रायश्चित लेते समय अहंभाव, विश्वासघात, अपराध को छुपाने के परिणाम या परकीय वस्तु ग्रहण करने वाला लोभ विद्यमान है तो उस प्रायश्चित लेने से भी क्या लाभ ?
- ★ प्रायश्चित चित्त की अशुद्धि, विशुद्धि का ह्रास, मानसिक संक्लेशता, आर्त रौद्रपरिणाम व धर्म की अप्रभावना को दूर करने के लिए लिया जाता है, प्रायश्चित के उपरांत भी यदि उक्त स्थिति रहती है तो वह प्रायश्चित कर्मों की संवर निर्जरा व क्षय का हेतु नहीं अपितु वह पापबंध का कारण है तथा ऐसा प्रायश्चित एक ढोंग है, दिखावा है, व्यर्थ का ही आलाप है।
- ★ प्रायश्चित कर्म मल का प्रक्षालन या त्रुटियों का निरसन/विनाश, अपराध जन्य पापों का क्षय करने के लिए लिया जाता है, यद्दि प्रायश्चित में ही त्रुटि हो या पालने में पुनः अपराध हो तो प्रायश्चित लेने का प्रयोजन ही क्या रहा ?

★ यदि निर्दोष बनने हेतु प्रायश्चित लिया है तो उसको लेने व पालन करने की विधि एवं प्रायश्चित देने वाला भी निर्दोष होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है।

★ प्रायश्चित कोई प्रसाद नहीं जो सभी में बांट दिया जाये और न ही साग भाजी है कि चाहे जिस किसी से खरीद लें।

★ प्रायश्चित दस दोषों से रहित रीति के अनुसार आलोचनादि 10 प्रकार में से कोई भी दिया जा सकता है।

★ प्रायश्चित-अपराधी के मतानुसार, इच्छित न हो, अपितु अपराधों के अनुसार, निर्दोष व श्रेष्ठ आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव को जान कर ही दें।

★ यदि प्रायश्चित देने वाले पर व प्रायश्चित पर व उसके फल पर विश्वास नही है तो प्रायश्चित लेना अंधे की दौड़ के समान व्यर्थ व खतरनाक है।

आगते स्वागतं कुर्यात्, गच्छंते न निवारयेत्।
तिष्ठते भुक्ति दातव्यं, एषः रीति सनातनः॥

अर्थ— अतिथि के आने पर उनका स्वागत करना चाहिए, यदि जाना चाहते हैं तो उन्हें रोकना नहीं चाहिए, और यदि वे ठहरना चाहते हैं तो उनके लिए आहारादि की व्यवस्था करनी चाहिए। यही धर्म की अनादि-निधन रीति है।

* * *

धन का मद

न श्रृणवन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम्।
प्रयान्तोऽपि न कार्यान्तं धनान्धा इति चिन्त्यताम्॥ २/५६॥ क्ष० चू०

अर्थ— धन से अंधे मनुष्य आत्मा की उन्नति के सच्चे मार्ग को न तो सुनते हैं, न जानते हैं और न ही उस पर चलते हैं। कदाचित् सत्पथ पर चलें तो भी कार्य के अंत तक नहीं पहुँचते हैं, ऐसा धनिक पुरुषों के विषय में तुम विचार करो।

(98) कर्त्तव्यशीलता

★ कर्त्तव्यशील मनुष्य ही विश्व मे आदर, सम्मान, प्रशंसा, स्तुति व अर्चना के योग्य होता है कर्त्तव्य हीन नहीं।

★ ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य का पालन करने वाला एक कुत्ता या गधा उस सम्राट से बहुत अच्छा है जो कि कर्त्तव्यच्युत या कर्त्तव्यहीन है।

★ कर्त्तव्यशीलता इसान को भगवान, लघु को गुरु बनने का सुगम उपाय है।

★ कर्त्तव्य की झोली मे ही अधिकारो का पोषण व संवर्द्धन होता है, बिना कर्त्तव्य पालन के अधिकारों का प्रयोग करना स्व पर के साथ छल करना है।

★ अधिकारो को प्राप्त करके जो मनुष्य दूसरों का उपकार नहीं करते, अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते किन्तु अधिकारो का दुरुपयोग स्वेच्छानुसार करते हैं, ऐसे प्राणी धिक्कार करने के योग्य हैं।

★ ''धर्म व धर्मात्मा के प्रति कर्त्तव्यशीलता''—निर्धनों का आभूषण, असहाय जनो का सम्बल, धर्म प्राप्ति का निमित्त, बडों से आदर वात्सल्य पाने का कारण, समानवय वालो से सम्मान प्राप्ति का हेतु एव परमात्मा से मिलने का प्रवेश द्वार है।

★ ''कर्त्तव्य का पालन'' निष्ठा, लगन एव समर्पण के साथ करना चाहिए जिससे कर्त्तव्य आपको पावन बना सके।

★ कर्त्तव्यशीलता शक्कर की मिठास की तरह है, वह जहाँ भी रहेगी मिठास ही देगी, उस शक्कर को दूध, जल, घी, किसी के भी साथ खाओ मुख मीठा नियम से होगा उसी प्रकार कर्त्तव्यशील सुख भोगता रहता है।

★ कर्त्तव्य का पालन करने में भले ही संघर्षों का सामना करना पड़े किन्तु कर्त्तव्य पालन अवश्य करना चाहिए, संकटों को सहन किए बिना आपकी परीक्षा नहीं हो सकती।

★ कर्त्तव्य को भी धर्म कहा है ईमानदारी, सत्यता, नम्रता, सरलता, सहजता, धैर्य, समभाव एवं विवेकपूर्वक कर्त्तव्य का पालन करना धर्म है किन्तु इनसे रहित कर्त्तव्य धर्म नहीं हो सकते।

★ "करने योग्य प्रशस्त कार्य ही कर्त्तव्य कहलाते हैं" जो करने योग्य कार्य नहीं उन्हें कोई कर्त्तव्य मानकर पालन करेगा तो भी वह सुख के स्थान पर दु:ख को ही प्राप्त करेगा।

★ कर्त्तव्य दो प्रकार के होते हैं एक शाश्वत, दूसरे तात्कालिक। तात्कालिक कर्त्तव्य कभी-कभी शाश्वत कर्त्तव्यों से महत्त्वपूर्ण होते हैं।

★ अवसर कर्त्तव्यशील की नहीं अपितु कर्त्तव्यशील, कर्त्तव्य पालन करने के लिए अवसरों की खोज करता है। सुअवसर पर किया गया लघु कर्त्तव्य पालन भी महानता के शिखर तक पहुँचा सकता है।

प्राणान्तोऽपि न भंगतव्य, गुरु साक्षी श्रुतं व्रतं।
प्राणान्ते तत्क्षणे दुखं, व्रत भंगो भवे-भवे॥

अर्थ— प्राणान्त होने पर भी गुरु साक्षी में ग्रहण किये गये व्रतों को भंग नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्राणान्त होने पर तो तत्क्षण में ही दुख होता है। व्रत भंग होने पर भव-भव में दु:ख मिलता है।

* * *

स्तोक दानं सुपात्राय, दत्तं भूरि गुणं भवेत्।
वट बीजं यक्षा क्षेत्रे, तस्माद्देयं विवेकभिः॥

अर्थ— सुपात्र के लिए दिया गया थोड़ा सा दान बहुगणित रूप में फलित होना है, जिस प्रकार उत्तम क्षेत्र (खेत) में बोया गया वट का बीज। इसलिए विवेकी पुरूषों द्वारा सदा सत्पात्रों को दान देते रहना चाहिए।

* * *

णाणं करण विहूणं लिंगग्गहणं च दंसण विहूणं।
संजम हीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि॥ ७६१॥ भ० आ०

अर्थ— आचरण हीन ज्ञान, श्रद्धान के बिना, मुनि दीक्षा और संयम के बिना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है।

(99) गुरु महिमा

★ गुरु ससार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष है, उनकी उपमा भगवान से भी नहीं दी जा सकती क्योंकि भगवान भी बिना गुरु नहीं बन सकते।

★ गुरु महिमा का बखान करना उतना ही कठिन है जितना समुद्र मे बूँदो की गिनती, सुमेरु पर्वत में परमाणु की गिनती अथवा आज तक हुई दिवंगत आत्माओ की गिनती करना।

★ अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट कर सद्ज्ञान प्रकाश देने वाले महापुरुष ही गुरु संज्ञा को प्राप्त होते हैं, जिनमें गुरुत्व भाव विद्यमान हो वे ही गुरु कहलाते है। गुरुत्व भाव से रहित गुरु मात्र नाम के गुरु हैं।

★ विषय, कषाय, आरंभ, परिग्रह, मोह, माया एवं सर्व सावद्य से रहित निर्ग्रंथ संत ही सच्चे गुरु होते है जोकि सदैव सद्ज्ञान, शुभ ध्यान, संयम साधना, गहन तप, धर्म प्रभावना, जिनाराधना व परमात्मा की भक्ति, वंदना, स्तुति मे सलग्न रहते है।

★ सच्चे गुरु ही माता-पिता हैं, गुरु यथार्थ सखा-भ्राता हैं, गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु-महेश है, गुरु ही परम ब्रह्म स्वरूप जीवंत परमात्मा हैं, गुरु ही गुरु होते है लघु नहीं।

★ गुरु की महिमा का कथन एक या अनेक जिह्वा वाला महापुरुष, शताधिक विद्याधारण करने वाला विद्याधर, विपुलज्ञान व ऋद्धि धारण करने वाले गणधर एव साक्षात् बृहस्पति भी नहीं कर सकते।

★ गुरु गरिमा का लेखन सर्वपृथ्वी को कागज, सर्ववृक्षों की कलम एवं सर्व सागरों के पानी को स्याही बनाकर सभी देव लिखें तो भी नहीं लिख सकते।

★ यदि शिष्य में शिष्यत्व गुण विद्यमान है, तो आज भी सच्चे गुरुओं का अभाव नहीं है, जो शिष्यत्व गुणों से रहित है, वही गुरु के गुणों का अनादर व निंदा करता है।

कौन है

★ जो शिष्य गुणों को प्राप्त करने का सत्य इच्छुक है तो वह एकलव्य की तरह मिट्टी की मूर्ति से एवं आ. आदिसागर व शांतिसागर जी की तरह जिन मूर्ति से गुण ग्रहण कर लेते हैं।

★ गुरु संसार से पार करने वाले खेवटिया हैं, अज्ञानतम व्याप्त संसार में प्रकाश स्तम्भ हैं एवं कुम्भकार की तरह मिट्टी के समान शिष्य को वात्सल्य व डांट से योग्य, परमात्मा स्वरूप सुन्दर सुपात्र बना देते हैं।

★ गुरु सागर से गम्भीर, हिमगिरिसम अटल, संयमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, सूर्यसम तेजस्वी, आकाशवत् निर्लिप्त, पवनवत् निसंग, सिंहसमान पराक्रमी, पृथ्वी के समान क्षमाशील, हिरण के समान सहज व सरलता को धारण करने वाले गुण सिंधु होते हैं।

★ गुरु सदैव त्यागमार्ग का ही उपदेश देते हैं, उसी का स्वयं अनुसरण करते हैं व शिष्यों को कराते हैं, कदाचित् उन्होंने कभी विशेष परिस्थिति में अपवाद मार्ग का संकेत किया हो तो उसे अपवाद मार्ग ही जानना चाहिए, राजमार्ग नहीं ?

★ गुरु की वाणी ही मोक्ष मार्ग में दिशा सूचक बोर्ड है, उनकी चर्या जीवंत मोक्षमार्ग है।

गुरु भक्ति

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः॥ २/३२॥ क्ष० चू०

अर्थ— जो रत्न तीन लोक की सम्पदा खरीदने में समर्थ है, उस रत्न से क्या भूसे का ढेर नहीं खरीदा जा सकता ? जो यथार्थ गुरुभक्ति मुक्ति प्राप्ति में परम्परा कारण बन सकती है तो क्या उस गुरुभक्ति से क्षुद्र सांसारिक अनुकूल पदार्थों की सहज प्राप्ति शक्य नहीं है ?



(100) मुनि महिमा

★ आज यदि धरा, अम्बर, जल, वन्हि, मारुत विद्यमान है, तो इसका कारण मुनि का यहाँ विद्यमान रहना है। बिना मुनि के यह सब असंभव सा ही है।

★ यदि संसार में दिगम्बर संत न होते तो यह संसार कब का जल कर भस्म हो गया होता, दिगम्बर मुनि ही विश्व में शांति के हेतु हैं, जहाँ उनका अभाव है, वहाँ सुख शांति का भी अभाव है।

★ जब तक मुनि विद्यमान रहेंगे तब तक गृहस्थ धर्म का लोप नहीं हो सकता, जब तक श्रावक धर्म का पालन गृहस्थ करते रहेंगे, तब तक सुख शांति को प्राप्त करते रहेगे।

★ जहाँ दिगम्बर संतों का मंगल विहार, पापनाशक पुनीत आहार, संसार दु:खहारक मंगल वाणी एवं श्रावको द्वारा उनकी पूजा स्तुति, भक्ति-अर्चना के मंगलगान होते हैं, वह धरा नियम से हरी-भरी सुख-शांतिमय रहती है।

★ जहाँ पर तुम्हे क्रूरता, अत्याचार, अनीति, ईर्ष्या, वैमनस्य, कुटिलतापूर्ण व्यवहार दिखाई दे, प्राणी मात्र दु:ख का अनुभव करता हुआ दिखे, तो समझ लेना वहाँ मुनियों का मंगल विहार एवं पाप ध्वंसिनी आहार चर्या एवं उपदेशों की मंगल गूंज नहीं होती है।

★ सागर की गहराई, शक्कर की मिठास एवं माँ के वात्सल्य को श्रेष्ठ वही कहते हैं जिन्होंने मुनि चरणों में श्रद्धा के साथ बैठने का अवसर प्राप्त नहीं किया।

★ मुनि का आशय प्रत्यक्ष ज्ञानी से है, वे आत्मा का प्रत्यक्ष श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव तो करते ही हैं, यदि ऐसा नहीं है तो उनका मुनित्व बिना बीज के वृक्ष के समान हैं।

★ दिगम्बर संतों के दर्शन, पूजन, उपासना, आहारादि दान व वैयावृत्ति करने की सद्भावना भी बिना पुण्योदय के नहीं बन सकती, फिर जो उनके श्रद्धायुक्त दर्शन, समर्पण के साथ उपासना, भक्तियुक्त आहारादि दान व वैयावृत्ति करते हैं वे तो निःसंदेह पुण्यात्मा ही हैं और उनकी ये क्रियायें भी शुभास्रव, पुण्य बंध, अशुभ कर्मों के संवर व निर्जरा की हेतु हैं।

★ दिगम्बर संतों के दर्शन से सम्यक्दर्शन की, वाणी से सम्यक्ज्ञान की व आशीर्वाद (चर्यावलोकन) से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। वह संत ही रत्नत्रय स्वरूप हैं, साक्षात् मोक्षमार्ग हैं।

★ दिगम्बर संतों को नवधाभक्तिपूर्वक सप्त गुणों से युक्त हो, जो दाता आहार दान देता है वह उत्तमोत्तम भोगों को, औषधि दान देने से शाश्वत आरोग्यता को, ज्ञान दान देने से अनंत ज्ञान (केवल ज्ञान) को, आवास/अभय दान देने से तीन लोकों में अभय स्थान को, साधना में सहायक उपकरणों को देने से संयम व धर्म में उपयोगी समस्त साधनों को प्राप्त करता है।

★ मुनिराजों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र की, पूजा करने से पूज्यता की, विनय करने से उच्च व श्रेष्ठ पदों की एवं वैयावृत्ति करने से वज्रवृषभ नाराच संहनन की प्राप्ति होती है।

★ अधिक क्या कहें जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएं, अनुकूलतायें, उत्तमोत्तम तीर्थंकर, अर्हंत, सिद्ध जैसे पदों की प्राप्ति भी दिगम्बर संतों के माध्यम से ही होती है।

स्वाध्याय

णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिण सासणे दिट्ठो॥ ७६८॥ भ० आ०

अर्थ— ज्ञान—संसार, संसरण के कारण, मोक्ष व मोक्ष के कारणों का प्रकाशक है। तप निर्जरा का कारण है, संयम गुप्ति कारक है, इन तीनों के मिलने पर ही जिनागम में मोक्ष कहा है।

(101) शिष्टाचार

★ शिष्टाचार प्राणी का एक ऐसा गुण है जिसके माध्यम से प्राणी शत्रु को भी मित्र बना लेता है, वह अपने शिष्ट आचरण से दूसरे प्राणी के जीवन में अमिट छाप छोड़ देता है।

★ शिष्टाचार का आशय जी हजुरी या चापलूसी करना नहीं अपितु अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए नम्र एवं मृदु भाषा में यथार्थता प्रकट करना है।

★ मयूर की पहचान उसके पंखों से, कोयल की पहचान उसकी मधुर वाणी से होती है, उसी प्रकार सभ्य पुरुष की पहचान शिष्ट आचरण से की जा सकती है।

★ शिष्टाचार शिष्ट व्यक्तियो के प्राण हैं। शिष्टाचार सम्मानित, प्रतिष्ठित, आदर्शमय जीवन का आधार है, अतः शिष्टाचार प्राणवायु की तरह जीवन में रहना चाहिए।

★ आहारदान देने से क्षणभर की शांति मिलती है, धन देने का फल भी अल्पकालीन ही होता है किन्तु शिष्टाचार देने से देने वाला एवं शिष्टाचार ग्रहण करने वाला प्राणी चिरकाल तक सुख शांति को ही प्राप्त करता है।

★ भाषा से देश का, शरीर से भोजन का, मधुर सम्बन्धों से आंतरिक प्रेम का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शिष्टाचार उसके उच्च कुल का परिचायक होता है।

★ शिष्टाचारी पुरुष ही शिष्टाचार का महत्त्व समझते हैं, जो अशिष्ट हैं, सदाचार व धर्म से रहित हैं, उनके लिए तो शिष्टाचार कौवे के लिए दी गई दाख (मुनक्का) के समान हैं।

★ शिष्टाचारी पुरुष माता-पिता, गुरुजन एवं अपने से बड़े पुरुषों की आज्ञापालन, विनय एवं सम्मान करने से कभी चूक नहीं सकते।

★ शिष्टाचारी पुरुष संकटों एवं संघर्षों का सामना करते हुए भी शिष्टाचार को कभी नहीं छोड़ते अपितु उस समय तो वे विशेष रूप से शिष्टाचार का ध्यान रखते हैं।

★ अशिष्ट मित्र की अपेक्षा से शिष्टाचारी शत्रु लाख गुना अच्छा है क्योंकि शिष्टाचारी शत्रु भी अमर्यादित एवं असभ्य व्यवहार नहीं करते।

★ गंध से रहित पुष्प अत्यंत सुन्दर भी हो फिर भी पुष्पों के समूह में सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार शिष्टाचार से रहित पुरुष की गति होती है।

★ जो पुरुष शिष्टाचार से युक्त होते हैं, वे ही पुरुष धर्म की, सुसंस्कृति की, अपने एवं दूसरों के हितों की रक्षा करने में समर्थ हैं, अशिष्ट जनों से कभी ऐसा काम नहीं हो सकता।

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूल मनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषा नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥

अर्थ— ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मंत्र न हो, ऐसा कोई मूल (जड़) नहीं जो औषधि न हो, ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो योग्य न हो, प्रत्येक व्यक्ति में योग्यता होती है। योजना करने वाला दुर्लभ है।

* * *

आसण गओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जा गओ कया।
आगम्भुक्कुडुओ सन्तो पुच्छेज्जा पंजलीउडो॥

उत्तराध्ययन/२२

अर्थ— शासन अथवा शय्या पर बैठे-बैठे कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे किन्तु उनके समीप आकर, उकडू आसन से बैठकर और हाथ जोड़कर जो भी पूछना हो, पूछें।

(102) सदाचरण

★ समीचीन श्रद्धा व यथार्थ ज्ञान से युक्त आचरण ही सदाचार कहलाता है, जो सदैव आत्म शांति, शाश्वत सुख एवं दुःखों को नष्ट करने वाला होता है।

★ सदाचार प्राणों से भी ज्यादा मूल्यवान है या यूँ कहें कि सदाचार आत्मा की अमूल्य निधि है, इसकी रक्षा हेतु धन, तन, लाज, प्रतिष्ठा, सब कुछ देना पड़े तो दे देना चाहिए किन्तु कभी सदाचार न दें।

★ सदाचार के लिए सब कुछ त्याग किया जा सकता है किन्तु सदाचार का त्याग किसी के लिए भी नहीं किया जा सकता।

★ धन-वैभव-इन्द्रिय के विषय और शरीर भी पुनः प्राप्त किये जा सकते है किन्तु जो सदाचार से भ्रष्ट हो गया उसका पुनः निर्दोष सदाचारी होना असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

★ जिस प्राणी का सदाचार चला गया अब उसके पास बचा ही क्या है, जिसे अन्य मनुष्य सम्मान की दृष्टि से देखें ?

★ सदाचार उस सोपान का नाम है जिस पर कदम रखता हुआ इंसान भगवान के द्वार तक पहुँच सकता है, सदाचार के बिना जीवन बिना गंध के पुष्प के समान है।

★ सदाचारी मनुष्य का ही यश संसार में फैलता है, पुण्य की वृद्धि होती है, सम्मान व प्रतिष्ठा स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

★ सदाचारी मनुष्य की वंदना करने के लिए देव भी तरसते हैं किन्तु जो देवों से वंदना कराने के लिए सदाचार ग्रहण करता है, उसका सदाचार पूर्ण सार्थक नहीं है।

★ यदि धर्म-शास्त्र विस्मृत हो जायें तो उन्हें पुनः याद किया जा सकता है किन्तु सदाचार पतित मानव को पुनः उठाना बहुत कठिन है।

★ आज इस कलिकाल में जहाँ कदाचारियों का बोलबाला है, उनके बीच में सदाचार का पालन करने वाले भी विद्यमान हैं। जिस प्रकार बगुला पक्षिओं के बीच में हंस अथवा पशुओं (गीदड़, कुत्ते, गधों) के बीच में भी हाथी का/शेर का रहना।

★ ईर्ष्यालु, क्रोधी, कंजुस, अहंकारी, सुख समृद्धि नहीं पा सकते, उसी प्रकार कदाचारी के भाग्य में आत्म शांति, सुयश, सम्मान, लोक-प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती।

★ कदाचित यहाँ पर कुछ कदाचारी लोग किसी कदाचारी का सम्मान कर लें किन्तु भविष्य में वह धिक्कारा ही जायेगा, आज कदाचार में लीन कल नरकों के दुःखों को ही भोगेगा।

★ सदाचारी का सम्मान सदाचारी ही कर सकता है, जो कदाचारी के समान आचरण कर रहा है वह भी किसी अपेक्षा से कदाचारी ही है, सदाचारी तो सदाचरण का ही आचरण करेगा, क्षणिक स्वार्थ के पीछे सदाचारी का अपमान या कदाचारी का सम्मान नहीं करेगा।

उपकुर्तं प्रियं वक्तुं कुर्तं स्नेहमकृत्रिमम्।
सज्जनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः ॥9॥

अर्थ— उपकार करना, प्रिय वचन बोलना और अकृत्रिम स्नेह करना यह सज्जनों का स्वभाव है। जैसे चन्द्रमा को किसने शीतल किया? वह स्वभाव से ही शीतल है।

* * *

सज्जन

जाग्रत्वं सौमनस्यं च कुर्यात्सद्वागलं परैः।
अजलाशयसम्भूतममृतं हि सतां वचः॥ २/५१ ॥ क्ष० चू०

अर्थ— सज्जन पुरुषों का वचन जागृति और उत्तम सहृदयता को करता है। बहुत कहने से क्या ? निश्चय से सज्जन पुरुषों का वचन जलाशय के बिना ही उत्पन्न हुआ अमृत है।

(103) विनय

★ वि—विद्या, नय—ले जाने वाली, जो विद्या के समीप ले जाये वह विनय कहलाती है।

★ बिना विनय के कभी उत्तम विद्या की प्राप्ति नहीं होती। जो पुरुष आत्म विद्या को प्राप्त करना चाहते हैं, वे अपने जीवन में पहले विनय भाव धारण करें।

★ जमीन पर पड़ी वस्तु बिना झुके प्राप्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार गुणों की प्राप्ति बिना विनय भाव के नहीं हो सकती।

★ अहंकारी प्राणी के पास गुण उसी प्रकार नहीं ठहरते जिस प्रकार वर्षा का पानी मंदिर के शिखर पर या किसी ठूंठ पर नहीं ठहरता।

★ विनय के बिना वैराग्य, संयम, तप, सरलता, सहजता आदि गुणों की प्राप्ति दुर्लभ है, जो मोक्षार्थी/सुखाभिलाषी होते हैं, वे कभी पूज्य पुरुषों की विनय करने से नहीं चूकते।

★ आज तक संसार में जिन्होंने भी श्रेष्ठ पदो की प्राप्ति की है या गुणों के सागर बने हैं, तो उसमें मुख्यता उनके विनय गुण की ही थी।

★ गुणवान एवं गुणार्थी ही विनय रूपी उत्तम गुण को धारण कर सकता है, निर्गुणी नहीं। जैसे फलवान वृक्ष ही झुकता है फल व पत्तों से रहित ठूंठ नहीं।

★ अधिक क्या कहें विनय मोक्ष का द्वार है, जो विनय गुण से रहित हैं वे मोक्ष पाना तो दूर रहा, संसार की तुच्छ सी-वस्तु भी नहीं पा सकते।

★ हाथी के द्वारा धारण करने योग्य भार को चूहे नहीं उठा सकते, उसी प्रकार विनयशीलता का भाव, दीर्घ संसारी धारण नहीं कर सकता। वह तो घमण्ड/मान रूपी विष का सेवन कर दीर्घ संसार में ही भ्रमेगा।

★ यदि अंदर में विनय होगी तो वह बाहर में अवश्य ही प्रकट होगी, मात्र बाहर में विनय दिखाकर मान की पुष्टि भी की जा सकती है।

★ कभी-कभी मनुष्य झुककर के भी अपने मान की पुष्टि कर लेते हैं, उनका झुकना भी विनय के लिए नहीं, मान रूपी विष की वृद्धि के लिए ही होता है।

★ शारीरिक चेष्टाओं एवं हित, मित, प्रिय, समयोपयोगी शिष्ट वचनालापों से भी विनयशील पुरुष की प्रकृति का अहसास हो जाता है क्योंकि आकृति भी प्रकृति के ज्ञान का हेतु बन जाती है।

★ अति राग में, हास-परिहास, प्रमादवश निकाले गये कटु शब्द भी पूज्य पुरुषों को चुभ जाते हैं, अतः सदैव इष्ट व मिष्ट भाषा ही प्रयोग करें।

★ शत्रु के प्रति भी अशिष्ट, अभद्र, असभ्यता व अविनयपूर्वक बोले गये वचन तुम्हारे व्यक्तित्व में ह्रास के हेतु हैं, विनयशील पुरुष—गंदे, कड़वे, तुच्छ, घृणित शब्द बोलकर कभी अपनी तुच्छता प्रकट नहीं करते।

विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः करणं श्रियः।
विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणे मते॥

विनय प्रशंसा सर्वो० श्लोक ५५६

अर्थ— विनय मुक्ति का कारण है, विनय लक्ष्मी का कारण है, विनय प्रीति का कारण है और विनय बुद्धि का कारण है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशो बलम्॥

मनुस्मृति पृ० १२१

अर्थ— नित्य बड़ों की सेवा और प्रणाम करने वाले पुरुष की आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं।

(104) सरलता

★ धर्म का वास उन्हीं हृदयों में हो सकता है जिनके हृदय जल के समान सरल व निर्मल हैं, कठोर हृदय में धर्म नहीं क्रूरतायें ही जन्मती है।

★ छल-कपट व कठोरता से संसार की भौतिक वस्तुओं को ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु आत्मनिधि को प्राप्त करने के लिये सरलता अनिवार्य है।

★ सरलता का अर्थ है मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का एक हो जाना, मन वचन, काय में यदि कहीं वक्रता / कुटिलता विद्यमान है तो वह धर्म के रहस्य को नहीं पा सकते।

★ सर्प संसार में जहाँ कहीं भी भ्रमण करे, वक्रता के साथ कर सकता है किन्तु स्वगृह में प्रवेश बिना सीधे (सरल रेखा के समान) हुए नहीं हो सकता। इसी तरह आत्मा में लीन होने के पहले मन, वचन, काय की प्रवृत्ति सत्यता से युक्त अभिन्न / सरल ही हो।

★ कुटिल व्यक्ति के साथ कितना भी अच्छा व्यवहार करो, आत्मीय भाव से सेवा भी करो किन्तु वह फिर भी विश्वासघात किये बिना नहीं रह पाता।

★ छल-कपट करके तुम कितनी भी सम्पत्ति का अर्जन कर लो, अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर लो किन्तु वह क्षणिक ही रहेगी, यथार्थता प्रकट होने पर तुम्हें नियम से पश्चात्ताप होगा।

★ जिनके हृदय दर्पण के समान निर्मल हैं, कमल के समान कोमल हैं, करुणा, दया, सत्यता, संयमभाव, विनम्रता, सहजता, धर्म वात्सल्यता का जिनके हृदय में वास है वे संत कलियुग के भगवान ही हैं।

★ इतने सरल भी मत बनो कि लोग तुम्हें, मारें पीटें, दुर्व्यवहार करें एवं गुड़ की तरह खा जायें, सीधे वृक्ष की तरह काट लें, और इतने कठोर,

वक्र या तीखे भी मत बनो कि छूते ही जल जायें, तुम्हारे पास आने में कतरायें, नाम सुनते ही तुम्हारे प्रति ग्लानि, निंदा, उदासता से भर जायें, जैसे—कृष्ण भुजंग, तेजाब, अग्नि, कानापौंड़ा, विष मिश्रित दूध, धूल मिश्रित मिश्री इत्यादि।

★ सरलता को पाना इतना सरल भी नहीं है जितना तुम समझ रहे हो, यह आसान नहीं दुर्लभ वस्तु है किन्तु इसकी प्राप्ति कठिनता से नहीं सरलता से सरल बनकर ही हो सकती है।

★ अनुकूलताओं में सरल बनना कोई सरलता नहीं, सरलता की परीक्षा तो प्रतिकूलता में होती है तथा सरल चित्त वाले सज्जनों के बीच में सरलता धारण करना सरल है, किन्तु वक्र योगधारियों के बीच सरलता को सुरक्षित रख पाना कठिन काम है।

★ ग्रह नक्षत्रों की सरल व वक्र गति का पता लगाना तो सरल है किन्तु मानव मन की गति देव भी नहीं समझ पाते। ऐसे वक्र स्वभावी मधुर भाषियों से बचना चाहिये अन्यथा तुम्हारे ऊपर भी कलंक का दाग लग सकता है।

★ नदी का पानी समतल में शीघ्रता से बहता चला जाता है किन्तु ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर या पत्थर, झाड़-पर्वतमालाओं से युक्त स्थान पर देरी से बहता है। इसी तरह योग त्रय की सरलता से युक्त मार्ग में गमन करना सरल है, वक्रता से युक्त मार्ग में गमन कठिन है।

★ परिणामों का जल की तरह निर्मल होना ही यथार्थ साधक की पहचान है।

★ तुम्हें देखकर किसी के अन्दर वक्रता पैदा हो रही है तो समझो, तुम्हारी सरलता में अभी कुछ कमी है।

(105) कृतज्ञता

★ जो पुरुष अपने उपकारी के उपकार को सदैव याद रखते हैं और उनके उपकार का बदला उपकार से चुकाने की भावना रखते है, ऐसे पुरुष ही धन्य है। उन्ही से यह वसुंधरा सुशोभित है।

★ आज यह वसुंधरा हरी भरी व खुशहाल दिख रही है तो इसमे कृतज्ञ पुरुष ही कारण हैं, वे जहाँ भी रहते हैं, वहीं सम्मान प्राप्त करते है।

★ जो प्राणी कृतज्ञ होते हैं, उनका उपकार करने के लिए सभी लोग लालायित रहते हैं और जो कृतघ्न होते हैं उनका उपकार कोई भूलकर भी नहीं करते।

★ कृतज्ञ पुरुष राई भर उपकार को भी सुमेरु पर्वत के समान मानते है इसलिए सदैव उपकारी के भार से उनकी दृष्टि नीचे ही झुकी रहती है।

★ आज संसार मे कृतज्ञ पुरुषों की अपेक्षा कृतज्ञ पशुओं की संख्या अधिक है, प्राय: पशु कभी कृतघ्न नही बनते मनुष्य भले ही बन जायें।

★ मेरी दृष्टि में जो पशु कृतज्ञ हैं, वे उस मनुष्य से लाख गुने अच्छे हैं, जो अपने उपकारी का उपकार नहीं मानता।

★ उपकार करने वाले को चाहिए कि वह उपकार किसी अपेक्षा को मन मे रखकर न करे। वह उपकार करके उसे भूल जाए अन्यथा उसे मान की या क्रोध की अग्नि का संताप सहन करना होगा।

"नेकी कर दरिया में डाल"।

★ उपकार कभी छोटा या बड़ा नहीं होता, कृतज्ञ व्यक्ति का हृदय ही छोटा बडा होता है, कृतज्ञ पुरुष लघु उपकार को भी महान उपकार मानते है।

★ अवसर पर किया छोटा सा उपकार भी अविस्मरणीय ही होता है, बिना अवसर बड़े से बड़े उपकार को भी प्राणी भूल जाते हैं।

★ अपने उपकारी द्वारा किये गये अपराध को भी कृतज्ञ जन उपकार का स्मरण होते ही भूल जाते हैं और नेत्र शर्म से झुक जाते हैं।

★ कृतज्ञ पुरुष का कोई शत्रु नहीं एवं कृतघ्न का कोई मित्र नहीं। कृतघ्नता बहुत बड़ा अपराध है जिसकी प्रायश्चित से भी शुद्धि नहीं की जा सकती।

★ अपने स्वार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से, स्वयं मान सम्मान की चाहना से या छल कपट की भावना से किया गया उपकार वास्तव में उपकार नहीं एक धोखा है, ऐसा धोखा जिसके प्रति दिया गया है, वह प्राणी कृतज्ञ नहीं बनेगा।

★ सच्चे उपकारी कभी भी प्रति उपकार की भावना से उपकार नहीं करते, उनका तो उपकार करना सहज स्वभाव है, जैसे चन्दन का स्वभाव सुगंधि देना होता है। यथार्थ उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहना अनिवार्य है, अन्यथा तुम्हें इसका अच्छा फल नहीं मिलेगा।

★ कृतज्ञता प्राणी का ऐसा गुण है, जिसकी बराबरी प्राणी के अन्य सभी गुण मिलकर भी नहीं कर सकते। अत: कृतज्ञता के साथ निजगुण राशि को बढ़ाना है।

कृतज्ञता

एक बार पद्मरूचि सेठ ने एक मरणासन्न वृषभ (बैल) को णमोकार मंत्र सुनाया, जिसके प्रभाव से वह मरकर "वृषभ ध्वज" नामक राजपुत्र हुआ। जाति स्मरण से अपना पूर्व-भव जानकर पद्मरूचि सेठ को जानने के लिए उसने उसी स्थान पर एक जिनमंदिर बनवाया। उसके बाहर बैल के कान में णमोकार मंत्र सुनाते हुए सेठ का चित्र बनवाया। उस चित्र को सेठ ने आश्चर्य से देखा। तब सेठ को अपना पूर्व भव का उपकारी मान कर, उसे अपना राज्य देकर उसने दिगम्बरी मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली, बाद में पद्मरूचि सेठ भी दिगम्बर मुनि हो गये। दोनों समाधि मरण कर स्वर्ग गये। कालान्तर में पद्मरूचि सेठ का जीव पद्म (रामचन्द्र) एवं बैल का जीव सुग्रीव हुए। पूर्व भव के उपकार का बदला सुग्रीव ने इस भव में भी चुकाया। हमें भी अपने उपकारी के उपकार को कभी नहीं भूलना चाहिए।



(106) मित्रता

★ सम्यक दृष्टि जीव प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव रखते हैं, उनके हृदय मे किसी के प्रति बैर की भावना वृद्धिगत नहीं होती।

★ मित्रता का अर्थ है दूसरों को दुखी देखकर द्रवीभूत हो जाना, हृदय का करुणा से भर जाना एवं मन वचन, काय से उसके दुखों को दूर करने का भरसक प्रयास करना।

★ पुण्योदय में तो हजारों मित्र बने दिखाई देते हैं, किन्तु पाप के उदय में मित्रता निभाने वाले या साथ देने वाले विरले ही होते हैं।

★ उन मित्रों से सदैव सावधान रहो जो खुशी मे तुम्हारा साथ देते हैं और दु:ख आ पड़ने पर दूर से ही तमाशा देखते है।

★ विश्वासी शत्रुओ की अपेक्षा धोखेबाज मित्र अधिक खतरनाक होते हैं, क्योंकि विश्वासी शत्रु धोखे से नहीं सामने वार करता है, जिससे सावधान होकर बच भी सकते हैं, किन्तु मित्रता का बाना पहनने वाले शत्रु से बचना कठिन है।

★ जिन्होने तुम्हारा साथ प्रसन्नता एवं खुशी में दिया है उन सभी को अपना सच्चा मित्र मत मान लेना अन्यथा धोखा खाओगे, सच्चे मित्र की परीक्षा तो विपत्ति काल में ही होती है।

★ मित्रता ऐसी हो जैसे "लोटा और डोरी में होती है" लोटा अपना गला फंसा कर पानी लाता है, डोरी भी साथ देती है "दूध और पानी जैसी मित्रता" हो, पानी के बिना दूध उफनता है, पानी मिलते ही शांत हो जाता है।

★ लौकिक जगत में सारस, चकवे, कुत्ता, बैल, घोड़ा, बंदर, हाथी आदि की मित्रता आज भी निष्कलंक है, ये पक्के साथी होते हैं, मनुष्य के

प्रति भी यदि मित्रता करते हैं, तो उसे प्राण देकर भी निभाते हैं, किन्तु धोखेबाज नर पिशाचों ने उसे कलंकित कर दिया है।

★ मित्र की मृत्यु होने से मित्रता नहीं मरती अपितु मित्रता के मरने से मित्र स्वयं ही मर जाता है, मित्र के वियोग में मित्रता में शिथिलता नहीं परिपक्वता आती है।

★ मित्र जितना अधिक पुराना होता है मित्रता उतनी अधिक मजबूत होती है क्योंकि उनमें शंका व संदेह को स्थान नहीं रहता। कपट भाव मित्रता का दुश्मन है, अतः सदैव सच्चे मित्र आपस में अपने हृदय साफ रखें, कुछ भी बात न छुपायें।

★ जो मित्रता का लिबास पहन कर शत्रुता (दुश्मनी) तुमसे निकाल रहा है, ऐसे मित्रों से सावधान रहो। सोमशर्मा जैसे कपटी मित्र के चंगुल में फंस कर उपश्रेणिक भी खेद को प्राप्त हुए।

★ बिना घनिष्ट मित्रता के गहरी शत्रुता नहीं हो सकती, विश्वास ही विश्वासघात का मूल होता है, मित्रता स्वर्ण पालिस की तरह नहीं अपितु पूर्ण शुद्ध सोने की तरह ठोस हो।

व्याधितस्यार्थ हीनस्य देशान्तर गतस्य च।
नरस्य शोक दग्धस्य, सुहृद्दर्शन मौषधम्॥

अर्थ— बीमार के लिए, धन हीन के लिए, परदेश गये हुए के लिए और शोक से दग्ध मनुष्य के लिए मित्र का दर्शन औषध है।

* * *

मित्र

समदुःखासुखा एव बन्धवो ह्यत्र बान्धवाः।
दूता एव कृतान्तस्य द्वन्द्वकाले पराङ्मुखाः॥ ३२॥ क्ष० चू०

अर्थ— सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होने वाले साधर्मी ही सच्चे मित्र और बन्धु हैं। आपत्ति आ जाने पर साथ छोड़कर भाग जाने वाले लोग तो मानो साक्षात् यम के ही दूत हैं।



(107) उपकार

★ उपकार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, उप + कार। जिसमें उप शब्द का अर्थ है—समीप, कार शब्द कृ धातु से बना है कृ शब्द का अर्थ क्रिया।

★ आत्मा के समीप पहुँचने की क्रिया को ही उपकार कहना चाहिए, जिसके माध्यम से आत्माओं का उपकार या कल्याण न हो सके वह मात्र शब्द रूप उपकार है।

★ बिना स्वोपकार के कभी परोपकार करना शक्य नहीं है। जो स्वोपकार किये बिना परोपकार करने का दंभ भरते हैं, वे नितांत मूर्ख हैं।

★ यदि ससार में उपकार करने वाले नहीं होते तो यह संसार कब का नष्ट हो गया होता, निःस्वार्थ उपकारी महापुरुष ही संसार के आधार स्तम्भ हैं।

★ हे परोपकार करने के इच्छुक महानुभाव ! तुम दूसरों का उपकार तो करना किन्तु कभी परोपकार के बदले कोई अपेक्षा नहीं रखना। तभी परोपकार की सार्थकता है, अन्यथा स्वार्थ भावना से किया परोपकार तो एक सौदा ही है।

★ वृक्षों का फलना, नदी का बहना, गायों का दूध देना परोपकार के लिए होता है, इसी प्रकार महापुरुष भी सदैव स्वोपकार सहित परोपकार में ही संलग्न रहते हैं।

★ जो पुरुष परोपकार से रहित हैं, वे जानवरों से भी बदतर हैं जानवर तो वफादार बन कर दूसरों का उपकार करते हैं।

★ यदि तुम किसी के उपकार का बदला उपकार मे नहीं चुका सको तो कम से कम दूसरों के प्रति अपकार तो मत करो।

★ उपकार कोई छोटा बड़ा नहीं होता अपितु वह "कब, किस भावना से किया गया है", यह महत्वशाली है।

★ अवसर पर किया गया छोटा उपकार भी बहुत महत्वशाली होता है, बिना अवसर के बड़े से बड़ा कार्य भी अनर्थकारी हो सकता है।

★ परोपकार बड़े ही छोटों का नही करते अपितु छोटे भी बड़ों का करते हैं, किन्तु प्राय: बड़े व्यक्ति छोटों के उपकार को भूल जाते हैं।

★ यदि बड़े व्यक्ति अपने लिए किये गये छोटों के उपकार के प्रति कृतघ्न न बनें, तो सम्भव है छोटे भी कभी बड़ों के प्रति कृतघ्न नहीं बनेंगे।

★ बड़ों के प्रति किया गया उपकार अहंकार का जनक हो जाता है एवं छोटों के प्रति किया गया उपकार कालांतर में बीज की तरह वृद्धिगत हो जाता है।

★ निज स्वार्थ सिद्धि के लिए, दूसरे को फंसाने हेतु, लोहे पर उपकार रुपी स्वर्ण पालिश लगाना अपने आप में ही निंद्य हैं। अत: पर ठगने के लिए नहीं अपितु स्वपर हितार्थ भावना से उपकार करना चाहिए।

सूर्यश्चन्द्रो घनो वृक्षो नदी धेनुश्च सज्जनः।
एते परोपकाराय विधात्रैव विनिर्मिताः॥

अर्थ— सूर्य, चन्द्र, मेघ, वृक्ष, नदी, गाय, सज्जन ये परोपकार के लिए विधाता द्वारा बनाये गए हैं।

* * *

सज्जनता

खलः कुर्यात्खलं लोकमन्यन्यो न कञ्चन।
न हि शक्यं पदार्थानां भावं च विनाशवत्॥ २/४९॥ क्ष० चू०

अर्थ— दुर्जन मनुष्य लोक को दुर्जन बना देता है किन्तु सज्जन पुरुष दूसरे मनुष्य को तत्काल सज्जन नहीं बना पाता है, क्योंकि पदार्थों के विनाश के समान उनका उत्पन्न करना सरल नहीं है।



(108) समय का सदुपयोग

★ समय अत्यंत मूल्यवान द्रव्य है, जो समय के मूल्य को पहचान लेते हैं, वे प्राणी नि:संदेह महापुरुष / अमूल्य रत्न बन जाते हैं।

★ समय शब्द का अर्थ प्रायः काल से ही लिया जाता है, यद्यपि समय शब्द का अर्थ आत्मा, धर्म, शास्त्र, दर्शन / मत भी होता है।

★ समय की महत्ता को समझने वाले ही समय के सारभूत अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं, वे कभी असमय में भ्रमण नहीं करते, स्वसमय में ही रमण करते हैं।

★ समय के रहते हुए, समय की छत्र छाया में, समय के द्वारा निज समय को पहचान कर समय को प्राप्त कर लो, अन्यथा समय निकल जाने पर रोना / पश्चात्ताप ही शेष रहेगा।

★ पौद्गलिक विभूति / धन सम्पत्ति के अर्जन में व सुरक्षा में वे मूढ़ प्राणी ही अपने समय का दुरुपयोग करते हैं, जिन्होंने समय के रहस्य को नहीं पहचाना।

★ धन, तन, कुटुम्ब परिवार की सुरक्षा में तू सदैव तत्पर रहता है, यदि तेरी यही तत्परता समय की सुरक्षा में रहे तो तू कभी असुरक्षित नहीं रह सकता।

★ समय को कुछ लोग स्वर्ण की उपमा देते हैं तो कुछ रत्नों की, किन्तु समय को स्वर्ण रत्नों की उपमा देना मूर्खता है, क्योंकि स्वर्ण व रत्नों का मूल्यांकन तो किया जा सकता है किन्तु समय का नहीं।

★ स्वर्ण या रत्न गुम जाने या नष्ट होने पर पुनः भी प्राप्त हो सकते हैं किन्तु बीता हुआ समय कभी लौटकर नहीं आता।

★ बीते हुये क्षणों को सारी भूमि का दान करने से ,या असंख्यात करोड़ रत्नों को देकर भी नहीं खरीद सकते, बीता हुआ समय भूतकालीन घटना है जो घट चुकी, अब नहीं घटेगी।

★ समुद्र / नदी, तालाब, झील आदि में उभरती, मिटती लहरों को देखकर, आकाश में विनष्ट होते हुये बादलों (जलद / मेघों) को देखकर, बुझते हुये दीपक व अस्त हुये सूर्यादि को देखकर भी क्या तुम नहीं समझ पाते कि बीता समय पुनः लौट कर नहीं आता।

★ उजड़ता हुआ उपवन, खण्डित / खण्डहर महल, वृद्धों का शरीर भी पर्याय की क्षण भंगुरता / गतिशील समय की क्या हर वक्त प्रेरणा नहीं देता ?

★ हे मीत ! समय सदैव किसी का एक सा नहीं रहता, यह धूप छाया की तरह जीवन में आता .रहता है, अतः पुण्योदय में इतराओ मत, पापोदय में घबराओ मत।

★ समय का दुरुपयोग करने वाले लोग ही समयाभाव की शिकायत किया करते हैं, जो समय का सदुपयोग करते हैं, उनके पास सद्कार्यों के लिए कभी समयाभाव नहीं होता।

★ आत्मा का कल्याण करने के लिए दीर्घ समय की नहीं समय के सदुपयोग की अनिवार्यता है। क्या आपने भरत चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के बारे में नहीं सुना कि उन्होंने मात्र मुहूर्त प्रमाणकाल में ही केवल ज्ञानादि निज स्वाभाविक गुणों को प्राप्त कर लिया।

★ हे आत्मन् ! संसार में आजतक जो भी महापुरुष हुए, हो रहे हैं उन सभी ने समय का सही उपयोग किया है, तभी वे महापुरुष हो सके।

★ अहोरात्रि में 24 घंटे / 8 पहर / 60 घड़ियाँ ही होती थीं / होती हैं / होती रहेंगी। इन्हीं 60 घड़ियों में समय का सदुपयोग करके अनंत जीवों ने इन्द्र, अहमिंद्र, मुनीन्द्र, जिनेन्द्र, सिद्धादि पदों को प्राप्त किया है तथा इन्हीं 60 घड़ियों का दुरुपयोग करके मनुष्य गति, तिर्यंच गति, नरक गति के दारुण दुख को भोगा है व भोग रहे हैं।

★ हे आत्मन् ! आज तक लगता है तुमने समय का यथार्थ उपयोग नहीं किया क्योंकि यदि समय का सही उपयोग कर लेते सो तुम्हारा उपयोग ही नहीं समय भी शुद्ध हो जाता। अर्थात ज्ञान, दर्शन, उपयोग ही नहीं समय (आत्मा) भी शुद्ध हो जाता।

★ समय के सदुपयोग का अर्थ है, निर्धारित समय पर अपने सत् कर्तव्यों का विवेकपूर्वक पालन करना।

★ समयानुसार व विवेकपूर्वक किया गया कार्य दुष्कर होने पर भी आसान हो जाता है तथा यह कार्य भी सफलीभूत प्रशंसनीय माना जाता है।

★ समय बीतने पर किया गया बहुत बड़ा कार्य भी समय पर किये गये जघन्यतम कार्य से भी निकृष्ट है। समयानुसार किया लघु / जघन्यतम कार्य भी श्रेष्ठ होता है।

★ प्यासे व्यक्ति को एक गिलास पानी पिलाना अधिक महत्वपूर्ण है, प्यास से व्याकुल होकर मृत व्यक्ति के शरीर पर करोड़ों कलश ढोलने की अपेक्षा से।

★ समय का सदुपयोग करने से विद्या, बुद्धि, बल, धन सम्पत्ति, आरोग्यतादि अनेक भौतिक लाभों के साथ-साथ आध्यात्मिक लाभ भी अपरिमित प्राप्त होते हैं।

★ समय का सदुपयोग स्वस्थ शरीर, प्रसन्नचित्त, मधुर वाणी, निर्मल चैतन्यता / परिणाम, असंख्यात गुणित रूप, पुण्य वृद्धि व पापों के क्षय का कारण है।

★ समय के सदुपयोग से आत्म विश्वास, धैर्य शीलता, ओजस्व, परम साहस, प्रमोद, प्रेम, प्रसन्नता, प्रज्ञा, शुभ प्रतिज्ञाओं की वृद्धि होती है।

★ समय को (काल द्रव्य को) देखकर भी यदि तुमने निज समय (अपनी आत्मा) को समय जैसा शुद्ध नहीं बनाया तो तुम्हारा समय देखना, घड़ी बांधना व्यर्थ है।

★ निरंतर गतिशील समय तुम्हें सदैव तुम्हारे चैतन्य की द्रव्य (व्यंजन पर्याय) व अर्थ (गुण) पर्याय की अनित्यता की सूचना देता है किन्तु

फिर भी तुम सुन और समझ नहीं रहे हो, यही बड़े आश्चर्य की बात है।

★ काल के निकलते ही तुम काल कवलित हो जाओगे, अतः काल के गाल में पहुँचने से पहले भव जाल को काट कर हाल चाल बदल कर निहाल हो जाओ।

★ मात्र साल और साल बदलने से काम नहीं चलेगा साल व साल के साथ अपना माल व मिसाल को बदल दो जिससे नई साल / साल का बदलना सार्थक हो जाये।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्यटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरूचि व्यंसनं श्रुतौ, प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

अर्थ— विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वचनों की चतुराई, युद्ध में पराक्रम, यश में रूचि और शास्त्र में आसक्ति, यह कार्य महात्माओं के स्वभाव से सिद्ध होते हैं।

* * *

वीतराग पङ्कजभृङ्गः, सद्गुरु प्रणाति पूजनः रक्तः।
दान कङ्कण विराजित पाणि, पुण्यवान जयति धर्म धुरीणः॥

अर्थ— जो वीतराग भगवान के चरण कमलों का भ्रमर है, सदगुरुओं के प्रणाम और पूजन में रक्त है तथा दान रूचि कङ्गण से सुशोभित हाथ वाला है, वह पुण्यवान् धर्मात्मा जयंवत है, श्रेष्ठतम है।

* * *

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्तेत्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अर्थ— अन्यायोजपार्जित धन दश वर्ष तक तो ठहरता है, किन्तु ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही मूल के साथ नष्ट हो जाता है।

(109) श्रम करके भी श्रमण न बने ?

★ संसार का प्रत्येक प्राणी श्रम करने मे संलग्न है, कोई मात्र तन से, कोई मात्र मन से, कोई मात्र वचन से एवं कुछ प्राणी मन वचन व तन तीनों से श्रम करने में संलग्न हैं, फिर भी समीचीन फल प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं।

★ समीचीन श्रम का समीचीन फल तथा मिथ्याश्रम का मिथ्याफल प्राप्त होता है, यह समीचीन / ध्रुव सत्य सिद्धान्त है। फिर भी मानव सम्यक श्रम नहीं करता यह बड़े आश्चर्य की बात है।

★ जब सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र से अनुविधायी (अविनाभावी) श्रम किया जाता है, रत्नत्रय आत्मा का अनुविधायी परिणाम हो जाता है, तभी चेतना में श्रमणत्व उद्गमित (उदित) होता है।

★ श्रमणत्व की प्राप्ति सामान्य बात नहीं, अपितु अनेक जन्मों की साधना का प्रतिफल है, श्रमणत्व की साधना ही जिनत्व, वीतरागता एवं निर्वाणत्व की साधना है।

★ हे आत्मन ! मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र की साधना तो अनादिकाल से की है, आज सम्यक्त्वयुक्त अभेद रत्नत्रय की साधना का परमोत्तम अवसर है, इसमें इन तीनों योगों की शक्ति लगा, लीन हो जा, तभी इस मानव पर्याय की सुसार्थकता है।

★ केवल शारीरिक श्रम करने से मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। मात्र शारीरिक श्रम करने वाले तो संसारवर्धक ही होते हैं क्योंकि वचन योग से रहित भी मोक्षमार्गी नहीं होता।

★ जिन जीवों के पास मात्र वचन व काय बल है, वे जीव भी मन के अभाव में कितना भी श्रम करें, मोक्षमार्गी नहीं हो सकते, उनका परिश्रम भी भववर्धक है।

★ मन, वचन, काय तीनों योगों से सहित जीव भी यदि वैक्रियिक शरीर (सर्व देव व नारकी के वैक्रियिक शरीर होता है) से युक्त हैं, तो वे भी मोक्षमार्गी नहीं हो सकते।

★ औदारिक शरीर वाले भी जीव यदि भोगभूमि के मनुष्य व तिर्यञ्च योनिज हैं तो वे भी श्रमणत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। बिना श्रमणत्व के मोक्षगति संभव नहीं।

★ कर्मभूमि का मनुष्य बन करके जिस जीव ने समीचीन धर्मसाधना करके एवं रत्नत्रय की भेदाभेदावस्था को प्राप्त करके निजात्मानुभव को प्राप्त कर लिया है, वही श्रमण है और वही मोक्षमार्गी है।

★ भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए मन, वचन, काय का व्यापार करना आसान है, किन्तु आध्यात्मिक निधि को प्राप्त करने के लिए दिगम्बर संत बनकर रत्नत्रय की साधना करना आसान नहीं है।

★ यह मानव-नवीन कर्मों को बाँधने के लिए जो श्रम करता है, यदि इसका दशांश भी कर्म काटने के लिए करे, तो मोक्ष की प्राप्ति असंभव नहीं है।

★ दिगम्बर संत बनकर मोक्ष मार्ग की साधना करना हर एक के लिए आसान नहीं है। दिगम्बर संत बनना कई जन्मों की साधना व भावना का ही प्रतिफल होना चाहिए।

सञ्चितं यद् गृहस्थेन पापमामरणान्तिकम्।
तत् सर्वं निर्दहत्येव ह्येकरात्र्युषितो यतिः॥

अर्थ— गृहस्थ के द्वारा मरण पर्यंत जो पाप सञ्चित किया जाता है, उस सब पाप को एक रात्रि का दीक्षित साधु नियम से भस्म कर देता है।

(110) सदाचार

★ सदाचार शब्द की व्युत्पत्ति (सत् + आचार) इन दो शब्दों से मान्य है। इसमें निहित सत् शब्द का अर्थ है—अस्तित्व तथा 'आचार' शब्द का अर्थ है—आचरण।

★ सदाचार शब्द का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—"जो आचरण सत्य को प्राप्त करने के लिए किया जाता है, वह सदाचार कहलाता है।"

★ सदाचार कुलीन व्यक्ति की पहचान है, जो सदाचार व श्रेष्ठाचरण से युक्त होते हैं, वे सर्वत्र सम्माननीय व आदरणीय अवस्था को प्राप्त होते है।

★ राजा अपने राज्य में, विद्वान विद्वानों की सभा में, घर का मुखिया अपने घर में पूज्यता को प्राप्त होते हैं, परन्तु सदाचारी सदैव सर्वत्र पूज्यता को प्राप्त होते हैं।

★ सदाचार आदर्शमय व्यक्तित्व का बीज, संयम की आधारशिला, सम्यक् ज्ञान का फल, विवेक का अविनाभावी लक्षण एवं मानवता का प्राण कहा जाता है।

★ मकान की सुन्दरता कंगूरे या बाहर की चमक से नहीं अपितु उसकी सुदृढ़ नींव से है, वृक्ष की सुदृढ़ता उसके पत्तों व पुष्पों से नहीं अपितु उसकी गहरी जड़ों से है, उसी प्रकार मनुष्य की सुन्दरता, सुदृढ़ता व प्रतिष्ठा उसके तन, धन, यौवनादि से नहीं अपितु सदाचारी जीवन से है।

★ जिस साहित्य में सदाचारों का कथन है, जो शास्त्र सदाचार, संयम, सम्यक्त्व, ज्ञान व भक्ति के पोषक हैं, वे ही समीचीन शास्त्र हैं, इसके अतिरिक्त अन्य सभी (शास्त्र) व्यर्थमात्र वचनालाप हैं।

★ प्रत्येक साधु संत, विद्वान, प्रवक्ता, मनीषी, विचारक एवं धर्मज्ञ पुरुषों के प्रवचन एवं सम्पूर्ण धर्म ग्रंथों का सार सदाचार का ही प्रपोषक है।

★ जो व्यक्ति सदाचारी हैं, वे ही प्राज्ञ हैं, विज्ञ हैं, विद्वान हैं, चतुर हैं, सभ्य हैं, वाग्मी हैं, शास्त्र वेत्ता हैं, सम्माननीय हैं, आदरणीय व पूज्य पुरुष हैं।

★ जहाँ सदाचार का पालन होता है, साधु पुरुषों का सम्मान होता है, सभी भाई-बान्धवों में प्रेम का व्यवहार होता है, ऐसा परिवार निर्धन हो, असंयमी हो, तो भी स्वर्ग के इन्द्र और स्वेच्छाचारी चक्रवर्ती से बढ़कर है।

★ जिस प्रकार कंजूस अपने धन की, मोही अपने तन की, माता अपने सुत की, मुनिजन अपने संयम की, तपस्वी अपने तप की, शीलवती अपने शील की, राजा अपने राज्य की रक्षा प्राणों की आहूति देकर भी करते हैं, उसी प्रकार सदाचारी को सदैव अपने सदाचार की रक्षा करनी चाहिए।

★ फलों से रहित वृक्ष, पुष्पों से रहित वाटिका, गंध से रहित पुष्प, संयम से रहित ज्ञान, वैराग्य से रहित संयम, सम्यक्त्व से रहित तप, घृत से रहित दूध, चेहरे से रहित शरीर, नेत्रों से रहित चेहरा, ज्योति से रहित नेत्र व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार सदाचार से रहित मानव जीवन भी व्यर्थ है।

★ जिस प्रकार नदी की शोभा किनारों से नहीं, उसके निर्मल जल से है, गगन की शोभा खाली आकाश से नहीं, धवल चाँदनी, ग्रह, नक्षत्र, तारों से है, गाय की शोभा पूंछ से नहीं अपितु दूध से है, नारी की शोभा उसके शारीरिक सौन्दर्य से नहीं अपितु निर्मलशील व्रत से है, उसी प्रकार मानव मात्र की शोभा दुष्प्रपंच से नहीं उसके सदाचार के पालन से है।

★ सदाचारी व्यक्ति सुखी, शांति-युक्त, प्रशमभाव वाला, आनंदित, प्रसन्नचित्त, लोकप्रिय, प्रशंसनीय, स्व-पर हितैषी, इस लोक व परलोक में सुखी होता है।

★ जो व्यक्ति सदाचार से रहित हैं, वे दु:खी अशांत, क्रूर, उदासीन, शोकाकुल, व्याकुलचित्त, निंद्य, उपेक्षणीय, धर्म विध्वंसक, स्वपर विघाती इस लोक व परलोक को बिगाड़ने वाले दुष्ट, दुराशयी एवं दुर्गति के पात्र होते हैं।

★ सदाचार से रहित व्यक्ति के जीवन मे सुख की आकांक्षा, लुब्धदत्त (श्मश्रुनवनीत) या भावि सोमशर्मा के पिता की कथा समान या आकाश के पुष्प, बन्ध्या स्त्री के पुत्र की शादी की खुशी के समान व्यर्थ है।

सूनोर्मृतेरापि दिनं न सतस्तथा स्याद्:।
बाधा करं वत यथा मुनिदान शुन्यं॥

अर्थ— सज्जन पुरुष के लिए अपने पुत्र की मृत्यु का भी दिन उतना बाधक या दुखप्रद नहीं होता, जितना कि मुनिदान से रहित दिन।

* * *

सदाचारो बन्धु: गुण गण निधि: मातु-सम वा,
सदाचारो धर्मो विगत इव दोषोऽद्भुता गति:।
सदाचारो लोके जनयति शशि संन्निभ यशम्,
सदाचारो बंदे भव विभव हान्यै सुमनसां॥

अर्थ— सदाचार बन्धु है, गुण समूह का उत्पत्ति स्थान है, माता के समान हितानुशास्ता है। सदाचार धर्म है, निर्दोष है, उनकी गति अद्भूत है सदाचार विश्व में चन्द्र सम विर्निमल यश को उत्पन्न करता है। अत: मै श्रेष्ठ मन से भव विभव की हानि के लिए सदाचार को नमस्कार करता हूँ।

(111) परिणाम / भाव विशुद्धि

★ परिणामों या भावों की विशुद्धि ही हमारी निजी सम्पत्ति है।

★ द्रव्य, क्षेत्र एवं काल की शुद्धि परिणामों को निर्मल बनाने (भाव शुद्धि) के लिए ही की जाती है। भाव शुद्धि से रहित द्रव्यादि की शुद्धि व्यर्थ है।

★ जिसका अभिप्राय सत्य है, परिणाम निर्मल हैं, ऐसा सद्गृहस्थ भी अपने गृहकार्य की उत्तम सफलता को प्राप्त कर सकता है।

★ जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते समय जितनी आवश्यकता द्रव्य, क्षेत्र-काल की शुद्धि की है, उससे असंख्यात गुणी परिणामों में निर्मलता होनी चाहिए, तभी वह पूजन सार्थक है।

★ जिस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल दूसरे के परिणामों को बदलने मे कारण हैं, उसी प्रकार स्वकीय परिणामों की निर्मलता भी दूसरे के परिणामों को निर्मल बनाने में सहकारी है।

★ जिनेन्द्र भगवान के समवशरण में अनेकों जीव जिनेन्द्र प्रभु की विशुद्धि से अपनी आत्म विशुद्धि को वृद्धिगत कर क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों को प्राप्त कर लेते हैं।

★ परिणामों की विशुद्धि के बिना देव पूजा, गुरुपासना, व्रत, शील एवं दान आदि क्रियाएं पूर्ण सार्थकता को प्राप्त नहीं हो सकतीं।

★ समीचीन शास्त्रों का स्वाध्यायादि करते समय व गुरु मुख से प्रवचनादि सुनते समय भी परिणाम निर्मल नहीं होतें तो स्वाध्यायादि कार्य व्यर्थवत् हैं।

★ ज्यों-ज्यों मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम वृद्धिगत होता है, त्यों-त्यों परिणामों में निर्मलता आती है।

★ मिथ्यात्व एवं कषाय को मन्द, मन्दतर, मन्दतम या विनष्ट करने से परिणामों में विशुद्धि का प्रादुर्भाव होता जाता है और उस परम विशुद्धि से संवर व निर्जरा में वृद्धि होती है।

★ स्वकीय निर्मल परिणाम दूसरों की कषायों के उपशामक होते हैं जैसे– सूर्याताप से उष्णता, चन्द्रोद्योत से शीतलता, चंदन व पुष्पावली से सुगंधि का साम्राज्य होता है।

★ परिणामों की विशुद्धि से रहित साधक अपनी आत्मा को ठग रहा है, स्वयं को तथा दूसरों को धोखा दे रहा है।

★ परिणामों की चरम विशुद्धि से उसी भव से मोक्ष पाना भी सम्भव है, किन्तु परिणामों की संक्लेशता से संयम की विराधना ही होती है।

★ दुराशयी, स्वार्थवृत्तिवान, चापलूस, शिष्टता-मिष्टता-घनिष्ठता व विनय का बाहरी प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति अपने परिणामों को निर्मल नहीं बना सकते।

★ ख्याति, पूजा लाभ, पद-प्रतिष्ठा आदि की भावना से जब कोई साधना की जाती है, तो वह परिणामों की विशुद्धि का हेतु नहीं, अपितु कषायों का ही दूसरा रूप है और वह संसार का ही कारण है।

★ रत्नत्रय के बीज आत्म निर्मलता की पवित्र भूमि मे ही अंकुरित होते है, फलित होते हैं एवं चिरकाल तक स्थायी रह सकते हैं।

★ संसार मे सबसे बड़ा धनी वही है जिसके परिणाम निर्मल हैं। परिणामों की मलिनता वाले दुष्परिग्रही तो दुर्गति के ही पात्र होते हैं।

★ निर्मल / विशुद्ध परिणामों वाले व्यक्ति का आदर्श दूसरे जीवों के लिए सन्मार्ग दर्शायक प्रकाश स्तम्भ है। उस विशुद्ध भाव वाले पुरुष को सभी अपना मीत, आदर्श व अपना प्रधान बनाना चाहते हैं।

★ परिणामों की विशुद्धि के साथ मन-वचन-काय के निमित्त (योग) से हुआ अशुभ व्यापार भी पुण्यास्त्रव व कल्याण का ही प्रदाता होता है।

★ परिणामों की निर्मलता से रहित साधक परोपदेश का अधिकारी नहीं होता क्योंकि कषायोद्वेग में दिया गया उपदेश स्व-पर के पतन का ही हेतु होता है।

(112) मनोबल की दृढ़ता / आत्मविश्वास

★ संसार के समस्त बल मनोबल के समक्ष निर्बल हो जाते हैं, जब तक मनोबल जीवित है तब तक व्यक्ति पराजित नहीं कहा जा सकता।

★ जिनका मनोबल-आत्म विश्वास गिरा हुआ है, ऐसे व्यक्ति कोई महान कार्य नहीं कर सकते।

★ अपने आपको हीन मानना, किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उत्साह हीन / हताश होना आत्म विश्वास के अभाव का प्रतीक है।

★ आत्मविश्वास से रहित व्यक्ति को कितना भी विश्वास दिलाया जाए, वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता।

★ तुम किसी को शक्तिशाली या बल-सम्पन्न बनाना चाहते हो तो उसे बाहरी बल देने की अपेक्षा उसके मनोबल को जाग्रत करने के निमित्त बने रहो, इतने मात्र से वह अपने कार्य में सफल हो सकता है।

★ आत्मविश्वास व मनोबल के माध्यम से एक दुर्बल व्यक्ति या बालक इतना महान कार्य कर जाता है कि जिसे देखकर विश्व भी आश्चर्यचकित हो जाता है।

★ किसी कार्य को एक व्यक्ति कर ले और दूसरा व्यक्ति वह कार्य करने से पूर्व अपनी असमर्थता प्रकट करे, तो समझो कि उसमें मनोबल, धृति गुण या आत्मविश्वास का अभाव है।

★ जिस के रग रग में व आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में आत्मविश्वास की आभा फूट रही है, जिसके मनोबल का तेज शरीर पर भी कांतिवान हो रहा है, ऐसा व्यक्ति कभी किसी भी कार्य में असफल नहीं हो पाता।

★ जिनका आत्मविश्वास, मनोबल, धृतिगुण, उत्साह, उमंग ह्रास को प्राप्त हो रहा है, उनके द्वारा संसार-सागर तो क्या एक छोटी सी नदी भी पार नहीं हो सकती।

★ आत्म-विश्वास के बल से पंगु गिरिशिखर पर चढ़ सकता है, अंधा भी स्वरूपानुभव कर सकता है, बहरा भी शब्दानुभूति के साथ भावानुभूति को सुन व समझ लेता है।

(113) क्रूरता

★ क्रूरता दुःखों का बीज एवं क्लेशों की जननी है, क्रूर परिणामी व्यक्ति स्व-परघाती होता है।

★ क्रूरता का जहाँ वास होता है, वहाँ धर्म का विनाश, दया का ह्रास, नाश का विकास होना प्रारम्भ हो जाता है।

★ सर्प, वृश्चिक, शेर, चीतादि हिंसक प्राणियों की क्रूरता तो एक ही भव की घातक है, किन्तु मनुष्य की क्रूरता न जाने कितने भवों का नाश कर देती है।

★ अज्ञानता व कषाय के तीव्रावेश मे मिथ्यात्व के धरातल पर क्रूरता जन्म लेती है, उसी पर वृद्धिगत एवं फलीभूत होती है।

★ क्रूर व अन्यायी शासक की अधीनता स्वीकार करने से अपेक्षाकृत जंगलो में वास करना, निर्झर झरने आदि का जल पीना व फल खाकर ही स्वच्छ वातावरण में जीवन बिताना श्रेष्ठ है।

★ क्रूरता का समर्थन करने वाला व्यक्ति भी अन्यायी कहलाता है। किन्तु कभी-कभी सत्य की रक्षा के लिए क्रूरता, अनैतिकता, अमानवीय व्यवहार भी सहन करना पड़ता है।

★ क्रूरता की भूमि पर खड़ा बड़े से बड़ा सम्राट एवं क्रूरता की पीठ पर आसीन षड्खण्ड का वैभव भी क्षण भर में ध्वस्त हो जाता है।

★ निज स्वभाव से अपरिचित व्यक्ति, जिसे पूर्व पुण्योदय से कुछ तुच्छ भौतिक वस्तुपलब्धि हुई है, मदोन्मत्त होकर क्रूर हो जाता है।

★ क्रूर परिणामी व्यक्ति को समझाना एक खतरामोल लेना है। उसे समझाने से पहले अपनी सहनशीलता व सामर्थ्य पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए।

★ क्रूर परिणामी व्यक्ति के सामने जाकर लड़ना, अपने परिणामों की विशुद्धि को नष्ट करने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि हम उस दुष्मार्ग से बच कर चलें।

★ दूसरे व्यक्ति के क्रूर परिणामों को देखकर अपने परिणामों को क्रूर बनाने वाला व्यक्ति उसी प्रकार मूर्ख है, जिस प्रकार दूसरे की जलती हुई फसल को देखकर अपनी फसल में आग लगाने वाला व्यक्ति।

★ क्रूरता ऐसी अग्नि है जिसके माध्यम से सुख, शांति, अमन, चैन में आग लगा दी जाती है।

★ बाहर की क्रूरता से बच जाना तो सहज / सरल है किन्तु अंदर की क्रूरता से बच जाना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे—बन्ध्या का पुत्रवती होना।

★ किसी क्रूर व्यक्ति को जन्म देने वाले माहौल का निर्माता भी कोई कम क्रूर नहीं होगा।

★ हजार शांत परिणामी व्यक्तियों को साधुता का पाठ सिखाने की अपेक्षा एक क्रूर व्यक्ति की भावनाओं को बदल देना भी कम महत्त्वशाली नहीं है।

★ किसी व्यक्ति के क्रूर बनने में मात्र वातावरण का ही प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु पूर्व वंशानुक्रम से चले आ रहे माता-पिता के संस्कारों का भी प्रभाव पड़ता है।

★ भ्रूण हत्या कराने वाले, गर्भपात कराने या करने वाले, दहेज के पीछे बहुओं को जलाने वाले, निज स्वार्थ के लिए दूसरों पर मिथ्या दोष लगाने वाले सबसे बड़े क्रूर कर्मी हैं।

(114) साधुता

★ साधु का वेश धारण करने से कोई साधु नहीं कहलाता; अपितु साधु वही है, जिसमें साधुता हो।

★ साधुता ही साधु की चेतना है, इस साधुता से रहित साधु ऊष्णता से रहित अग्नि के समान है, और ऐसा होना असम्भव है।

★ उपकारी का उपकार करना कोई साधुता नही, अपितु उपकारी व अपकारी का भेद किये बिना उपकार करना साधुता है।

★ मिठास से रहित शक्कर, इंसानियत से रहित इंसान, सुगंधि से रहित पुष्प व्यर्थ ही होते हैं, उसी प्रकार साधुता से रहित साधु भेष सार्थक नहीं है।

★ यदि सर्प विष को न छोड़े, केवल कांचली छोड़े तो क्या वह निर्विष कहलायेगा, उसी प्रकार इन्द्रिय विषय वासनाओ का त्याग किये बिना साधुता नहीं आती।

★ आज आवश्यकता साधुओ की वृद्धि करने की नहीं है, अपितु साधुता की स्थिति सुधारने की है।

★ साधु और साधुता एक दूसरे के अविनाभावी हैं। साधु के बिना साधुता और साधुता के बिना साधु नहीं हो सकता।

★ साधुता का ग्राहक साधुओं की विनय, भक्ति, आदर-सत्कार, सेवा व पूजार्चना किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि गुणों की पूजा में गुणी की पूजा होती है।

★ साधुओ का निन्दक साधुता का ही निन्दक है, जहाँ साधुओं का अपमान किया जाता है, वहाँ साधुता, धर्म, सुख, शांति, कर्त्तव्यपालन इत्यादि गुण भी पलायन कर जाते है।

★ साधु का सम्मान ही मंगल, कल्याण, सुख, शांति का सम्मान है एवं साधु का अपमान ही मंगल, सुख, धर्म, कल्याण, कुशल, क्षेम संयमादि का अपमान है।

★ जहाँ साधुता के प्रति श्रद्धा, भक्ति, समर्पण, विनयाचार का पालन नहीं होता, वहाँ अशांति, कलह, क्रूरता संक्लेशता का वास रहता है।

★ जब तक साधुता जीवित है, तब तक धर्म का लोप नहीं होता तथा जब तक धर्म है, तब तक सुख शांति जीवन के धरातल पर क्रीड़ा करती रहेगी।

★ निर्ग्रंथ दिगम्बर संत—मंगल, उत्तम व शरण रूप है।

★ सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र व सम्यक् तप रूपी धर्म का नाम ही साधुता है।

★ साधुता शास्त्रों में नहीं दिगम्बर संतों में पाई जाती है, शास्त्रों में तो साधुओं के स्वरूप का वर्णन होता है।

★ साधुता की पूजा करने वाला किसी एक साधु का नहीं प्रत्येक साधु का उपासक होता है।

★ चन्द्रमा की चाँदनी, सूर्य का प्रकाश, नदियों का जल, पुष्पों की सुगन्धि, वृक्षों के फल, भूमि व आकाश प्राणी मात्र के लिए हितकर हैं, उसी प्रकार साधुता से युक्त साधु सभी के हितकारी होते हैं।

भिक्खं वक्कं हियय सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
ऐसो सुदिट्ठ साहू भणिओ जिण सासणे भयवं॥

अर्थ— जो साधु भिक्षा, वचन व हृदय का शोधन करके नित्य आचरण करता है, ऐसा दिगम्बर साधु जिनेन्द्र भगवान के शासन में भगवान कहा गया है।

आगम चक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्व भूदाणि।
देवाय ओहि चक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ आ. कुन्द-कुन्द जी

अर्थ— साधुओं के चक्षु जिनागम हैं, समस्त जीवों को इन्द्रिय चक्षु हैं, देवों के लिए अवधि दर्शन चक्षु हैं, सिद्ध परमेष्ठियों के सर्व आत्मा के प्रदेश ही चक्षु हैं।

(115) सहयोगी

★ सहयोगी का अर्थ होता है—सहायक। जो मुख्य व्यक्ति की साधना में या मंजिल प्राप्ति में सहायक होता है, उसे सहयोगी कहते हैं।

★ जिस प्रधान पुरुष के सहयोगी विश्वासी एवं समर्पित हैं तो वह लग्नशील, संयमी, धीर-वीर-साहसी पुरुष अपनी मंजिल को पाने मे समर्थ हो जाता है।

★ बिना सहयोगी के सांसारिक या पारमार्थिक मार्ग में सफलता पाना अत्यन्त दुर्लभ है। कोई व्यक्ति चाहे छोटा हो या बड़ा, बिना सहयोगी के सफल नहीं होता।

★ बिना मंत्रियों के किसी राज्य का संचालन करना उसी प्रकार कठिन है, जिस प्रकार बिना समर्पित शिष्यों के संघ का संचालन करना।

★ सूर्य भले ही प्रखर तेज वाला है, किन्तु बिना किरणो के वह भूमण्डल पर अपना प्रकाश नहीं फैला सकता और न ही चन्द्रमा अपना शीतलोद्योत बिना किरणो के फैला सकता है।

★ जो अपने इष्ट का विरोधी हो अथवा इष्ट के कार्यों के प्रति माध्यस्थ हो, तो क्या उसे सहयोगी कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते। सहयोगी तो प्राणपन से सहयोग करता है। विरोध तो क्या? वह तो किसी के विरोध को भी सहन नहीं करता।

★ प्रत्येक कार्य में कोई न कोई सहयोगी अवश्य होता है, चाहे वह नींव के प्रस्तर की तरह मूक साधक हो अथवा सामने दिखने वाले स्तम्भ की तरह प्रत्यक्षदर्शी हो।

★ आज उनसे सावधान रहने की नितांत आवश्यकता है जो सहयोगी का लिबास ओढ़कर अपने इष्ट का विरोध करते हैं। वे सहयोगी नहीं; अपितु विश्वासघाती हैं।

★ सहयोगी बनकर विश्वासघात करने वाले से वह व्यक्ति लाख गुना अच्छा है जो प्रत्यक्ष में सामने खड़े होकर विरोध करता है, क्योंकि वह पिट्ठमांस भोजी तो नहीं (पीठ पीछे निंदा नहीं करता) है।

★ यदि यथार्थ साधक या सत्यराही के सहयोगी बनने का आपको मौका मिले तो उसे कभी हाथ से नहीं खोना। यही आपकी बुद्धिमानी है।

★ यथार्थ साधक की साधना में आप तन, मन, धन, वचन या जीवन देकर भी यदि सहयोगी बन सकते हों तो भी सहयोगी बनना चाहिए, जिससे आपका तन, मन, धन, वचन, जीवन सार्थक हो जाए।

★ जीवन में एक बात अवश्य ध्यान रखना कि कभी भी असत्य मार्गी का सहयोग व सत्य मार्गी का विरोध नहीं करना।

★ जो जिसका सहयोगी है, उसे उस साधक / पथिक / कार्यकर्ता के पुण्य या पाप का 1/6 भाग अवश्य मिलता है।

★ जो किसी का सहयोग पाना चाहते हैं, उन्हें भी किसी का सहयोग करना चाहिए। दूसरों के असत्यार्थ का विरोधी जो कि अपने सत्य के प्रमाण उपस्थित नहीं कर सकता तब उसके सहयोगी मिलना दुर्लभ है।

★ किसी से जबरदस्ती कार्य करवा लेना वास्तव में वह कार्य करने वाला सहयोगी नहीं है। सहयोगी तो स्वेच्छा से सहयोग करता है।

★ छोटे व्यक्ति ही बड़ों के सहयोगी नहीं होते, अपितु बड़े भी छोटों के सहयोगी होते हैं किन्तु कभी-कभी हम उनके सहयोग को जान या मान नहीं पाते।

★ सहयोगी बनना है तो उसके बनो जो सत्य के साथ संघर्ष कर रहा है, तथा जिसे आपके सहयोग की नितांत आवश्यकता भी है।

★ यदि हम सत्य के सहयोगी नहीं बन सकते, तो कोई बात नहीं, कम से कम विरोधी तो न बनें।

★ यदि हमारे अंदर असत्य का विरोध करने की सामर्थ्य नहीं है, तो कम से कम सहयोगी व पोषक तो न बनें।

(116) शिष्य

★ शिष्यता, शिष्टता, विनयाचार, सदाचारयुक्त व समर्पित जीव ही शिष्य हो सकता है। शिष्यता से रहित जीव का कोई अस्तित्व नहीं है।

★ जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो, पंचपरमेष्ठी भगवान का परमभक्त हो, धर्मानुरक्त हो, विनम्र हो, सहनशील हो, बुद्धि सम्पन्न हो, वही शिष्य संज्ञा को सार्थक कर सकता है।

★ संसार में जो भी गुरु हैं वे सभी पहले शिष्य थे। बिना शिष्य बने गुरु की उत्पत्ति नहीं होती।

★ शिष्यत्व का अर्थ है—बीज का भूमि में समर्पित व अंकुरित होना तथा गुरु का अर्थ है—बीज का वृक्ष रूप बन जाना।

★ जिस प्रकार बिना कारण के कार्य नहीं होता, उसी प्रकार बिना शिष्यत्व के कोई गुरुत्व को प्राप्त नहीं होता।

★ आज का हर व्यक्ति गुरु बनना चाहता है, किन्तु गुरुत्व को धारण नहीं करना चाहता क्योंकि बिना शिष्यत्व के वह गुरूत्व प्राप्त नहीं होता।

★ एक अच्छे आदर्शमय संत का शिष्य बनना बेहतर है, अपेक्षाकृत मूर्खों, असंयमियों के गुरु बनने से।

★ शिष्यत्व का मार्ग सुख शांति व आनंद का मार्ग है और गुरुत्व का मार्ग संघर्षों का मार्ग है।

★ आज का मानव शिष्य बनकर सुख प्राप्त करना नहीं चाहता और उसमें गुरुत्व के संघर्ष सहने की भी शक्ति नहीं है।

★ आदर्शमय, सुसंयमी, गुरुत्व के सर्व गुणों से युक्त गुरु के सानिध्य में यदि जीवन भर भी शिष्य बनकर रहने का मौका मिले तो ये भी अत्यन्त पुण्य की बात है।

★ समीचीन गुरु को पाकर जो अपना सब कुछ उनके चरणों में समर्पित कर देते हैं, वे ही सच्चे शिष्य कहलाते हैं।

★ आज इस जगत में सच्चे गुरु व सच्चे शिष्य की संख्या अत्यल्प है।

★ कदाचित शिष्यों व गुरुओं की संख्या में वृद्धि हो भी जाए किन्तु प्रतिदिन शिष्यत्व व गुरुत्व का ह्रास ही प्रतीत हो रहा है।

★ आदर्श शिष्य गुरु की अच्छाईयों का ग्राहक होता है, दोषों का ग्रहण करना उसके लिए आवश्यक नहीं।

★ आदर्श शिष्य जहाँ भी रहेगा, वहाँ पर भी गुरु विद्वेषियों में भी गुरु भक्ति का संचार ही करेगा।

★ आदर्श शिष्य गुरु की परछाईं के समान होते हैं।

★ जिस प्रकार माता-पिता के संस्कारों का संतान पर असर होता है, उसी प्रकार गुरु के संस्कार शिष्य में परिलक्षित होते हैं।

★ आदर्श शिष्य गुरु रूपी नैगेटिव की पोजीटिव (फोटो कॉपी) छायाचित्र के समान होते हैं।

★ शिष्यत्व की परिपूर्णता ही गुरुत्व का प्रथम सोपान है।

★ जो शिशु व शिष्य अंकुश में रहते हैं, वे कुसंगति के प्रभाव से बचे रहते हैं, जो निरंकुश या स्वेच्छाचारी होते हैं, वे पतन को प्राप्त हो जाते हैं।

कृतज्ञाः शुचयः प्राज्ञाः कल्या द्रोह विवार्जिताः।
गुरुभिस्त्यकाशाठयाश्च पाठयाः शिष्या विवेकिभिः॥

अर्थ— जो कृतज्ञ हों, पवित्र हों, बुद्धिमान हों, स्वस्थ हों, द्रोह रहित हों, तथा धूर्तता से रहित हों, ऐसे शिष्य विवेकी गुरुओं के द्वारा पढ़ाने के योग्य हैं।

विवेकिनो विनीताश्च गुरुभक्ति परायणाः।
ये शिष्य सद्व्रताचारास्ते पाठयाः पुण्यहेतवे॥

अर्थ— जो विवकी हैं, विनयवान हैं, गुरुभक्ति में तत्पर हैं, और समीचीन व्रतों का आचरण करते हैं, वे शिष्य पुण्य के हेतु पढ़ाने के योग्य हैं।

(117) सहनशीलता

★ सहनशीलता चेतना का ऐसा गुण है, जिसके प्रकट हो जाने से अन्य गुण भी प्रकट हो सकते हैं।

★ साधना साधक का प्राण होता है। सुख दुख, शत्रु-मित्र, हर्ष-विषाद, निंदा-प्रशंसा, स्वामी-सेवक, पूजा-अपमान, सत्कार-तिरस्कार आदि का समता से सहन करना ही साधना है।

★ साधक बनने पर अनुकूलताओं व प्रतिकूलताओं को किसी से कहा नहीं जाता, सहा जाता है और सहते हुए भी समता से रहा जाता है।

★ जो साधक अनुकूलता-प्रतिकूलता, शुभाशुभ परिणामों को सहने में असमर्थ होता है, वह दुखों का अंत करने में भी समर्थ नहीं हो पाता।

★ सहन करना चेतना का शील अर्थात् स्वभाव है। स्वभाव की प्राप्ति करना प्रत्येक चेतना / जीव की नियति है।

★ मैंने उनके प्रतिकूल व्यवहार को, प्रतिकूल वस्तुओं के संयोग को, प्रतिकूल मौसम को, प्रतिकूल शारीरिक अवस्था को, कर्म की प्रतिकूलता को इतना सहन किया है कि और कोई होता तो वह सहन नहीं कर पाता। इन शब्दों को सोचकर भी वह कभी अहं भाव नहीं जगाता।

★ हे आत्मन् ! तुमने अनुकूल-प्रतिकूल व्यवहारों में, इष्टानिष्ट वस्तुओं के संयोग में समभाव रखकर सहन किया है तो तुमने किसी पर अहसान थोड़े ही किया है। तुमने स्वयं उसके माध्यम से पाप कर्मों का संवर व निर्जरा कर सातिशय पुण्य को प्राप्त कर अपने कर्मों / दुःखों को ही तो नष्ट किया है, दूसरों के लिए क्या किया?

★ तुम्हारी सहनशीलता देखकर शत्रु भी मित्र भाव को प्राप्त हो सकता है। उसका क्रोध, मान, माया, लोभ भी प्रशम भाव को प्राप्त हो सकता है।

★ और तो क्या कहें ! सहनशीलता अन्य भव्य जीवों के लिए सम्यक्त्व, संयम व वैराग्य का निमित्त भी बन सकती है। जैसे—यशोधर मुनि की सहनशीलता राजा श्रेणिक के लिए तथा भगवान पार्श्वनाथ की सहनशीलता कमठ के लिए सम्यक्त्व का कारण बनी।

★ सहनशील व्यक्ति धैर्य व विवेकपूर्वक उद्यम करने से अपनी साध्यभूत सिद्धि / आत्मोपलब्धि प्राप्त कर लेते हैं।

★ सहनशील व्यक्ति संसार में पूज्यता को प्राप्त हो जाते हैं एवं असहिष्णु व्यक्ति निंदा व तिरस्कार को प्राप्त करता हुआ लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

★ सहनशील व्यक्ति भी मरण को प्राप्त होता है और असहनशील व्यक्ति भी मरण को प्राप्त होता है। मरण दोनों ही करते हैं। सहनशीलता पूर्वक मरण करना अति उत्तम है क्योंकि सहनशील व्यक्ति ही मृत्यु की मृत्यु करने में समर्थ होता है।

★ असहनशील व्यक्ति के जीवन में दुख आते हैं तो सहनशील व्यक्ति के जीवन में भी पापोदय से दुखों की प्राप्ति होती है। किन्तु सहनशील पुरुष समता से दुखों को सहन कर कर्मों को नष्ट कर देता है, असहनशील पुरुष विषमता के साथ पापो का आश्रव कर लेता है।

★ सहनशील व्यक्ति कभी निंदा, तिरस्कार या पराभव को प्राप्त नहीं होता।

★ समतापूर्वक उपसर्ग व परीषहों को सहन करने वाला व्यक्ति कालान्तर में धर्मध्वंसकों, धर्मात्माओं की निंदा व उपसर्ग करने वालों के द्वारा भी प्रशंसनीय व सम्मानीय अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

★ यदि तुम कुछ विशेष धर्म साधना नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं, बस सहनशीलता के साथ कर्त्तव्यों का पालन करो, यही सबसे बड़ी साधना है।

★ सहनशीलता संयमी साधक की अंतस की चेतना है।

(118) गंभीरता

★ गंभीरता महापुरुषों का गुण है। यह महानता का, पूर्णता का, अनुपमेय का प्रतीक है। इसके बिना महानता स्तुति का विषय तो हो सकती है, जीवंतता का या अनुभूति का नहीं।

★ गंभीरता सागरों में पाई जाती है, नदियों में नहीं। वह गंभीरता सागर में ही सुशोभित भी होती है।

★ नदी कल-कल स्वर करती हुई मानो मन्द-मन्द मुस्कान बिखेरती हुई, संतप्त भव्य जनों को संतुष्ट करती हुई ही मनोहर लगती है; जबकि सागर गंभीर, शांत अपने आप में ही परिणमन करता हुआ ही सुशोभित होता है।

★ सागर में गंभीरता पाई जाती है, इसलिए तो वह नदियों को अवगाहन देने में समर्थ होता है क्योंकि उदारता भी गंभीरता की सहचारिणी है।

★ गंभीर सागर का आश्रय पाकर चंचल वक्र-स्वाभाविनी सरिताएं भी समर्पण के साथ गंभीर हो जाती हैं एवं सागरपने के अनुभव व अस्तित्व से युक्त हो 'सागर' नाम पा जाती हैं।

★ गंभीरता से रहित महानता भी संदिग्ध, अनर्थकारी, स्वपर विघातिनी हो जाती है, प्राज्ञ पुरुष गंभीर पुरुषों का सम्मान करने में कभी नहीं हिचकते।

★ चंचल चित्त व्यक्ति अपनी मंजिल प्राप्त करने में असमर्थ ही होते हैं। सदुद्देश्य की पूर्ति हेतु जीवन में गंभीरता अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

★ चंचलता जीव की विभावावस्था है। विभावावस्था में जीव चिरकाल तक नहीं रह सकता। गंभीरता जीव की स्वाभाविक अवस्था है। स्वभाव में जीव अनंतकाल के लिए लीन हो सकता है।

★ निस्तब्ध जल में ही अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई दे सकता है; उसी प्रकार गंभीर व्यक्ति ही आत्म दृष्टा व ज्ञाता हो सकता है, चंचल चित्त वाला नहीं।

★ चंचल चित्त वाला लोकप्रिय, परआकर्षण का केन्द्र हो सकता है; किन्तु आत्म कल्याण के मार्ग में गतिहीन ही होता है।

★ परपदार्थों के निमित्त से चित्त चंचल हो जाता है एवं स्वद्रव्य का आश्रय लेते ही चंचलता उसी प्रकार भाग जाती है, जिस प्रकार सूर्य को देखकर अंधकार।

★ गंभीरता प्राज्ञ पुरुषों की पहचान, तपस्वियों का लिबास, वैराग्ययुक्त जीवों का सहारा, साधकों की साध्य सिद्धि का अनुपम हेतु है।

★ गंभीरता कहने, सुनने, चर्चा करने का विषय नहीं है, अपितु जीवन में धारण करने के लिए निजी गुण भी है।

★ गंभीरता जब प्रसन्नचित्तता, वात्सल्यता, सद्भावना, उदारता, धैर्यता, विनम्रता, बुद्धिमत्ता, व्यवहार कुशलतादि से युक्त होती है, तब अत्यंत शोभायमान प्रतिभासित होती है।

★ गंभीरता के आनन्द को चंचल चित्त वाले एवं कुटिल परिणामी व्यक्ति वैसे ही नहीं जान सकते, जिस प्रकार बहरा पुरुष स्वर लहरियों का आनन्द नहीं ले सकता।

★ गंभीर व्यक्ति प्रसंगानुसार जब कभी प्रमुदित होता है, या मुखर होता है, तब उसी प्रकार रूचिकर होता है, जैसे—मिष्ठान्न के बीच में नमकीन का सेवन करना।

अभ्रच्छाया खल प्रीतिः सिद्धमंत्रं च योषितः।
कियत्काले च भोग्यानि यौवनानि धनानि च॥

अर्थ— मेघ की माया, दुर्जन की प्रीति, सिद्ध किया हुआ मंत्र, स्त्रियाँ, यौवन और धन् कितने समय तक भोगने योग्य हैं? अर्थात् ये सब नश्वर हैं क्षण भर में विलीन हो जाते हैं।



(119) धैर्यता

★ धैर्यता महानता की निशानी है, जो व्यक्ति धैर्यवान होते हैं, सफलता उनके कदम चूमने के लिए सदैव लालायित रहती है।

★ धैर्यता का अर्थ पुरुषार्थहीन व निरुद्यमी बन कर मात्र भाग्य के भरोसे रहना नहीं है, अपितु सम्यक् पुरुषार्थ करते हुए फल की इंतजार करना है।

★ महान व्यक्ति किसी कार्य को प्रारम्भ करके बीच में ही अधीर नहीं होते। अपितु कार्य की समाप्ति तक निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं।

★ पुरुषार्थ या उद्यम की गतिशीलता से फल जल्दी ही नहीं मिल जाते। बीज बोने के बाद फलोत्पत्ति की इंतजार करना भी अनिवार्य है।

★ धैर्यविहीन प्राणी फल प्राप्ति की आतुरता से सुमधुर फलों को भी शीघ्र तोड़कर खाने का प्रयास करता है, जिससे वे फल कड़वे ही भासित होते हैं।

★ धैर्यता ही सफलता की जननी है। यह वाक्य सर्वथा असत्य भी नहीं है। धैर्य तब तक धारण किये रहो, जब तक सफलता न मिल जाए।

★ क्या धैर्य के माध्यम से छलनी में पानी भरा जा सकता है? हाँ, भरा जा सकता है। तब तक धैर्य धारण करने की आवश्यकता है जब तक कि पानी बर्फ में परिवर्तित न हो जाए।

★ केवली भगवान को सिद्धत्व की प्राप्ति बिना धैर्य धारण किये मात्र पुरुषार्थ के बल से कभी नहीं हो सकती।

★ धीर व्यक्ति का भी संसार में मरण होता है, अधीर व्यक्ति का भी मरण होता है। दोनों के मरण में महान अंतर है। धैर्यवान पुरुष मरकर उत्तम गति को और अधीर व्यक्ति निंद्यगति को प्राप्त होते हैं।

★ धैर्यवान पुरुष के जीवन में पुण्यापुण्य कर्मों का उदय है और अधीर व्यक्ति के जीवन में भी शुभाशुभ कर्मों का उदय है। अन्तर इतना है कि धैर्यवान पुरुष समता धारण करके उन कर्मों की निर्जरा शांत भाव से करता है, जब कि अधीर व्यक्ति अधीरतावश पापों को ही संचित करता है।

★ हे मीत ! धैर्यता उन्नति का सोपान है तो अधीरता अधोगति / पतन की सीढ़ियां हैं। दोनों को जान लो और जो रुचे, उसे ही ग्रहण करो।

★ हे मीत ! विज्ञ पुरुष कहते हैं कि सब्र का फल मीठा होता है और बेसब्री का कड़वा। यदि आप इसे जानते हैं तो फिर सब्र धारण क्यों नहीं करते?

★ जो व्यक्ति धैर्यवान होता है, प्रकृति स्वतः ही उसकी अनुकूलता बना सकती है। जो कार्य उतावलेपन से हमारे लिए अहितकारक हो जाता है वही कार्य धैर्य धारण करने से सुखदायी हो जाता है।

★ धैर्य व धर्म दोनों ही समक्षर से प्रारम्भ होते हैं इसका अर्थ है—दोनों युगल सहोदर हैं। जहाँ पर धैर्य होता है, वहाँ धर्म होता है, तथा जहाँ धर्म है वहाँ धैर्यता भी निवास करती है।

★ अधीर व्यक्ति सत्य का पक्ष लेने में असमर्थ होता है। धैर्यवान सत्य का पक्षधर होता है। वह सत्य की रक्षा के लिए, सत्य की फहराती हुई विजय पताका को देखने के लिए समर्थ होता है।

★ अधीर व्यक्ति दोनों पक्ष की बात सुने बिना ही (अधीर), उत्तेजित हो जाता है, जबकि धैर्यवान धीरता के साथ उभय पक्ष को देखते हुए, सुनकर व समीचीन समीक्षा करते हुए यथार्थ निर्णय को प्राप्त होता है।

★ इतिहास इस बात का साक्षी है कि धैर्यता के कारण ही सती सीता, सनोवती, श्रीपाल, महीपाल, सुकुमाल, सुकौशल, सुदर्शन, पाण्डव, राम, विभीषण, प्रद्युम्न आदि महापुरुष प्रसिद्धि व पूज्यता को प्राप्त हुए।

★ अधीरता के कारण रावण, जरासंध, धवल सेठ, कंस, सुभौम चक्रवर्ती आदि महापुरुष निंदा तिरस्कार को प्राप्त करते हुए अधोगति को प्राप्त हुए और संसार में आज भी कुख्यात हैं।



(120) तरुणाई तिरने के लिए

★ तरुणावस्था जीवन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करके व्यक्ति परम साध्य को सिद्ध कर सकता है।

★ हे भव्य जीव ! यह दुर्लभतम मनुष्य भव, नीरोग शरीर, सत्संगति, धर्म कार्य में बुद्धि रत रहना, यह सब युवावस्था में सुगंधि के समान हैं।

★ हे आत्मन् ! तरुणावस्था तरुणी के साथ रमण करने के लिए नहीं; अपितु तरुणाई तिरने के लिए है। तरुणावस्था को तमाशा नहीं, तीर्थ बनाओ; तभी इसकी सार्थकता है।

★ यौवनावस्था जलबुद्‌बुद, इन्द्रधनुष, गगन विद्युत के समान क्षणिक है। इस नश्वर युवावस्था में प्राणी अविनश्वर आत्मा से साक्षात्कार करने का प्रयास करे, तभी इसकी सार्थकता / महत्ता है।

★ हे युवा मार्तण्ड ! आज आपका जीवन पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका है। इस समय आप जो करना चाहें कर सकते हैं। आगे सूर्य अस्ताचल की ओर ढलने वाला है, तब पौरुष बल थक जाने पर कुछ भी नहीं कर सकोगे।

★ युवावस्था अग्नि तुल्य है। अग्नि से शीत की वेदना को दूर किया जा सकता है, मार्ग के ध्वांत का विध्वंस भी सम्भव है, कंटकाकीर्ण मार्ग के कंटकों को भी जलाकर दूर किया जा सकता है, मंजिल के प्राप्त कराने में भी यह अग्नि दिव्यालोक देने में निमित्त बन सकती है। उसी प्रकार युवावस्था भी मोक्ष मार्ग में आत्म कल्याण के व सुख शांति के मार्ग में लिप्त करने के लिए सर्वोत्तम समय है।

★ अग्नि के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन को भी नष्ट कर सकता है। उसी प्रकार युवावस्था के माध्यम से व्यक्ति सुपथ से भ्रष्ट होकर कुपथ में गमन करने से दुखों के सागर में भी पतित हो सकता है।

★ हे तरुण ! तरुणी के साथ रमण कर भवभ्रमण मत करो अपितु तरुणी को तरिणी (नौका) के समान बनाकर तारण-तरण बनो और शिवरमा का वरण व आत्म-रमण करो।

★ तरुणाई वारुणी के समान मदहोशी पैदा करने वाली है। जो जीव तरुणाई में बेहोश होकर जोश का दुरुपयोग कर रहे हैं यदि उन्हें सद्‌गुरु के वचन रूपी मीठा मिल जाए तो वह नशा उतर सकता है।

★ हे युवा पुरुष ! असंभव शब्द मूर्खों के ही शब्दकोश में मिलता है। बुद्धिमान युवा पुरुष हर असंभव कार्य को संभव करके दिखाता है।

★ हे युवा पुरुष ! तुम अपनी प्रज्ञा के द्वारा निज स्वभाव की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील क्यों नहीं होते ? सोचो ! यह अवस्था सदा नहीं रहेगी, पीतल या तांबे के बर्तन पर स्वर्ण पालिश के समान यह युवावस्था है जो शाश्वत नहीं है।

★ जो युवावस्था में होश खोकर जोश में कार्य करते हैं वे वृद्धावस्था में सिर धुन-धुन कर, व छाती पीट-पीट कर रोते हैं। अतः तुम ऐसा काम मत करो, जिससे तुम्हें पछताना पड़े।

★ युवावस्था पूर्ण विकसित पुष्प के समान है। इस पुष्प को परमात्मा के चरणों में समर्पित कर दो, अन्यथा यह पुष्प व्यर्थ ही मुरझा जाएगा।

★ जो धर्म ध्यान, संयम साधना, जिनाराधना, धर्म प्रभावना, मानव सेवा एवं समाज हित में अग्रणी हैं, वे ही वास्तव में युवा हैं, अन्यथा तो वृद्धों से भी बदतर हैं।

★ जिस व्यक्ति ने अपनी युवावस्था में ही—तृष्णा, विषय-वासना, ईर्ष्या, मात्सर्य भाव, मूर्च्छा भाव एवं मोह के बन्धनों को नष्ट कर दिया, उसी की युवावस्था सार्थक है।

(121) वृद्धावस्था

★ जो पान के पत्ते पीले पड़ चुके हैं, उन पर कितना भी पानी डालो वे हरे नहीं होंगे। पानी डालने से तो सड़ जाएंगे।

★ वृद्धावस्था एक ऐसी ओडियो कैसेट है, जिसको आपने जीवन भर के क्रिया-कलापों, आलापों, आचार-विचारों से भर लिया है। अब तो मात्र सुनना बाकी रह गया है।

★ वृद्धावस्था एक ऐसी डायरी है जिसमें जितना लिखा जा सकता था उतना लिख लिया है। अब आगे कुछ नहीं लिखा जा सकता। अब मात्र पढ़ना शेष है। आपने जो लिखा, वह आपके सामने है।

★ वृद्धावस्था के लिए नीतिकारों ने अर्द्धमृतकसम कहा है। क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, कुछ करने की भावना को भावों का रूप नहीं दिया जा सकता।

★ वृद्धावस्था उस हारे हुए व्यक्ति के समान है, जिसने मंजिल के निकट पहुँचने पर दम तोड़ दिया है अथवा प्रथम सीढ़ी के सामने बैठकर रोने वाले की तरह बेसुध पडा है।

★ वृद्धावस्था में प्रतिकूलताओं को न तो सहन ही कर पाते हैं और न किसी से कह सकते हैं। अब तो बस मन मसोस कर रह जाते हैं।

★ वृद्धावस्था पके हुए फल के समान है। उसे और समय तक रखने का आशय है—उसे सड़ा देना, अत: वृद्ध पुरुषों को विषयों में आसक्ति नहीं करनी चाहिए।

★ वृद्ध पुरुषों का व्यवहार बालकों की तरह होता है। वे क्षण में रुष्ट, क्षण में तुष्ट, क्षण भर में रागी और क्षण भर में वैरागी दिखायी देते हैं।

★ जैसे-जैसे आयु घटती जाती है, पुरुषों में तृष्णा वृद्धिगत होती जाती है। शरीर के क्षीण होने पर भी मोह-अज्ञान-आसक्ति क्षीण क्यों नहीं होती, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

★ शरीर की शक्ति का क्षीण हो जाना, बाल सफेद हो जाना, इन्द्रियों का शिथिल हो जाना वृद्धत्व का लक्षण नहीं; अपितु श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र की वृद्धि होना ही वृद्धत्व की निशानी है।

★ जिस समाज में रत्नत्रय से युक्त महापुरुषों का सम्मान नहीं होता, वह समाज पतन की ओर उन्मुख होता दिखाई देता है।

★ वृद्ध पुरुषों का अपमान करने वाला कृतघ्नी है, क्योंकि उसने मूल को उखाड़ने का दुःसाहस किया है। मूल से रहित वृक्ष, वृद्ध पुरुषों से रहित समाज व्यर्थ है।

★ वृद्ध पुरुष समाज की एकनिधि है, सन्मार्ग दर्शायक हैं, भारतीय संस्कृति के सुदृढ़ आधार स्तम्भ हैं।

★ किसी देश-राष्ट्र-समाज की संस्कृति, धर्म या आध्यात्मिकता की उन्नति और विकास तब तक असंभव है जब तक कि वृद्ध पुरुषों का आदर-सत्कार व उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा न की जाए।

★ वृद्ध पुरुष एक ऐसे खिलाड़ी हैं, जिन्होंने अनेकों प्रतियोगिताओं में हार-जीत के उपरान्त अमूल्य अनुभव हासिल किये हैं।

★ यदि तुम संघर्षों से डरते हो और जीवन के अनुभवों व सफलताओं को पाने की अभीप्सा है तो वृद्ध पुरुषों की संगति करो तथा उनके निर्देशन में ही चलो।

★ वृद्ध पुरुष के चेहरे पर पड़ी एक-एक झुर्री में लाखों महत्त्वपूर्ण अनुभव हैं, तुम उनकी सेवा करके उन्हें प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

★ वृद्ध पुरुष (जिसने जिन्दगी भर संघर्षों का सामना करके सफलता पाई है) की सेवा से प्राप्त अनुभव हजारों शास्त्रों के ज्ञान से बढ़कर है।

(122) स्वार्थपरता

★ स्वार्थपरता एक ऐसा अंधकार है, जिसके आते ही दिव्य गुणों का प्रकाश नष्ट हो जाता है।

★ जिनके नेत्रों पर स्वार्थपरता की पट्टी बंधी है, वे प्राणी जीवन में किसी का निस्स्वार्थ उपकार नहीं कर सकते।

★ स्वार्थपरता में लीन व्यक्ति हित-अहित, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित सब कुछ भूल जाता है तथा स्वार्थसिद्धि हेतु स्वेच्छाचारी हो जाता है।

★ स्वार्थपरता के अन्धकार से व्याप्त नेत्रों वाला व्यक्ति सज्जनो की सज्जनता, धर्मात्माओं की धार्मिकता, बुधजनों का ज्ञान व संयमी पुरुषों की साधना में भी दोष देखता है।

★ स्वार्थपरता में लिप्त व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, विश्वासघात जैसी जघन्यतम पाप क्रिया करने में भी नहीं चूकता।

★ निर्मल स्नेह में मलिनता, सहजोपलब्ध गुणों का संघात एवं परोपकार को विश्वासघात में बदलने का हेतु स्वार्थपरता ही हो सकती है।

★ दो मित्रों का प्रेम, समाज में प्राप्त बहुमान / इज्जत / प्रतिष्ठा व धार्मिकता का लोप अंदर में स्वार्थपरता की अग्नि जलते ही हो जाता है।

★ स्वार्थ का अर्थ है—स्व + अर्थ = धन प्राप्त करना ही जिनके जीवन का उद्देश्य है, चाहे वह कैसे भी मिले न्याय से या अन्याय से, धर्म से या पापाचरण से, ईमानदारी से या बेइमानी से, सत्यवादिता से या मिथ्या भाषण से।

★ स्वार्थ का दूसरा अर्थ है—निज कल्याणार्थी। अर्थात् अपनी आत्मा के कल्याण करने का प्रयोजन बनाये रखने वाला महापुरुष।

★ स्वार्थी का अर्थ आत्मार्थी भी होता है किन्तु स्वार्थी का रुढ़ि अर्थ कल्याणी नहीं अपितु धनादि के प्रयोजन को सिद्ध करना है।

(123) प्रेम

★ प्राणी मात्र के प्रति किया गया निश्छल व निर्मल प्रेम ही आनंद का हेतु है।

★ जिस प्रेम में तन से तन को स्पर्श करने की प्रवृत्ति रूप कामना जीवित है, वह प्रेम-प्रेम नहीं वासना है।

★ प्रेम दो निर्मल, निश्छल, समर्पित हृदयो को जोड़ने की कड़ी है।

★ जो प्रेम किसी चेतना से उद्‌भूत होकर शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के लिए तड़फता है, वही परम प्रेम भक्ति संज्ञा को प्राप्त हो जाता है।

★ प्रेम के लिए शास्त्राध्ययन या किसी कला-विद्यादि की निपुणता की नहीं अपितु एक स्वच्छ, निश्छल व समर्पित हृदय की आवश्यकता है।

★ अपने इष्ट के प्रति प्रेम करने के लिए आशा, भाषा, परिभाषा की नहीं अपितु निःस्वार्थ, बेशर्ते समर्पण की आवश्यकता होती है।

★ मोही प्राणी अपने तन के प्रति समर्पित हो कर अमूल्य मनुष्य भव को उसी प्रकार व्यर्थ गंवा देता है जैसे—राख के लिए रत्न जलाने वाला, पैर धोने या विष वृक्ष-सींचने हेतु अमृत बहाने वाला व्यक्ति।

★ पञ्चेन्द्रिय के भोगों से प्रेम करने वाला / आसक्तवान व्यक्ति अपना सर्वस्व अपने ही हाथों से नष्ट कर देता है। अंत में सिर धुन-धुन कर पश्चात्ताप करता है।

★ प्रेम, प्रीति, प्रेमी अभिन्न, अखण्ड (एक ही द्रव्य) हो, वहीं परमावस्था के आनंद का अनुभव किया जा सकता है।

★ हार्दिक प्रेम किसी हाट-बाजार में नहीं बिकता और न ही भीख, वसीयत, भेंट, उपहार या दबाव से छीन कर ही मिलता है। प्रेम को प्राप्त करने के लिए सरल व सहज हृदय बनाने की आवश्यकता है।

★ प्रेम का बीजारोपण निर्मल ह्रदय व चेतना में होता है कषायों के पाषाण खण्डों से आवृत पर्वतों पर नहीं।

★ संसार की सभी भाषाओं का क्षेत्र सीमित है, किन्तु प्रेम की भाषा असीमित है। प्रेम की भाषा को बाल, वृद्ध, युवा, पशु, देव, नारकी सभी जानते व समझते हैं।

★ निःस्वार्थ मूक प्रेम शत्रु को भी मित्र बनाने की अनुपम कला है। प्रेम से बढ़कर संसार में मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने वाला कोई साधन नहीं है।

★ जिसके मन में वासना भरी है,निर्मल ह्रदय व निश्छलचर्या से प्राणी मात्र के प्रति उद्‌गमित वात्सल्य को भी वासना की दृष्टि से देखता है।

★ निर्मल वात्सल्य, निस्वार्थ स्नेह, बेशर्ते का समर्पण, निश्कांक्षभक्ति, निश्छल प्रेम-विनय आज के युग में कठिन है, किन्तु फिर भी असम्भव तो नहीं है।

★ श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, समर्पण व वात्सल्यादि भाव पुरुषों की अपेक्षा नारियों में ज्यादा पाया जाता है। क्योंकि नारी जीवन में ह्रदय की व पुरुष जीवन में बुद्धि की प्रधानता है।

★ नारी अपने जीवन में बहुत बड़े-बड़े त्याग कर सकती है, जिसके प्रति समर्पित है, उसके लिए अपने प्राण भी निछावर कर सकती है, किन्तु वह अपने इष्ट के प्रेम का बंटवारा सहन नहीं कर पाती।

★ प्रेम भाव और पूज्य भाव दोनों अलग-अलग अर्थों के प्रतिपादक हैं— प्रेम भाव में संकीर्णता होती है, जिसके प्रति प्रेम है वह केवल मेरा ही रहे, मेरे अन्दर रहे, कोई बाहर देख भी न सके, जबकि पूज्यता के भाव में यह भाव होता है कि यह जन-जन का पूज्य बने। इनके चरणों में सभी का, प्राणी मात्र का समर्पण हो, ये सबके बनें।

(124) सद् विचार

★ समीचीन विचारों का नाम ही सद् विचार है। सद् विचार ही सदाचार के जनक हैं।

★ सद् विचारों का जन्म सात्विक आहार करने वाले मानव के मन में ही संभव है। जो अभक्ष्य भक्षी हैं, विवेक शून्य हैं, वे सद् विचारों को जन्म नहीं दे सकते।

★ सद् विचार ही धर्म्य ध्यान का आधार है; क्योंकि सद् विचार ही तत्व बोध, सम्यक्त्व एवं सत् की अनुभूति के प्रेरक होते हैं।

★ निरन्तर विचार ही विचार करने वाला व्यक्ति यदि आचरण से हीन है तो उसके विचार बन्ध्या के श्रृंगार सम व्यर्थ हैं।

★ सद् विचारों का जन्म यदि स्वयं की हृदयस्थली / मनोभूमि से हुआ है तो वे सद् विचार अनन्तर सदानुभूति के कारण हो सकते हैं।

★ यदि विचारों को तुमने दूसरे से चुरा लिया है और तीसरे को बांट रहे हो तो तुम्हारी अवस्था चम्मच के समान है, जो भगोनी की दाल सब्जी को कटोरियों व थाली में परोस देती है और स्वयं ज्यों की त्यों रह जाती है।

★ बिना विचारे कार्य करने वाला व्यक्ति कालान्तर में श्रेणिक की तरह पछताता है और अति विचार करने वाला व्यक्ति भामण्डल की तरह पश्चात्ताप करता है।

★ आचरण से रहित सद् विचार, श्रृंगार युक्त युवा-मुर्दे के समान या गंध रहित अत्यन्त सुन्दर पुष्प के समान हैं, जो उपयोग रहित / व्यर्थ है।

★ सद् विचारों को अपनी अनुभूति की कसौटी पर कस कर के परख लो, तभी वह सन्मार्ग में प्रेरणादायी या जीवंत हो सकते हैं।

★ विचारों पर विचारों का बोझ मत लादो, अन्यथा बेचारे वैसे ही मर जाएंगे। अर्थात् जितना विचारो उतना करो भी।

★ जिस प्रकार सौ आम गिनने से अच्छा एक आम खाना है, उसी प्रकार अति विचार करने की अपेक्षा सम्यगनुभूति करना अत्यन्त शुभ है।

★ विचार उधार लिया धन है जो कि आज आपके हाथ है। सदुपयोग करके उस धन की वृद्धि कर लो, अन्यथा कल ब्याज सहित चुकाना पड़ेगा।

★ किसी ग्राम, नगर, देश, राष्ट्र की उन्नति सम्पन्नता व सुख-शांति का ज्ञान उस देश के वासियों के सद् विचारों से किया जा सकता है।

★ जो सदैव अपने मन में सद् विचारों को ही जन्म देता है वह मानव इस वसुंधरा पर इंसान के रूप में भगवान है।

★ यदि तुम्हें किसी का उपकार करना है, तो उसके मन को सद् विचारों के योग्य उपजाऊ बना दो तथा मन में सद् विचारों के ऐसे बीज बो दो जो जीवन पर पुष्पित होकर सुगन्ध बिखराते रहें।

★ यदि तुमने इन सद् विचारों को जीवन में उतारने का संकल्प ले लिया है, तो वास्तव में तुमने ही इस शास्त्र का सही मूल्य आंका है व चुकाया है।

★ यदि मेरे इन सद् विचारों की परिपाटी / श्रृंखला से आप के असद् विचार अन्तर्मुहूर्त के लिए भी रुक गये, और उनके स्थान पर सद् विचारों का प्रादुर्भाव हो गया है तो मेरे विचारों की सार्थकता को आप जान सकते हो।

★ 'जीवन में सद् विचारों का क्या महत्व है'? इस बात को आप तभी जान सकते हो जब कि आपकी चेतना / मन में पर्वत से गिरती हुई तीव्र वेग वाली बाढ़ युक्त नदी के समान सद् विचारों का उद्गम होगा।

★ असद् विचारों से बचने के लिए / नष्ट करने के लिए अपने मन में सद् विचारों रूपी बीज को अंकुरित करो; अंकुरित सद् विचार रूपी पौधों को बार-बार निहारते रहो, देखभाल करो। उन सद् विचारों पर सद् विचारों की कोंपलें, पत्ते, उपशाखा-शाखा प्रस्फुटित होंगी एवं असद् विचारों की घास स्वतः सूख जाएगी।

(125) वैराग्य

★ वैराग्य सम्यग्ज्ञान का फल है। बिना सम्यग्ज्ञान के समीचीन वैराग्य भी फलित नहीं होता।

★ संसार-शरीर-भोगों से उनके स्वरूप को जानकर विरक्त हो जाना ही वैराग्य का समीचीन होना है।

★ वर्तमान में अधिकांश मानवों को वैराग्य से ही वैराग्य हो गया है। अर्थात् धर्म ध्यान / चारित्र / संयम / वैराग्य से ही विरक्ति हो गयी है।

★ निजात्मा या स्वकीय गुणों के प्रति अनुराग हुए बिना पर पदार्थों से वैराग्य नहीं हो पाता। अतः अपने आपको ही जानना वैराग्य का मूल है।

★ पंचपरमेष्ठियों के प्रति, उनके पुनीत गुणों में प्रशस्तानुराग से युक्त होकर, गुणप्राप्ति की भावना से पुलकित व्यक्ति ही वैराग्य को प्राप्त हो सकता है।

★ वैराग्य भाव ही वीतरागता का जनक है। जैसे बहिरंग परिग्रह त्यागे बिना अतरंग परिग्रह त्याग असंभव है, वैसे ही वैराग्य बिना वीतरागता असंभव है।

★ संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति निर्मल भाव / राग का होना भी वैराग्य का प्रतीक है। एक प्राणी के प्रति अथवा एक वस्तु के प्रति राग-राग ही कहलाता है; जो कि भववर्धक है।

★ शुद्ध चेतना के गुणों के प्रति राग करने वाला व्यक्ति एक व्यक्ति के प्रति नहीं अपितु अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठियों के प्रति तथा शक्ति की अपेक्षा से सिद्ध परमेष्ठी अर्थात् प्राणी मात्र पर राग रखता है। यह राग--राग नहीं : वैराग्य है।

★ पंच परमेष्ठी, निजात्मा अथवा आत्मगुण के प्रति राग नियम से मोक्ष का कारण है। यह राग-राग को तोड़ने वाला है। कांटे से कांटा निकलता है, प्रशस्त राग से अप्रशस्त राग को जीता जा सकता है।

★ वैराग्य एक ऐसा असीम बल है, जिसके सामने संसार के सभी बल नतमस्तक हो जाते हैं। वह वैराग्य सत्य के सिवाय किसी के सामने नहीं झुकता।

★ राज-समाज, कुटुम्ब परिवार, धन-वैभव, मित्र-बंधु बांधव, कनक-कामिनी, विषय-वासना, देह-गेह से जो विरक्त हो गया; वही सच्चा वैरागी है।

★ संसार के प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई रस अवश्य विद्यमान रहता है। जो संसार के रसों में आसक्त है, वह निजात्म रस का अनुभव नहीं कर सकता।

★ राग-द्वेष की क्षीणता ही वैराग की पोषक संजीवनी बूटी के समान है।

★ जिसे वैराग्य मे रस आने लगा है, उसके लिए संसार के सभी रस, बेरस हैं। किन्तु वे दुर्भाग्यशाली ही हैं, जिन्हें वह रस नसीब नहीं होता।

★ पर पदार्थों से वैराग्य ही धर्ममय जीवन की आधारशिला है। इसके बिना जीवन मात्र लिबास है अथवा चेतना रहित पुतला है।

★ संसारी प्राणी नये-नये पदार्थों को जीवन भर भोगता है, यदि उन्हीं पदार्थों को बार-बार भोगते रहे तो उनसे विरक्ति हो जाती है।

★ 'हे भव्य जीव ! तू सागरों पर्यन्तों तक प्राप्त होने वाले देवगति के भोगों से तृप्त नहीं हुआ, तो क्या इन चंद भोगविलासों से सन्तुष्ट हो जाएगा?

★ विषय भोगों को भोगना अग्नि में घी डालने के समान है। जिस प्रकार अग्नि घी डालने पर भी शांत नहीं होती; उसी प्रकार विषय भोगों से भी तृप्ति नहीं हो पाती। विषय वासनाओं से वैराग्य ही कल्याण का बीज है।

(126) इष्ट प्रार्थना

★ द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म से रहित लोकाग्र में स्थित नित्य निरंजन अनन्त गुणों के पिण्ड स्वरूप समस्त सिद्ध परमेष्ठियों को मैं सिरसा नमस्कार करता हूँ।

★ जिन्होंने संसार रूपी वृक्ष के कारणभूत समस्त-कर्मों को जला दिया है एवं अपनी अनन्त शक्तियों को प्रकट कर लिया है; उन सिद्ध परमेष्ठियों के चरणों में मेरा अन्तश: नमस्कार हो।

★ जिन्होंने अपने स्वकीय स्वभावमय समस्त निजी वैभव को पूर्ण रूपेण प्राप्त कर लिया, जो समस्त विभाव भावों से विलग हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मेरे हृदय पुष्कर में विराजमान रहें।

★ जिन्होंने मोहनीय कर्म रूपी महासुभट को जीतकर, संसार के पार निवास करने वाली मुक्ति रूपी अनंग सुन्दरी से विवाह रचाने हेतु दृढ़ संकल्प कर लिया है, वे जिनेन्द्र भगवान सदा जयवंत रहें।

★ जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय कर्म से रहित एवं अनन्त चतुष्टय से सहित हैं, ऐसे वे अर्हंत भगवान सदैव हमारे मन मंदिर में निवास करें।

★ जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी हैं, जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, अंतरंग व बहिरंग समस्त लक्ष्मी सहित हैं। उन समस्त तीर्थंकर अरिहंत परमेष्ठियों को मन-वच-काय की शुद्धि पूर्वक अंतरंग की समग्र श्रद्धा भक्ति पूर्वक समर्पण के साथ मैं सदैव नमस्कार करता हूँ।

★ जिनके निर्मल ज्ञान में लोकाकाश में व्याप्त सभी चराचर पदार्थ दर्पण के समान युगपद् प्रतिबिम्बित होते हैं, झलकते हैं, जो संसार के सभी मंगलों में आदि मंगल हैं, उन वीतरागी सर्वज्ञ-हितोपदेशी परमात्मा को मैं अनन्त बार प्रणाम करता हूँ।

★ जो मुनि स्वयं पंचाचार के पालन करने में एवं अपने शिष्य समुदाय से पालन कराने में संलग्न हैं, योग्य शिष्यों के संग्रह एवं अयोग्य शिष्यों के निग्रह करने में कुशल हैं, उन आचार्य परमेष्ठियों को मैं त्रययोग से नमस्कार करता हूँ।

★ जो बारह प्रकार के तपों से युक्त हैं, धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में अनवरत क्रियाशील, उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत का निरतिचार पालन करते हैं; उन आचार्य परमेष्ठियों के पवित्र चरणयुग्म में मैं प्रणाम करता हूँ।

★ जो मुनि उत्तम क्षमादि दश धर्मों से संयुक्त हैं, संघ के नायक हैं, शिष्यों को दीक्षा एवं प्रायश्चित देकर स्व-पर के चित्त की शुद्धि करते हैं, जो करण एवं चरण में सब मुनियों से श्रेष्ठ हैं वे अलौकिक वृत्ति के धारक आचार्य परमेष्ठी हमारे आचरण के निर्मल बनाने में कारण हैं; उन्हें मैं सदैव नमस्कार करता हूँ।

★ जो मुनि जीवों के सन्मार्ग के दर्शायक हैं, यतियों के शिरोमणि हैं, ख्याति-लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, नाम की चाह से सर्वथा अलिप्त हैं वे श्रमण शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी हमारी रक्षा करें।

★ जो यति स्वयं अनुशासन का पालन करते हुए अन्य मुनियों को भी अनुशासित करते हैं, जो सर्वोत्कृष्ट चर्या के धारक, शिथिलाचार के विरोधी, अनियत विहारी, दीर्घकाल तक एक स्थान पर निवास न करने वाले यतिवर आचार्य देव हमारे आचरण की शुद्धि में कारण बनें।

★ ज्ञान के अथाह समुद्र में अवगाहन करने वाले, भेदाभेद रत्नत्रय से युक्त, निस्पृहता की मूर्ति, ज्ञानामृत की वर्षा से भव्य जीवों को संताप रहित

करने वाले पूज्य उपाध्याय परमेष्ठियों की मैं सदैव विमलता व विनम्रता पूर्वक वंदना करता हूँ।

★ जो मुनि स्वयं पढ़ते हैं एवं मुनिजन समुदाय को भी सद्ज्ञान की शिक्षा देने में तत्पर हैं, वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी उपाध्याय परमेष्ठी संसार में व्याप्त अज्ञान तिमिर को नष्ट करते हुए मेरे हृदय में भी ज्ञान का उद्योत करें।

★ जो साधक विषय-कषाय, आरम्भ-परिग्रह से विमुख हैं, ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन रहते हैं, जो प्राय: शुभोपयोग व शुद्धोपयोग में तल्लीन हैं, उन साधु परमेष्ठियों को सदैव नमस्कार करता हूँ।

★ जिनकी सांसारिक इच्छाएं मर चुकी हैं, जो सदैव शिव प्राप्ति की मंगल भावना से, साधना से द्रवीभूत रहते हैं : वे निर्ग्रन्थ तपोधन मेरे नयन पथ गामी बनें।

★ जो यति पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति से युक्त, धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में सदैव निमग्न रहते हैं; वे साधु परमेष्ठी मुझे भवोदधि से पार करने में हेतु बनें।

★ जो आत्मा के समीचीन गुणों के पोषण करने में संलग्न हैं, जिन्होंने पाँचों इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में कर लिया है, आँखों को बंद करके हाथ पर हाथ रखके, पैर पर पैर रखकर एवं आत्मा के विशुद्ध भावों से मोक्ष मार्ग में दौड़ते हैं, वे साधु-परमेष्ठी मुझे भी मोक्षमार्ग में गतिशील करते रहें।

★ जो निर्ग्रन्थ होकर भी भव्यजीवों को सद्ग्रन्थ देने वाले हैं, भव्यों के चित्त की चोरी करने वाले चित्त-चोर हैं, मुक्ति वधू के अनुरागी हैं, वे साधु परमेष्ठी मेरी सर्व ग्रन्थियों के निवारण में सहायक बनें।

★ जिन्होंने संसार सागर के किनारे को प्राप्त कर लिया है, जिनका प्रत्येक जीवन श्वासोच्छवास के समान स्व-पर के हित में व्यतीत हो रहा है

जो भव्य जीवों के अकारण बन्धु हैं, जिनकी साधना निःस्वार्थ है, वे साधु परमेष्ठी मेरी साधना वृद्धि में कारण बनते हुए भव-हेतुओं से मेरी रक्षा करें।

★ मैं संसार के उन समस्त वीतरागी—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ, जो सदैव धर्म, ध्यान व शुक्ल की साधना करते हुए कर्मों के क्षय करने में संलग्न हैं या समस्त कर्मो को क्षय कर चुके हैं।

★ मैं उस परम पुनीत जिन धर्म को प्रणाम करता हूँ जो अनादि-निधन है, जिसकी साधना से प्रत्येक आत्मा अपना कल्याण कर सकता है। उस धर्म की साधना से मुझे रत्नत्रय के फल की प्राप्ति होवे।

दैवादन्तः स्वरूपं चेद्बहिर्देहस्य किं परैः।
आस्तामनुभवेच्छेयमात्मन्को नाम पश्यति॥

11/52 क्ष.चू.

अर्थ— हे आत्मन्! यदि दैवयोग से शरीर का भीतरी भाग बाहर निकल आए तो इस शरीर को भोगने की इच्छा तो दूर, विवेकी जन इस शरीर को देखना भी पसन्द नहीं करेंगे।

* * *

संतोष लोभ नाशाय, धृतिं च सुख शान्तये।
ज्ञानं सुतपसो वृद्धयै, धारयन्ति दिगम्बराः॥

अर्थ— दिगम्बर साधु लोभ नाश के लिए संतोष को, सुख शांति के लिए धैर्य को उत्तम तप की वृद्धि के लिए ज्ञान को धारण करते हैं।